सुन्दर-दर्शन

सुन्दरदास के युग, दार्शनिक विचार और आध्यात्मिक साधना का संक्षिप्त आलोचनात्मक अध्ययन

●

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित,
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०,
हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

किताब महल इलाहाबाद

प्राक्कथन

संत सुन्दरदास का व्यक्तित्व निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है :

१. आध्यात्मिक साधक

२. धर्म एवं समाज सुधारक

३. कवि

परब्रह्म के प्रति अनुराग का जो बीज सुन्दरदास के हृदय में बाल्यावस्था में ही अंकुरित हुआ था वह आगे चल कर उनके जीवन में पुष्पित एवं पल्लवित होकर विश्व कल्याण का एक साधन बना। संसार से विरक्ति, ब्रह्म से सच्ची अनुरक्ति तथा मानव समाज से सहानुभूति के भावों ने उन्हें आध्यात्मिकता के क्षेत्र में अग्रसर किया। सुन्दरदास अपनी साधना में दृढ़ थे, अतः उनके लक्ष्य की पूर्ति हुई और वे आध्यात्मिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हुए। समाज से बहिष्कृत एवं चिर-उपेक्षित अन्त्यजों के उद्धार के लिए भी सुन्दरदास ने भगीरथ प्रयत्न किये। हिन्दू-मुसलमान, कुलीन-अन्त्यज, उच्च-नीच, सभी उनके जीवन-दर्शन एवं उच्चादर्शों से प्रभावित हुए। सुन्दरदास ने उपदेशात्मक वाणी को काव्य का स्वरूप प्रदान किया था। उनके काव्य की भाषा परिमार्जित तथा भाव-वाहिनी है। कवि की भाषा में खड़ी बोली का जैसा परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है वैसा उनके पूर्ववर्ती अन्य सन्तों के साहित्य में दुर्लभ है। खड़ी बोली के विकास में सुन्दरदास का विशेष योग है। तत्काल मानव समाज के विभिन्न क्षेत्रों—आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों को उन्होंने प्रभावित किया। ऐसे महान् व्यक्ति के जीवन-चरित्र का अध्ययन, उनकी आध्यात्मिक साधना का मनन, दार्शनिक विचारधारा का चिन्तन एवं उसकी साहित्य-सेवा का मूल्यांकन अत्यधिक आवश्यक है। 'सुन्दर-ग्रन्थावली' के सम्पादक पुरोहित श्री हरिनारायण शर्मा बी० ए० विद्याभूषण ने ग्रन्थावली की भूमिका में जीवन-चरित्र एवं काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें सम्पादक ने अपने इस अध्ययन में वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया। पुरानी पंडिताऊ शैली में सुन्दरदास के साहित्य की सराहना मात्र की गई है। जीवन-चरित्र के अध्ययन में भी सम्पादक ने सूत्रों की प्रामाणिकता पर विचार नहीं किया है। संक्षेपतः प्रस्तुत अध्ययन में कवि के प्रति सम्पादक की श्रद्धालु भावना एवं विश्वास के कारण आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव प्रतीत होता है। सुन्दरदास के काव्य की आत्मा उनकी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचार-धारा है। सम्पादक ने इस विषय पर लेशमात्र भी विचार नहीं किया। साथ ही ग्रन्थ में कहीं पर सुन्दरदास की समकालीन धार्मिक,

राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का भी उल्लेख नहीं है। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा के अध्ययन एवं तत्कालीन परिस्थितियों के उल्लेख के अभाव के कारण सम्पादक का कवि विषयक अध्ययन एकांकी एवं अपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस अभाव की पूर्ति का प्रयास हुआ है। यदि विद्वज्जनों का प्रोत्साहन मिला तो दूसरे भाग में कवि के ग्रन्थों, काव्य एवं जीवनी का आलोचनात्मक विवेचन करने का प्रयत्न होगा।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय 'सुन्दरदास का युग' है। सुन्दरदास का जन्म अकबर के राज्यकाल में हुआ और औरंगजेब के राज्यकाल में उन्होंने महायात्रा की थी। कवि ने अपनी आँखों से मुगल साम्राज्य के उत्थान एवं पतन का नाटक देखा था। अकबर के पश्चात् इस देश के मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति क्रमशः संकुचित एवं एकांगी होती गई। इस अध्याय में तत्कालीन देश, समाज, धार्मिक आदि स्थितियों का चित्रण और कवि पर उनका प्रभाव अंकित किया गया है। इस अध्याय में देश की स्थिति का अध्ययन वर्त्तमान इतिहासकारों पर ही नहीं आश्रित है वरन् तत्कालीन लेखकों एवं कवियों —हरिराय, मथुरादास तथा भूषण की रचनाओं के आधार पर भी अध्ययन किया गया है। अंत में ऐतिहासिक विवेचन के साथ कवि पर उसके समय का प्रभाव दिखाया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का यह अध्याय मौलिक है।

ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय 'साधना' है। अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कवि ने आध्यात्मिक साधना के लिए अष्टांगयोग, ब्रह्मयोग, राजयोग, लक्ष्ययोग, मंत्रयोग, अद्वैतयोग, चर्चायोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग पर विचार किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने इन योगों का संस्कृत साहित्य के प्राचीन योग-ग्रन्थों से तुलनात्मक विवेचन करते हुए कवि की मौलिकता को व्यक्त किया है। योग के अत्यन्त दुरूह तथा दुर्बोध विषय को लेखक ने सरल एवं रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। यह अध्याय भी लेखक की स्वतंत्र गवेषणा एवं चिन्तन का फल है।

ग्रन्थ का तृतीय अध्याय 'दार्शनिक विचार' है। इस अध्याय में कवि की ब्रह्म विषयक विचारधारा, नाम, सद्‌गुरु, सोऽहं, शून्य आदि अनेक विषयों का उल्लेख हुआ है। इस अध्याय में लेखक ने कवि के इन दार्शनिक विचारों की सूक्ष्म विवेचना की है। अन्य सन्त कवियों की दार्शनिक विचार-धारा के साथ सुन्दरदास की विचार-धारा का तुलनात्मक अध्ययन इस अध्याय की विशेषता है। यह अध्याय लेखक के गंभीर अध्ययन एवं परिश्रमशील मौलिक खोज के प्रयत्न का फल है।

ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय 'प्रबोधन' है। इसमें चेतावनी, दुष्ट, नारी, तृष्णा आदि विषयों पर कवि के विचारों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में भी

कवि के विचारों का अन्य संतों के विचारों से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। यह अध्याय भी लेखक की मौलिक खोज का प्रतिफल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करते समय लखनऊ विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० दीन दयालु गुप्त, एम० ए०, एल एल० बी०, डी० लिट्० से समय-समय पर बड़ी सहायता मिली। उनके विद्वतापूर्ण परामर्शों एवं पथ-प्रदर्शन से ही यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका है।

डा० केसरी नारायण शुक्ल एम० ए०, डी० लिट्० एवं अग्रज पं० राजाराम दीक्षित एम० ए०, एलएल० बी, के प्रोत्साहन से संकट के क्षणों में धैर्य धारण करने का बल मिलता रहा है। मेरे इस अध्ययन में इन्होंने भाँति-भाँति से सहायता प्रदान की है। लेखक इन सभी कृपालु सहृदय विद्वानों को किन शब्दों में धन्यवाद दे!

श्री पं० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने व्यस्त जीवन एवं कार्यक्रम के बीच समय निकाल कर ग्रंथ के विषय में परिचयात्मक विचार प्रकट करने की कृपा की है। लेखक उनके प्रति आभार प्रकट करता है। श्री देवेशचन्द्र एम० ए०, श्री ब्रज नारायण सिंह, एम० ए० एवं श्री स्वरूप नारायण दीक्षित एम० ए० ने अनुक्रमणिका प्रस्तुत करने में सहायता प्रदान की। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में हिन्दी-साहित्य-पुस्तकालय मौरावाँ, अधिकारियों से अमूल्य सहायता प्राप्त हुई। साहित्य-भवन लिमिटेड प्रयाग, के प्रकाशनाध्यक्ष भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के प्रयत्न से यह ग्रंथ प्रकाशित हो सका है। अन्यथा दस पाँच वर्षों तक पड़ा रह जाता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। किताब महल, प्रयाग के अध्यक्ष श्री श्री निवास अग्रवाल को इसे पाठकों तक पहुँचाने का श्रेय है। लेखक उपर्युक्त सभी सज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

मौरावाँ, उन्नाव.
श्रीकृष्ण जन्म अष्टमी,
२१।६।५३

त्रिलोकी नारायण दीक्षित

परिचय

संत सुन्दरदास के आविर्भाव काल (सं० १६५३—१७४६) तक संत-परम्परा के प्रतिष्ठित हुए प्रायः दो सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे और उसका बहुत कुछ विकास भी होने लगा था। संत कबीर साहब ने अपनी साधना अधिकतर निजी अनुभूति पर आश्रित रखी थी और उन्होंने अपने उपदेश भी विचार स्वातंत्र्य के ही अनुसार दिये थे। उन्होंने किसी प्रामाण्य ग्रंथ का अध्ययन वा अनुशीलन नहीं किया था, अपितु केवल सद्गुरु एवं सत्संग से ही सहायता ग्रहण की थी। इस कारण न तो वे परम्परागत पारिभाषिक शब्दों का समुचित प्रयोग कर सके थे और न अपने मत को कोई सुव्यवस्थित रूप ही दे सके थे। इसकी उन्हें कदाचित् कोई आवश्यकता भी नहीं जान पड़ी थी; किन्तु जैसे-जैसे संत मत का प्रचार बढ़ता गया, उसके प्रमुख सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी होता गया। गुरु नानक देव तथा संत दादू दयाल ने अपने-अपने पंथों की स्थापना की और उनके अनुयायियों ने उनकी बानियों के संग्रह प्रस्तुत किये जिस कारण संत मत का एक विशिष्ट रूप स्थिर हो गया और पिछले संतों को उस पर मनन करने का अवसर मिला। फलतः अनेक अशिक्षित संतों ने इन बानियों को कंठस्थ किया और इनका भजनों के रूप में गान किया, अर्द्धशिक्षितों ने प्रायः इनकी सांप्रदायिक व्याख्या करने के प्रयत्न किये तथा जो पूर्णशिक्षित वा विद्वान् थे उन्होंने इन पर प्रचलित शास्त्रीय पद्धति से भी विचार किया। संत सुन्दरदास इसी तीसरे वर्ग के एक दादू पंथी संत थे जिन्होंने संत मत को एक पंडित की दृष्टि से देखा और उसका एक कवि की शैली में वर्णन किया।

संत सुन्दरदास अपने गुरु दादू दयाल के सम्पर्क में उस समय आये थे जब वे केवल ५-६ वर्षों के बालक थे। संत दादू दयाल का, सं० १६६० में, देहावसान हो जाने पर वे अपने सुयोग्य गुरु भाई रज्जब जी और जगजीवन जी के साथ रहने लगे और उनके इन्हीं दोनों हितैषियों ने उन्हें, सं० १६५३ वा १६६४ में, काशी ले जाकर उनके समुचित अध्ययन का प्रबन्ध किया। बालक सुन्दरदास ने इस सुअवसर से पूरा लाभ उठाया और अपनी आयु के लगभग तीसवें वर्ष तक काशी के साथ सम्बन्ध जोड़े रह कर वे साहित्य एवं दर्शन जैसे शास्त्रों में भी पूर्ण पारंगत हो गये। कहते हैं कि संत सुन्दरदास ने इस गहरे विद्याध्ययन के अनन्तर लगभग बारह वर्षों तक योगाभ्यास और आत्मचिंतन भी किया था। उनका, इसी प्रकार, दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान में बहुत दिनों तक भ्रमण करना तथा अनेक संतों के साथ सत्संग करना भी प्रसिद्ध है। स्वाध्याय, साधना

एवं सत्संग द्वारा उपलब्ध गंभीर अनुभव के ही आधार पर उन्होंने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की और उपदेश दिये। उन पर योगशास्त्र एवं वेदांत दर्शन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था जिस कारण उन्होंने इन्हें अपनी रचनाओं में भी प्रमुख स्थान दिया। उन्होंने न केवल इनकी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया और इनकी अनेक बातों की सविस्तार चर्चा की, प्रत्युत संतमत-सम्बन्धी विविध प्रसंगों को भी उन्होंने इन्हीं दो के बने साँचे में ढाल दिखाया जो बहुत-से पिछले संतों के लिए एक आदर्श बन गया।

संत सुन्दरदास को ऐसा करते समय अपने समय के वातावरण से भी कम सहायता न मिली होगी। इनके कुछ ही पहले सम्राट अकबर (मृ० सं० १६६२) ने अपने दर्बार में भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों की पारस्परिक धर्म-चर्चा कराई थी और 'दीन इलाही' की स्थापना की थी। उसका प्रपौत्र शाहज़ादा दाराशिकोह (मृ० सं० १७१६) इनका समसामयिक था जिसकी वेदांत और योग की ओर भी प्रवृत्ति थी और जो प्रसिद्ध पंजाबी संत बाबालाल (मृ० सं० १७१२) का एक भक्त और प्रशंसक था। उनके साथ उनके सात सत्संग वेदांत सम्बन्धी हुए थे। कहते हैं कि उसने सं० १७१२ तक काशी के पंडितों की सहायता से ५० उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद कराया था। संत बाबालाल के अतिरिक्त उस समय संत मलूकदास (मृ० सं० १७३६) तथा संत प्राणनाथ (मृ० सं० १७५१) भी संत मत में इस प्रकार की बातों को पूरा स्थान दे रहे थे। उस समय संत-परम्परा के प्रचार एवं प्रसार में लगभग एक दर्जन पंथ और सम्प्रदाय सहयोग प्रदान कर रहे थे और उक्त समन्वयात्मक प्रवृत्ति से प्रेरणा पाकर, वे सभी उन बातों को स्वीकार कर सकते थे जो संत मत के प्रतिकूल नहीं पड़ती थीं। फलतः योगशास्त्र एवं वेदांतदर्शन के शास्त्रीय विवेचन का उन्होंने सहर्ष स्वागत किया और उनमें से कई के पिछले अनुयायियों ने उस पर सुन्दर ग्रन्थों की रचना भी की। दादू-पंथी साधु निश्चलदास (मृ० १६२०) के 'वृत्ति प्रभाकर' और 'विचार सागर' की गणना ऐसे ही ग्रन्थों में की जाती है।

संत सुन्दरदास का योग-वेदांतपरक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' है जिसकी रचना सं० १७१० में हुई थी। इसमें गुरु-शिष्य संवाद के आधार पर क्रमशः सद्गुरु, नवधा भक्ति, अष्टांग योग, सेश्वर सांख्य मत एवं अद्वैत वेदांत सम्बन्धी ब्रह्म-ज्ञान का निरूपण बड़ी विद्वत्ता के साथ किया गया है। इसमें ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य वेदांतशास्त्र की सर्वोच्चता का प्रतिपादन कर सांख्य एवं भक्ति को उसका आवश्यक अंग ठहराना जान पड़ता है। संत सुन्दरदास ने इस ग्रन्थ में एक शुष्क दार्शनिक विषय को भी अपनी काव्य-कौशल द्वारा सरस बनाने की सफल चेष्टा की है। इनका ऐसा एक दूसरा ग्रन्थ 'सर्वांग योग प्रदीपिका' है जिसमें क्रमशः 'भक्तियोग', 'हठयोग' एवं 'सांख्ययोग' के शीर्षकों में में १२ योगों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी 'पंचेंद्रिय चरित्र', 'सुख

समाधि', 'अद्भुत उपदेश', 'स्वप्न प्रबोध', 'वेद विचार', 'उक्त अनूप', 'पंच प्रभाव', 'ज्ञान झूलना' आदि भी कुछ ऐसी छोटी-बड़ी रचनाएँ हैं जिनमें इन्होंने उक्त विषयों का प्रतिपादन रूपकों, आख्यानों और दृष्टांतों की सहायता से किया है और उन्हें सर्वथा रोचक भी बनाया है। इनके पदों, साखियों और सवैयों के संग्रहों में भी उक्त दो विषयों को ही प्रधानता दी गई है। वास्तव में सुन्दरदास एक दार्शनिक संत हैं जो अपने प्रिय विषय का वर्णन बार-बार करते रहने पर भी, उससे ऊबना नहीं जानते। ये उसके प्रत्येक सिद्धांत के मूल स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते हैं और इसके लिए सरल से सरल भाषा एवं सरस से सरस शैली के अनेक प्रयोग करते हैं।

परन्तु संत सुन्दरदास ने उपर्युक्त रचनाओं द्वारा उस गूढ़ विषय की केवल शास्त्रीय चर्चा मात्र ही नहीं की है। इनकी 'सर्वाङ्ग योग प्रदीपिका' से पता चलता है कि योग साधना से उनका तात्पर्य पूरे मानव जीवन का निर्माण है। इस रचना के अंतर्गत इन्होंने जिन बारह 'योगों' का वर्णन किया है उन्हें इन्होंने जान-बूझ कर तीन वर्गों में विभाजित किया है और इनके 'भक्तियोग', 'हठयोग' और 'सांख्ययोग' नाम दिये हैं। इनमें से हठयोग के अंतर्गत उसके अतिरिक्त राजयोग, लक्ष्ययोग तथा अष्टांगयोग आते हैं जिनका लक्ष्य प्रधानतः शरीर-शुद्धि है। हठयोग से काया का शोधन होता है और वह निर्मल हो जाता है, लक्ष्ययोग से वह नीरोग रहता है और आयु की वृद्धि होती है तथा राजयोग के कारण उस पर किसी प्रकार की आधि-व्याधि का प्रभाव नहीं पड़ता और वह निर्लिप्त-सा रहा करता है। अष्टांगयोग इनका सहायक मात्र है। इसी प्रकार 'सांख्ययोग' वाले वर्ग में उसके अतिरिक्त 'ज्ञानयोग', 'ब्रह्मयोग' एवं 'अद्वैतयोग' आते हैं जिनका वास्तविक उद्देश्य मानसिक शुद्धि है। सांख्ययोग के द्वारा आत्मानात्मविवेक की उपलब्धि होती है, ज्ञानयोग से मूलतत्त्व के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध की प्रतीति होती है, ब्रह्मयोग की सहायता से आत्मज्ञान होता है और अद्वैतयोग की सिद्धि प्राप्त हो जाने पर ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी का भान तक नहीं रह जाता। इन दोनों प्रकार की शुद्धियों के अनन्तर साधक आप से आप सहजभाव की ओर अग्रसर होने लगता है। ऐसी दशा में ही उसे 'भक्तियोग' की आवश्यकता पड़ती है जिसके अंतर्गत लेखक ने उसके अतिरिक्त 'मंत्रयोग', 'लययोग' एवं 'चर्चायोग' को रखा है। इन चारों प्रकार के योगों का अंतिम ध्येय उस सहज दशा को प्राप्त कर लेना है जो संतों के अनुसार सच्चे मानव जीवन की चरम स्थिति है। इनमें से भक्तियोग के द्वारा सदा मानसिक पूजन की पद्धति चलती रहती है, मंत्रयोग के आधार पर अजपा जाप की शाश्वत धारा का अनुभव होता रहता है, लययोग की स्थिति में साधक की एकांत निष्ठा उसे विदेहवत् बना देती है और चर्चायोग में उसका काम केवल आत्मचिंतन मात्र रह जाता है। भक्तियोग के इन चारों अंगों में

ही प्रसिद्ध नवधा भक्ति का भी समावेश रहता है और ये निरंतर 'घट' में ही चलकर संतों की 'रहनी' में प्रकट हुआ करते हैं।

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित की पुस्तक 'सुन्दर-दर्शन' में इन सभी योगों का वर्णन पृथक्-पृथक् करके, इन्हें स्पष्ट किया गया है। लेखक ने इसके अतिरिक्त, संत सुन्दरदास के सद्गुरु, सोऽहम्, शून्य, राम, नाम, काल, जगत्, देहात्मा, मन एवं अनित्य शरीर आदि सम्बन्धी मत पर भी विचार किया है। संत सुन्दरदास वेदांत विद्या के पूर्ण पंडित थे इस कारण उनके इन बातों के विवेचन पर तत्सम्बन्धी शास्त्र ग्रन्थों की छाप स्पष्ट है। उन्होंने अद्वैत वेदांत के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग स्वतंत्रता के साथ किये हैं और उनकी तदनुकूल व्याख्या भी की है। उनके अन्य ऐसे शब्द जिनका अर्थ विषयक विकास बौद्धों एवं नाथ पंथियों की परम्परा में हुआ है अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं और संत मत के साथ उनका निकट का सम्बन्ध है। संत सुन्दरदास ने उन्हें इस रूप में ही ग्रहण किया है और उन्हें उस अर्थ का द्योतक माना है जो संत कबीर साहब आदि को भी अभिप्रेत रहा। ऐसे शब्दों में नाम, शून्य, बंदगी, सूरमा एवं सद्गुरु आदि मुख्य हैं जिनके साथ उनके सैकड़ों वर्षों के विकास की पारिभाषिकता जुड़ी हुई है। संत सुन्दरदास ने अपने पदों, साखियों एवं सवैयों की ललित भाषा में इन्हें सार्थक और सजीव बनाकर दिखलाया है। डॉ० दीक्षित ने इन शब्दों के भी शीर्षक देकर संत सुन्दरदास के मत का स्पष्टीकरण किया है। ये कभी-कभी इनके मूल स्रोतों तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं, इनके पूरे अभिप्राय का विश्लेषण करते हैं और इनकी तुलात्मक आलोचना भी कर देते हैं।

'सुन्दर दर्शन' के अंतिम 'चतुर्थ अध्याय' में संत सुन्दरदास की उस विचारधारा का परिचय कराया गया है जो वस्तुतः जन जीवन से सम्बन्ध रखती है। संत सुन्दरदास ने इस प्रसंग में सर्वसाधारण के जीवन का प्रायः वैसा ही चित्र खींचा है, जैसा अन्य संतों ने भी किया है। उन्हें सांसारिक लोग व्यर्थ के भ्रम में पड़कर भूलते-भटकते हुए दीख पड़ते हैं और वे अंत तक किसी प्रकार की शांति उपलब्ध करते नहीं जान पड़ते। संत सुन्दरदास के अनुसार ऐसे लोग कभी विवेक से काम नहीं लेते और मूल वस्तु को छोड़ कर वे बाह्य प्रपंचों के फेर में पड़ जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को उन्होंने कड़ी चेतावनी देकर सचेत किया है और उन्हें सन्मार्ग-निर्देश करने की भी चेष्टा की है। उनकी 'नारी' के प्रति भी भावना अच्छी नहीं है, किन्तु वे इसके उस रूप को ही हेय समझते हैं जो हमें माया की ओर अधिकाधिक आकृष्ट करता रहता है। संतों के लिए नारी का 'पतिव्रता' वाला रूप एक अत्यन्त उच्चकोटि का आदर्श है जिसका अनुकरण सभी साधकों का कर्त्तव्य होना चाहिए। संत सुन्दरदास के सामने इसी प्रकार विविध वासनाओं तथा 'रोटी के प्रश्न' की भी कोई महत्ता नहीं है, प्रत्युत वे इन्हें सन्मार्ग की बाधा मानते हैं।

———

उनके अनुसार इनकी ओर केवल उतना ही ध्यान देना अपेक्षित है जितना उन्हें उचित अनुपात में रखने के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत स्वानुभूति में सदा निरत रहने का अभ्यास तथा दृढ़ विश्वास जनित संतोष दो ऐसी बातें हैं जो एक आदर्श एवं अमर जीवन के लिए अनिवार्य हैं।

'सुन्दर-दर्शन' में संत सुन्दरदास के उस दृष्टिकोण का परिचय दिलाने की चेष्टा की गई है जिसे उन्होंने मानव-जीवन के प्रति निश्चित किया था। वह उनकी विविध रचनाओं के अंतर्गत अधिकतर बिखरी दशा में विद्यमान है और उसे सुव्यस्थित रूप देकर बतलाना सरल नहीं है। डॉ० दीक्षित ने इसके लिए उन सभी प्रासंगिक स्थलों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है जो उनकी उपलब्ध रचनाओं में पाये जाते हैं और उनके विभिन्न विचारों में कहीं-कहीं पारस्परिक संगति बिठाने का भी उन्होंने प्रयत्न किया है। किन्तु एकाध स्थलों पर उद्धरण सम्बन्धी ऐसी भूलें भी आ गई हैं जिनमें से पृष्ठ ६७ पर उद्धृत 'नाहं बसामि बैकुंठे' को गीतोक्त बतलाया गया है। अस्तु—वे जिन निर्णयों पर पहुँचते गये हैं तथा जिन सामग्रियों के आधार पर उन्होंने अंतिम परिणाम निकाला है उनके विषय में सर्वत्र सहमत होना कठिन कहा जा सकता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने संत सुन्दरदास की रचनाओं का पूरा मंथन किया है और सतर्कता से भी काम लिया है। संत सुन्दरदास सम्बन्धी इस प्रकार के अध्ययन का यह कदाचित् प्रथम प्रयास है और सराहनीय भी है।

—परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

संक्षेप एवं संकेत

१. अं० दै० मी०	अंगिरा कृत दैवी मीमांसासूत्र
२. ऋ०	ऋग्वेद
३. क० ग्र०	कबीर ग्रन्थावली
४. ग० पु०	गरुण पुराण
५. घे० सं०	घेरण्ड संहिता
६. छान्दग्य०	छान्दग्योपनिषद्
७. ना० सू०	नारद सूत्र
८. पा० यो० द०	पातंजल योग दर्शन
९. मनु०	मनुस्मृति
१०. मा० का०	माध्यमिक कारिका
११. स० वा० स०	संत-वानी-संग्रह प्रकाशक-बेलवीडियर प्रेस
१२. सां० सू०	सांख्य सूत्र
१३. स० यो० प्र०	सर्वांग-योग-प्रदीपिका
१४. सु० ग्र०	सुन्दर ग्रन्थावली
१५. शि० सं०	शिव संहिता
१६. ह० यो० प्र०	हठयोग प्रदीपिका
१७. ज्ञा० बो०	ज्ञानबोध
१८. ज्ञा० स०	ज्ञान-समुद्र

प्रथम अध्याय

सुन्दरदास का युग

किसी देश के निवासी मनुष्यों पर उनके देश, समाज एवं समय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। वातावरण के प्रभाव से दूर रहना मनुष्य के लिए कठिन है। किसी घटना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष भाग होता है। सुन्दरदास की जीवन घटनाएँ भी उनके समय की परिस्थियों से प्रभावित थीं। सुन्दरदास का लक्ष्य था पथ-भ्रष्ट जनता को मार्ग पर लाना, अंधकार के गर्त की ओर अग्रसर मानव को प्रकाश प्रदर्शन करना, विश्वकल्याण के हेतु विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना तथा क्षमा, दया तथा त्याग आदि मानवोचित गुणों का जनता में व्यवहार बढ़ाना। उनके इस लक्ष्य के मूल में अनेक कारण निहित थे। इन कारणों से प्रेरित कार्यों को सम्यक रूप से समझने तथा उन पर विचार करने के हेतु सुन्दरदास के आविर्भाव तथा उत्कर्ष काल की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कवि ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक अथवा सामाजिक दशाओं का चित्रण कहीं भी नहीं किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना जनहिताय तथा स्वांतः सुखाय की थी। ऐतिहासिक घटनाओं को सुरक्षित रखने के हेतु नहीं की। तत्कालीन परिस्थितियों पर अन्तःसाक्ष्य प्रमाण के अभाव में वहिर्साक्ष्य प्रमाणों के ही आश्रित होना पड़ता है। सुन्दरदास के समय पर प्रकाश डालने वाले सूत्रों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं उनके समकालीन कुछ कवि और परवर्ती इतिहासकार। उनके समय की परिस्थितियों का कुछ सविस्तार उल्लेख भूषण, मथुरादास तथा हरिराय आदि के ग्रंथों में मिलता है। इतिहासकारों में कुछ तो उनके समकालीन हैं और कुछ आधुनिक जिन्होंने अपना मत प्राचीन इतिहासकारों के आधार पर ही निर्धारित किया है। इन ऐतिहासिक रचनाओं से उनके समय का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

सामान्य-रूप से सुन्दरदास का जन्म संवत् १६५३ वि० तथा मृत्युकाल संवत् १७४६ वि० माना जाता है। उन्होंने ९३ वर्ष का पवित्र तथा निष्कलंक जीवन व्यतीत किया था। उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब कि भारतवर्ष में अकबर के रूप में मुगलसाम्राज्य का दीपक, हिन्दुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था और औरंगज़ेब के राज्यकाल के ३१ वें वर्ष में उनका महाप्रस्थान काल है। उन्होंने अपने जीवन काल में चार मुगल बादशाहों का राजत्व काल देखा था अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब। हमारा कवि हिन्दी

साहित्य मन्दिर में सरस्वती के कतिपय उपासकों में से एक था जिन्होंने अपने जीवन में अपनी आँखों से मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन देखा था।

मथुरादास[१] ने अपने ग्रन्थ परिचयी में अकबर की धार्मिक नीति अथवा देश की दशा का संक्षेप में उल्लेख किया है। मथुरादास के कथन—

तीस बरस तक अकबर रहा।
तिन साधुन सों कछु न कहा॥[२]

से दो बातें प्रकट होती हैं। सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य बात यह है कि तीस वर्ष के राज्यकाल में अकबर ने हिन्दू जनता के धार्मिक जीवन में किंचित-मात्र भी हस्तक्षेप नहीं किया और इस नीति के फलस्वरूप देश में शांति और धार्मिक स्वातंत्र्य रहा। मथुरादास के इस कथन का समर्थन इतिहास से भी होता है। अकबर अपनी धार्मिक नीति में अपनी हिन्दू रानियों से बहुत प्रभावित था। उसके अंतःपुर में हिन्दू रानियाँ मूर्तिपूजा, व्रत तथा दान आदि स्वतंत्रतापूर्वक करती थीं।[३] इसका जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसके उपासना-गृह में प्रत्येक धर्म पर स्वतंत्रता पूर्वक मत प्रकट किए जाते थे।[४] अपने पूर्वजों द्वारा जज़िया[५], तीर्थयात्रा कर[६] तथा देवालयों के निर्माण के विरुद्ध लगे हुए प्रतिबन्धों को अकबर ने हटा लिया था।[७] अकबर की सारग्राहिता तथा उदारता का एक और उल्लेखनीय उदाहरण है। उसने हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ अथर्ववेद, महाभारत तथा रामायण आदि ग्रन्थों का अनुवाद करवाया।[८] अकबर ने अपने राज्य में शुद्धि की आज्ञा दे दी थी।[९] उसने सन् १५६२ ई०

---

[१]मथुरादास सुन्दरदास के समकालीन थे। उन्होंने कई एक ग्रन्थों की रचना की जो अभी अप्रकाशित हैं।

[२]परिचयी, पृ० १६

[३]अकबरनामा, भाग २, पृ० १५६

तथा तज़किरात-उल-मुल्क रफ़ी उद्दीन शीराज़ी, पृ० ५६६ से ५६७

[४]दी रिलीजस पालिसी आफ मुगल एम्पायर्स, श्रीराम शर्मा, पृ० १६

[५]अकबरनामा, पृ० २०३, २०४

तथा The Religious Policy of Moughal Emperors by Shri Ram Sharma, p. 23

[६]अकबरनामा, भाग, २, पृ० १६०

[७]Du Jarric, p. 75

[८]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 25

[९]मुन्तखिब उल तवारीख, भाग २, बदायूनी, पृ० ३६१

में युद्ध-बन्दियों को मुसलमान बनाने की पूर्व प्रचलित प्रथा को समाप्त कर दिया।[1] गो-वध का निषेध कर दिया।[2] उसने हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया[3] और अंतःपुर तथा राजप्रासाद के बाहर सभी हिन्दू त्यौहारों को स्वतंत्रता पूर्वक मनाने की आज्ञा[4] दी उसका उदार एवं विशाल हुआ हृदय भारतीय कला कौशल का प्रशंसक तथा समर्थक था। वह हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दी भाषा का प्रेमी था। बीरबल, गंग तथा इसी कोटि के अन्य हिन्दी के नीतिकार कवि उसके राजदरबार में सम्मानित स्थान पर नियुक्त थे। अकबर ने अपने ही राज्यकाल में सर्वप्रथम हिन्दी-फारसी कोष 'पारसीक प्रकाश' की रचना करवाई थी।[5] अकबर के राज्यकाल में सुन्दरदास ने अपने जीवन के ३० वर्ष व्यतीत किए थे। यह देश की समृद्धि, विकास, धार्मिक स्वतंत्रता एवं हिन्दू मुसलमानों की एकता का युग था। राज्य की ओर से इस धार्मिक उदारता की छाप सुन्दरदास के साहित्य में भी दृष्टिगत होती है।

अकबर की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र जहाँगीर राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस समय तक भारतीय जनता के हृदय पर अकबर की उदारता के चिह्न अंकित थे। मथुरादास ने 'परिचयी' में जहाँगीर की धार्मिक नीति के विषय में निम्नलिखित शब्दों में अपने विचार प्रकट किए हैं :

तिनके पीछे भा जँहगीरा।
करता अदल हरे सब पीरा॥[6]

वर्तमान इतिहासकार मथुरादास के उपर्युक्त कथन से सहमत हैं। जहाँगीर ने राज्य के साथ ही साथ अपने पिता की धार्मिक नीति को भी ग्रहण किया।[7] परन्तु वह मुसलमानों

---

[1] अकबरनामा, भाग २, पृ० १५६

[2] मुन्तखिब उल तवारीख, भाग २, २६१, ३०२

[3] The Religious Policy of Moghal Emperors. pp. 26-27

[4] मुन्तखिब उल तवारीख, भाग २, पृ० ३०६

[5] देखिये 'पारसीक-प्रकाश' विषयक मेरी नवीन खोज हिन्दुस्तानी
प्रयाग अप्रैल १९४५
अथवा देशदूत, ४ फरवरी १९५४

[6] परिचयी पृ० १६

[7] The Religious Policy of Moughal Emperors, p 70
& the History of Jahangir by Dr. Banarsi Prasad, p. 259

के प्रति कुछ पक्षपातपूर्ण था।[१] वह हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम में अधिक रुचि रखता, था।[२] धर्म के ग्रहण और परित्याग के विषय में वह अकबर की भाँति उदार न था।[3] इस्लाम को अंगीकार करने वालों को राज्य-कोष से आर्थिक वृत्तियाँ दी जाती थीं।[४] उन लोगों का विशेष सम्मान होता था।[५] इन उपर्युक्त अपवादों के अतिरिक्त जहाँगीर अन्य विषयों पर उदार ही बना रहा।[६] युद्ध के अवसरों पर उसने कई बार हिन्दुओं के मन्दिर भी नष्ट करवा दिये थे।[७] वह हिन्दू यात्रियों के प्रति उदार था।[८] उसके राज्य-काल में हिन्दू त्योहार और मेले पूर्ववत ही मनाये जाते थे।[९] सारांश यह कि जहाँगीर ने अकबर

---

[१] He was characterized as being less favourably inclined to Hindus.

Religious Policy of Moughal Emperors, p. 70

[२] Jahangir would not go back on the path of toleration which his father had opened. But withourt embarking on active persecution or imparting the newly acquired status of Hindus. He began to take interest in the fortunes of Islam in his own territories.

The Religious Policy of Moughal Emperors By Shri Ram Sharma, p. 72

[3] The Religious Policy of Moughal Emperors, 72

[४] The Memoirs of the Asiatic Society of Bengal, Part V, p. 154

[५] तुजुक-ए-जहाँगीर, पृ० १४६

[६] Oxford History of India By Smith, p. 397

& The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 73

[७] Jahangir R. & B., pp. 254, 255, 224, 225

& The Religious Policy of Moughal Emperors p. 273

[८] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 74

[९] The Religious Policy of Moughal Emperors, pp. 82-83

की नीति का अनुगमन करने का प्रयत्न किया फिर भी उसकी नीति अपने पिता की अपेक्षा कुछ संकुचित थी।[१]

सन् १६२७ में जहाँगीर की मृत्यु हुई। इस समय सुन्दरदास की अवस्था २६ वर्ष की थी। इस समय के अंतर्गत हमारा कवि सुन्दरदास दो मुगल राजाओं की धार्मिक नीति देख चुका था। उसने अपनी बाल्यावस्था शौर्य तथा युवावस्था देश के शान्तिमय वातावरण में व्यतीत किया था। उसके जीवन का प्रायः आधा समय हिन्दुओं की उन्नति तथा विकास में व्यतीत हुआ था। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शाहजहाँ सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। मथुरादास ने अपने ग्रंथ परिचयी में शाहजहाँ के विषय में लिखा :

शाहजहाँ तिनके सुत राजा।
तिने फिर बहुत गरीब नेवाजा ॥[२]

मथुरादास के उपर्युक्त कथन से यह प्रकट होता है कि जहाँगीर का पुत्र शाहजहाँ गरीबों पर दया करने वाला था। परन्तु इन पंक्तियों में प्रयुक्त शब्द फिर जहाँगीर तथा शाहजहाँ की प्रवृत्ति में भेद प्रकट कर देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वह जहाँगीर की भाँति उदार नहीं था फिर भी वह गरीबों पर दयालु था। इस 'फिर' से शाहजहाँ के पश्चात् औरंगजेब की दुर्धर्ष नीति का भी आभास मिल जाता है।

यदि अकबर धार्मिक नीति में उदार था और जहाँगीर धार्मिक विषयों की ओर विमुख तो शाहजहाँ कट्टर तथा धार्मिकता के रंग में अनुरंजित मुसलमान। यद्यपि शाहजहाँ एक राजपूत नारी का पुत्र था जिसके पति की माता स्वयं राजपूत स्त्री थी तथापि उसमें मातृ-पक्ष के इन स्वाभाविक गुणों का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता है।[३] सन् १६३५

---

[१] In short Jahangir ordinarily continued Akbar's toleration. He experimented in simultaneous maintenance of several religions by the state......with all this Jahangir sometimes acted as protector of true faith than as a King of vast majority of non-muslims. Departures however slight from Akabar's wide outlook had thus begun.

The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 90

[२] परिचयी, पृष्ठ १६

[३] If Akbar was liberal in his religious views and Jahangir indifferent to nicer question of theology, Shahjahan was an orthodox Muslim. Although born of a Rajput mother to a father whose mother was also a Rajput princess, Shah-

ई० में शाहजहाँ ने अपने को इस्लाम के विरोधियों का विनाशकारी उद्घोषित किया।[१] उसने राज्य के उच्चपद केवल मुसलमानों के लिए ही सुरक्षित रक्खे[२] और हिन्दू तीर्थ-यात्रियों पर कर लगा दिया।[३] सन् १६३२ ई० में उसने प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार और नवीन मंदिरों का बनना रोकवा दिया।[४] उसकी यह नीति देखकर मुसलमान कर्मचारियों ने भी हिन्दुओं को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया था।[५] उसने जुझारसिंह तथा उसके परिवार को मुसलमान बना लिया[६] तथा हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में नानाप्रकार के संकट उत्पन्न कर दिए।[७]

---

jahan does not seem to have much influenced by these factors. He was thirty six at the time of accession and thus old enough to chalkout a policy for himself.

The Religions of Moughal Emperors, p. 94

[१] In 1635-36 he definitely proclaimed himself a destroyer of all those who did not conform to his ideas of Islam.

The Religious Policy of Moughal Emperors, pp. 96. 97

[२] It was decided that only Muslims were to be recruited to public services.

The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 98

[३]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 92

[४]In 1632 Shahjahan had prohibited the creation of new temples. No important Hindu building religious or secular dates from this reign.

Oxford History of India by Smith, p. 421

[५]The fact of matter is that it was Shahjahan who encouraged his musalman officers to indulge their religious frenzy and it was he who ordered the demolition of magnificient temple of Orcha.

History of Shahjahan by Dr. Banarsi Prasad, pp. 89, 90

[६]That Jujhar Singh as a rebel deserved severe chastisement cannot be gainsaid, but there appears little justification for forcible concession of his sons who were eaptured alive and enslavement of his women to lead an infamous life within the place......

History of Shahjehan by Dr. Banarsi Prasad, p. 89

[७]Shahjahan took a step towards ruining them by ordering that the Hindus to be not allowed to dress like Muslims.

The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 111

संक्षेप में शाहजहाँ अपने पूर्वजों की अपेक्षा इस्लाम का अधिक पक्षपाती था। परन्तु उसका उत्पीड़न व्यापक नहीं रहा। इसी कारण मथुरादास ने उसकी नीति के विषय में कोई सविस्तार उल्लेख नहीं किया। मथुरादास के कथन "तिन फिर बहुत गरीब नेवाजा" से शाहजहाँ की न्यायप्रियता का भी बहुत कुछ आभास मिलता है।

शाहजहाँ की मृत्यु के समय अर्थात् सन् १६५८ ई० में सुन्दरदास की अवस्था ६२ वर्ष की थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र औरंगजेब सम्राट् हुआ। मथुरादास के मतानुसार औरंगजेब के राजगद्दी पर बैठते ही देश में सर्वत्र हिन्दुओं का उत्पीड़न आरम्भ हो गया। सम्राट् होने पर उसने विचारपूर्वक अपनी एक धार्मिक नीति बनाई।[१] यह नीति शाहजहाँ जहाँगीर और अकबर से पूर्णतया भिन्न थी। औरंगजेब इस्लाम का बहुत विकट अनुयायी था। वह कुरान के कथित विषयों के अनुसार आचरण करता था।[२] इसी कारण उसने राज्यारोहण के पश्चात् राज्य में प्रचलित हिन्दू प्रथाओं[३] और राज्यपदों के लिए हिन्दुओं की नियुक्ति बन्द कर दी थी।[४] सन् १७०२ ई० में उसने फौज से भी हिन्दुओं को हटा दिया।[५]

---

[१]शाहजहाँ पातसाह जब मुआ, दंड देस में चहुँ दिस हुआ।
औरंगजेब ताहि सुत एका, बैठ राज तिन कियों विवेका।
परिचयी, पृ० १७

[२]शाहजहाँ सुत औरंगजेबा, चले स्वपंथ कुरान कथा, परिचयी, पृ० १६

नोट : मथुरादास ने इस कथन का समर्थन इतिहासकार श्रीराम शर्मा के निम्नलिखित कथन से भी होता है......

He was a Muslim King and it seemed to him unreasonable not to govern country according to his interpretations of injunctions of Quran and Traditions......

The Religious Policy of Moughal Emperors By Shri Ram Sharma; p. 152

[३]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 120

[४]In 1671 an ordinance was issued that the rent collectors ......must be muslims and with all viceroys and Taluqdars were ordered to dismiss their Hindu head clerks......and accountants and replaced them by muslims.

History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, ch. xxxiv, p. 277

[५]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 135

औरंगजेब अपने को इस्लाम राजधर्म (Islamic Church State) का अध्यक्ष मानता था। इस धर्म में धार्मिक सहिष्णुता महान् पाप समझी जाती थी।[१] इस्लाम के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों को इस देश में रहने की आज्ञा नहीं थी; परन्तु कठिनाई यह थी कि हिन्दू जाति भारतवर्ष से समूल उखाड़ी नहीं जा सकती थी। अतः हिन्दू खिराज-गुजर की हैसियत से देश में रहते थे। मुहम्मद साहब की आज्ञानुसार[२] औरंगजेब ने सन् १६७६ ई० में हिन्दुओं पर जज़िया लगाया।[3] जज़िया कर लगाये जाने का स्थान-स्थान पर विरोध[४] किया गया और सारे देश में उसके हटाये जाने का अनुरोध किया गया पर कोई भी प्रयत्न फलीभूत न हुआ। जज़िया से राज्य की आय बढ़ गई।[५] दूसरा फल यह हुआ कि अनेक हिन्दू मुसलमान हो गए। औरंगजेब का समकालीन मनूसी लिखता है कि कर देने में असमर्थ अनेक हिन्दू कर वसूल करने वालों के अपमान से बचने के लिए मुसलमान हो गए। औरंगजेब प्रसन्न होता था कि इस वसूलयाबी से हिन्दू-मुसलमान हो जाने के लिए विवश हो जायँगे।[६] औरंगजेब में मंदिरों को नष्ट करने की

[१]History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, vol. III, chapter xxxiv, p. 227

[२]Flight those who do not profess the true faith till they pay Jaziya with the hand in humility"

Quran IX 20 & History of Aurangzeb by Sri J. N. Sarkar, Vol. III, Chapter xxxiv, p. 271

मथुरादास औरंगजेब के समकालीन थे उन्होंने परिचयी में जज़िया लगाये जाने का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है......

काजी मुल्ला की करै बड़ाई, हिन्दू को जज़िया लगवाई।
हिन्दू डाँड़ देय सब कोई, वरस दिनन में जैसा होई॥

परिचयी, पृ० १६

[3]The passionate animosity excited by tax was displayed in various ways and on various different senses......

The fall of Moughal Empire by Sidney J. Owne, p. 76

[४]The History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III. p. 274

[५] ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

[६]Many Hindus who were unable to pay turned Muhammadans, to obtain relief from insults of collectors...... Aurangzeb rejoices that by such exaction these Hindus will be forced to embrace the Mohammadans faith.

History of Aurangzeb, Vol. III, p. 275

प्रवृत्ति बहुत पहले से थी। गुजरात के गवर्नर के पद से उसने अनेक भव्य मंदिरों को नष्ट करवा दिया था। सम्राट् होने पर फरवरी २८, सन् १६५९ ई० में उसने नवीन मंदिरों के निर्माण को रोकने के लिए एक आज्ञापत्र[1] प्रकाशित किया। ९ अप्रैल सन् १६६९ ई० के एक आज्ञापत्र द्वारा समस्त साम्राज्य के मंदिरों को नष्ट कर देने की आज्ञा भेजी।[2] सन् १६६९ ई० के अगस्त मास में विश्वनाथ जी का सुप्रसिद्ध मंदिर नष्ट कर दिया गया।[3] विश्वनाथ जी के इस सुविशाल मंदिर के नष्ट किए जाने का उल्लेख सथुरादास ने अपने ग्रंथ 'परिचयी' में किया है। औरंगजेब केसमकालीन हिन्दी के गौरव कवि 'भूषण' ने भी अपनी पुस्तक 'शिवाबावनी' में विश्वनाथ जी के मंदिर के नष्ट होने का उल्लेख किया है।[4] इसी समय काशी के अन्य सभी मंदिर नष्ट कर दिए गए, जिनमें गोपीनाथ का मंदिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[5] इसके पश्चात् औरंगजेब ने मथुरा के केशवराम जी के मंदिर को नष्ट किया जिसके निर्माण में राव वीरसिंह ने ३३ लाख रुपये का व्यय किया था।[6] मथुरा के मंदिरों के ध्वंस का उल्लेख सथुरादास ने भी किया है।[7] इससे प्रकट होता है कि मथुरा के मंदिरों के ध्वंस होने का तत्कालीन जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। गोकुल के मंदिरों पर भी औरंगजेब की शनि-

---

[1]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 136

[2] ,, ,, ,, ,, ,, ,, p. 136

[3] ,, ,, ,, ,, ,, ,, p. 141

[4]कुभकर्न असुर औतारी अवरंगजेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब की
खोदि डारे देवी देवी देवल अनेक सोई
पेखी निज पानन ते छूटी माल सबकी
भूषन भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ
और क्या गिनाऊँ नाम गिनती में अबकी
दिल में डरन लागे चारो वर्ण वाही समै,
सिवाजी न होतो तो कुगति होति सब की

भूषण ग्रंथावली, शिवाबावनी, पृ० ४९, ५०, प्र० साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

[5]The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[6] ,, ,, ,, ,, ,, ,, p. 141

[7]तब बहुरो मथुरा चलि आवो, पाखंड देख सब मंदिल ढायो।

परिचयी, पृ० १७

दृष्टि पड़ी।[१] मथुरादास ने गोकुल के मंदिरों के उजाड़े जाने का हाल 'परिचयी' में लिखा है।[२] गोस्वामी हरिराय जी ने भी गोकुल तथा मथुरा के मंदिरों के प्रति औरंगजेब के प्रकोप का अपने ग्रंथ 'श्री गोवर्धन नाथ जी की प्राकट्य-वार्ता' में सविस्तार वर्णन किया है।[३]

---

[१]The priests of the temple of Goverdhan founded by the Balbhacharya sought safety in plight. The idols were removed and the priests softly stole out in night. Imperial territories offered no place of safe asylum either to God or his votaries. After the adventurous journey they atlast reached Jodhpur. Maharaj Jaswant Singh was away on imperial errands. His subordinates in the State did not eel strong enough to house the God who might have soon excited the wrath of the Moughal Emperors the head of the priesthood incharge of the temple, sent.........to Maharaja Raj Singh to beg for a place to enable to serve his religion in peace. The sasodia prince extended his welcome. The party, decided to house the God in Sihar and with due religious ceremony to God, was installed on the 10th March 1672...Sihar named after the God, it is known as Nathdwara. At Kankroli (in Udaipur State) and another idol of Krishna similarly brought down from Brindaban had been housed a little earlier.

The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 142

[२]द्वारिका नाथ से तुरुक पठायो
रणछोर को स्थानै ढायो
बद्रीनाथ गोकुल उजारा
जगन्नाथ को कियो विकारा

परिचयी, पृ० १७

नोट : १ द्वारिका नाथ से मथुरादास का अभिप्राय है द्वारिकेश जी का मंदिर।
२. रणछोर जी तथा जगन्नाथ के मंदिरों का उल्लेख आगे होगा।

[३]तब वा देशाधिपति ने एक दिन एक हलकारा श्री जी द्वार पठयो सो वा हलकारा ने आय के श्री विट्ठल राम जी के पुत्र श्री गोविन्द जी हते तिनसों कही

औरंगजेब द्वारा नष्ट किए गए मंदिरों की संख्या बहुत अधिक थी, जिसका पूरा विवरण आज किसी इतिहास में उपलब्ध नहीं होता है। तत्कालीन लेखकों की रचनाओं में इस सम्बन्ध के उल्लेख मिल जाते हैं। परिचयी में परशुराम तथा नगर-कोट के नष्ट किए जाने का वर्णन मिलता है[1] औरंगजेब की दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया सिक्खों में विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।[3] गुरु तेग़ बहादुर को बन्दी बनाकर प्राणदंड देना उसकी धार्मिक

और तोकेत तो...हते सो श्री जी के यहाँ अधिकार करत ताते हलकारा ने जनसे सों कही देशाधिपति ने कही है जो श्री गोकुल के फकीरों से कहो जो हमको कछू करामात दिखाओ नहीं तो हमारे देश में ते उठ जाओ। तब गोविन्द जी श्री जी सों पूछे जो देशाधिपति ने करामातें माँगी है या मारग में तो आप की कृपा ही करामात है जो आज्ञा आप करो तो हम वाको करामात दिखावें......श्री गिरिधार जी के और गोवर्धन के ब्राह्मण सों तथा गोखान से असमंजस पड्यो......श्री जी रथ में आयके विराजे असोज सुदी १५ शुक्रवार संवत् १७२६ के पाछिली प्रहर... और दो जल घटिया श्री जी के सेवक जल भरत सो जब बिरियां देशाधिपति को उस्ता मंदिर ढायवेको आयले ता समय वाके संग २०० म्लेच्छ हवे...उठे महिना ताई मंदिर ढायवे न दियो। फिर दूसरा उस्ता १७ सतवे बिरिया ५००, ७०० म्लेच्छ लेके आयो परंतु उन दोऊ माहन ने सब को मार डारे तब देशाधिपति ने वजीर को हुकुम दीनों सो बहुत म्लेच्छ संग लेके वजीर चढ्यो..:...श्री नाथ जी जब श्री गिरिराज सो आगो में पधारें तब पाछिली रात्र घड़ी छे रही हती......जब बादशाह देवतान को खंडित करतो ५०० म्लेच्छ वाके संग रहते। ता दिन श्री जी को रथ चम्बल के पार उतर्यो...और उद्दोत घाट ते श्री गोवर्धन जी श्री कोसा बूढ़ी...पधारे और श्री जी चातुर्मास बीते पीछे पुणका जी होय के जोधपुर को पधारे......। श्री गोवर्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता।

[1]नगर कोट की कला विचारी, कज्ञा न देखी मढ़ी उजारी।
बहुत विकट मन माहि विचारा, परसुराम को देवल उजारा।।

परिचयी, पृ० १८

[2](i) History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III Chap. xxxv, pp. 301, 302

(ii) Aurangzeb and his times by Zahiruddin Faruqi, pp. 247-259

संकीर्णता का एक ज्वलंत उदाहरण है।[1] मथुरादास ने भी अपनी 'परिचयी' में गुरू तेग़ बहादुर के वध का वर्णन किया है।[2] उनके शब्दों में वेद पुराण का पठन-पाटन सभी राज-आज्ञा से निषिद्ध कर दिया गया था। ब्राह्मणों की पूजा और कर्मकाण्ड छूट गया।[3]

सुन्दरदास के समय में देश की धार्मिक परिस्थितियों तथा मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक परिस्थितियों पर भी विचार कर लेना उचित होगा, जिनका उस समय की जनता तथा सुन्दरदास पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। मुगल सम्राटों के समय में भारतवर्ष की जनता की दशा तथा अवस्था के चित्रण की ओर न तो हमारे इतिहासकारों ने ही ध्यान दिया है और न तत्कालीन लेखकों ने ही। जो कुछ विवरण हमें उपलब्ध होता है वह १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी के पश्चात् यात्रियों के ग्रन्थों में मिलता है जो उस समय भारतवर्ष में विद्यमान थे।[4]

मुगल काल की जनता के तीन विभाजन किए जा सकते हैं। प्रथम मनसबदार तथा उच्च राजकर्मचारी, द्वितीय मध्य श्रेणी के मनुष्य तथा तृतीय अपने परिश्रम-द्वारा जीविका का अर्जन करने वाले मज़दूर। प्रथम श्रेणी अपने समय के सम्राट् का पूर्णतया अनुकरण करती थी। मांस, मदिरा तथा कामिनी तक ही उनका जीवन सीमित न था वरन् अधिक से अधिक व्यय करने एवं अधिक से अधिक आराम उठाने की प्रवृत्ति उस समय के उच्च कर्मचारियों में वर्तमान थी।[5] इसी श्रेणी द्वारा विदेशों से आया हुआ सामान विशेष

---

[1] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 166

[2] नानक के सिष्यन को पूछा, गुरु का धरम न तुमही सूझा।
उँडै सरीर छोड़यो हरिरायी, तेगबहादुर प्रकटे आई।
बादसाह बोहि पकड़ अहंकारा, कला न देख करदन मारा
परिचयी, पृ० १७

[3] कालरूप पातसाह हो बैठा, पूजन भाव छूटो घर बैठा।
वेद पुरान मना करवावे, ब्राह्मन पूजा करन न पावे।
जहाँ लग स्वामी स्वांग बनावे, पातसाह सब सुरति मिटावे।
परिचयी, पृ० १६

[4] A short History of Muslim Rule in India by Dr. Ishwari Pd., p. 648

[5] A Short History of Muslim Rule in India by Dr. Ishwari Pd., p. 449

प्रयुक्त होता था जिसके कारण विदेशों के व्यापार में वृद्धि हुई।[१] मध्य श्रेणी की जनता का जीवन सुखमय था। इसी मध्यम श्रेणी में निम्नकोटि के राजकर्मचारी भी थे जिनका जीवन औरंगजेब के राज्यकाल में (जब कि घूसखोरी तथा धन उपार्जन के अन्य मार्ग भी खुल चुके थे) विशेष सुखी था।[२] तृतीय अथवा अंतिम श्रेणी के मानव का जीवन दुखमय था। उनकी आय उनके खाने भर के लिए अपर्याप्त होती था। वस्त्रों और विशेषकर ऊनी कपड़ों के लिए उनके पास कभी भी धन पर्याप्त न हो पाता था।[३] अकबर के राज्यकाल में निम्नवर्ग भी सुखी था।[४] जहाँगीर के राज्यकाल में मजदूरों की दशा अच्छी नहीं थी। उन्हें उपयुक्त वेतन नहीं दिया जाता था।[५] उनसे बेगार लेने के बाद मनमानी मजदूरी दे दी जाती थी।[६] इस श्रेणी के मनुष्य दिन भर में एक बार खिचड़ी का भोजन करते थे। उनके मकान कच्चे तथा छप्पर से ढके होते थे।[७] औरंगजेब के राज्यकाल में इस श्रेणी के

---

[१] They made a lavish use of imported goods which resulted in stimulating foreign trade. A short History of Muslim Rule in India By Dr. Ishwari Prasad, p. 648

[२] The subordinates and the lower grades felt no pinch... ....They passed their days marily during the last years of Aurangzeb...............

A short History of Muslim Rule in India By Dr. Ishwari Prasad p. 650

[३] The life of the lower class was hard—Their clothing was scanty, woolen garments were not used at all and shoes were not much in evidence in certain parts of India.

[४] There is no evidence that the peasantry in Akbar's days lived a hard and pinched life. A short History of Muslim Rule in India, p. 651

[५] The workmen were not paid adequate wages.........

A Short History of Muslim Rule in India, p. 651

[६] They were seized by force and made to work in the house of a noble or officer who paid them what he liked.

A Short History of Muslim Rule in India, p. 651

[७] They took only one meal a day and this consisted of khichari.........their houses were built of mud with thatched roof.........

A Short History of Muslim Rule in India, p. 651

मानव की विशेष अवनति रही जिसका उल्लेख इतिहासकार श्री सरकार ने सविस्तार किया है।[१] भारतीय समाज की जो उन्नति अकबर के समय में हुई थी औरंगजेब के समय तक समाप्त हो चुकी थी।[२]

मुगल साम्राज्य में भारतीय जनता की आर्थिक दशा तथा परिस्थिति का कुछ आभास उपर्युक्त उल्लेखों से प्राप्त हो जाता है। इतिहासकार मोरलेंड तथा डाक्टर स्मिथ के मतानुसार[३] अकबर के राज्यकाल में जनता की आर्थिक दशा आज की दशा से अच्छी थी। यही दशा प्रायः शाहजहाँ के समय तक बनी रही। इस समय तक सम्राट् अर्थ-सम्बन्धी सभी कार्यों का स्वयं निरीक्षण करता था पर जनता की आर्थिक दशा का ह्रास औरंगजेब के समय में पूर्णरूप से हो गया था।[४] इसके अनेक कारण थे। हिन्दू जनता की आय का आधा से अधिक धन जज़िया, तीर्थ-यात्रा कर, दंड तथा अन्य सामयिक करों में निकल जाता था। औरंगजेब की फौजों के कारण खेती-बारी भी नहीं बच पाती थी। दक्षिण के दीर्घकालीन युद्धों के कारण देश का आर्थिक ह्रास पूर्णतया हो गया था।

देश की सांस्कृतिक परिस्थिति भी अकबर के समय में अच्छी थी। अकबर के समय

---

[१] See History of Aurangzeb by Sarkar, Vol. V, Chap. 62, p.p. 439-441, 443-445, 445-447.

Also see A short History of Muslim Rule in India p.p. 663-54

[२] Society had greatly deterioted under, Aurangzeb, although.........is silent on the subject. The moughal aristocracy had lost its moral stamina...........The sons of the nobility were brought up in the company of women and eunuchs and imbibed their degrading vices.................... Aurangzcb.........could do nothing to stop the evil.

A Short History of Muslim Rule in India, p. 653

[३] ....They ordinary labourer in Akbar's days had more to eat than he has now and was happier than his compatriot toda.........

A Short History of Muslim Rule ni India, p. 656

[४] History of Aurangzeb by Sarkar, Vol. V, Chap. 62, p. p. 439-441

में देश की उन्नति प्रत्येक ओर हुई। मध्यम श्रेणी में भी शिक्षा का प्रचार हो चुका था। कलाकार, औषधि, विज्ञान के ज्ञाता, शिल्पकार तथा साहित्यिक सभी सम्राट् अकबर के दरबार में सम्मानित स्थान पाते थे। अकबर की रुचि का प्रभाव उसके समय के सभी धनी-मानियों पर पड़ा। वे भी सम्राट् की भाँति कला को पसन्द तथा प्रशंसा करने में समर्थ थे।[२] अकबर के राज्यकाल में साहित्य की भी पर्याप्त उन्नति हुई।[3] अकबर के समान जहाँगीर तथा शाहजहाँ के राज्यकाल में भी देश की सांस्कृतिक दशा अच्छी रही। जहाँगीर के समय में शिक्षा का प्रचार हो गया था। प्रायः गाँवों में शिक्षा देने के लिए स्कूल खुलवाये गये थे यद्यपि यह सभी राज्य की ओर से नहीं खोले गए थे।[४] शाहजहाँ के समय में भी देश की सांस्कृतिक दशा अच्छी थी। मनूसी ने लिखा है कि शाहजहाँ के समय में लाहौर में अनेक स्कूल थे।[५] इसी प्रकार काश्मीर भी उस समय की शिक्षा तथा विद्वानों

---

[१]History of Aurangzeb by Sarkar, Vol. V, Chap. 62, pp. 439-41

[२]The educated middle class was..........small and the physician or artist or literasyman could hope to obtain and adequate income only by attaching himself to the Imperial Court or to any one of the Provincial Governors who organized their surroundings on its models...........Akbar's reign was favourable period for these professions. The emperor was interested in everything and he was generous pattern... ....

India At the Death of Akbar by W. H. Moreland, p. 83

[3]इसी समय तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, केशवदास, सुन्दरदास, बीरबल, गंग, नरहरि आदि कवियों का साहित्य के क्षेत्र में आविर्भाव हुआ था।

[४]In the reign of Jahangir there were schools in every village and town. These schools were certainly not Government Aided Institutions.

(i) History of Shahjahan by Dr. Banarsi Pd., p. 947

(ii) Education leterature among the Mughals Proceedings of Indias Historicals Commission 1923, p. 48

[५]मनूसी, भाग २, पृ० ४२४

का केन्द्र था।[१] अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ समान रूप से चित्रकला तथा कलाकारों के प्रेमी थे।[२] परन्तु औरंगजेब के राज्यकाल में देश की सांस्कृतिक दशा हीन हो गई थी। चित्रकारी तथा अन्य कलाओं का इस समय राज्य की ओर से विरोध हो रहा था। हिन्दू कवियों में केवल 'भूषण' की वाणी इस समय सुनाई देती थी। औरंगजेब की आज्ञा द्वारा हिन्दुओं के सभी मंदिर तथा ज्ञानोपार्जन के स्थान नष्ट कर दिए गए थे।[3] शाहजहाँ के पश्चात् संगीत-कला का भी ह्रास हो गया।[४]

औरंगजेब की अदूर-दर्शिता, धार्मिकता तथा दक्षिण के दीर्घ कालीन युद्ध के कारण देश के किसान[५], राज्य कर्मचारी तथा व्यापारियों की दशा सामान्य रूप से बिगड़ चुकी थी।[६] उनके आत्मिक चरित्र का पतन हो चुका था। देश में चारों ओर लुटेरों के गिरोह उत्पात कर रहे थे। लूटमार के अतिरिक्त उस समय की जनता के पास जीविका का अन्य साधन नहीं था। औरंगजेब के समय भारतीय जनता के प्रायः प्रत्येक अंग में दोष व्याप्त हो चुके थे। समाज में व्यभिचार[७], अन्धविश्वास[८],

[१] History of Shahjehan By Dr. Banarsi Pd., pp. 247-248

[२] A Short History of Muslim Rule in India By Dr. Ishwari Pd., pp. 669-672

[3] Orders in accordance with the organization of Islam were sent to Governors of all provinces that they should destroy the schools......of in fidels and put end of their educational activities.

The Religious Policy of Mughal Emperors, p. 1[illegible]

[४] A Short History of Muslim Rule in India. By Dr. Ishwari Pd., p. 625

(i) History of Aurangzeb, Vol III, Chap. xxxiv

[५] History of Aurangzeb—Sarkar, Vol III, Chap. 62, pp. 439-41

वही वही वही ~ p. 445-51

[७] In additional to unbridled sexual lence and secret drinking many members of nobility and the middle class were trained by pederasty.

History of Aurangzeb, Vol, V, p. 460

[८] All classes alike were sunk in the densest superstition... ......the darker aspect of subject was not wanting and

मदिरापान,[१] घूसखोरी[२], चारित्रिक पतन[3] के अतिरिक्त सभी प्रकार के दोषों ने तत्कालीन जनता में अपने लिए घर बना लिया था। यद्यपि धार्मिक अन्धविश्वास जहाँगीर[४] तथा शाहजहाँ के समय में भी वर्तमान था तथापि वह इस कोटि का नहीं कहा जा सकता है जैसा औरंगजेब के राज्यकाल में था।

औरंगजेब के राज्यकाल में देश का वाणिज्य तथा व्यापार भी क्षीण हो गया था। अकबर की व्यापार कुशलता के कारण देश में व्यापार की वृद्धि हुई।[५] जहाँगीर के समय में भी व्यापार की दशा अच्छी थी। राज्य की ओर से नई बाजारें खोली गईं। इसी समय विदेशी लोग भी भारतवर्ष में अपना व्यापार बढ़ा रहे थे।[६] जहाँगीर के राज्यकाल में

---

we read human sacrifice being performed to aid the quest for gold.........Hindu superstition is further illustrated by worship of long armed man.........when......... long-armed Portuguese visited Jagannath Puri in Orissa the Hindus priests and people.........conducted him to the people with great veneration and made over him the idols......... he lead a joyous life, regarding himself with delicate dishes and requisitioning young girls.

History of Aurangzeb, Vol. V, Chap. 62, p. 461

[१]Censor of public morals failed to hold the mughal aristocracy back from drink.........

History of Aurangzeb, Vol. V, Chap. 62, p. 461

[२]History of Aurangzeb, Vol. V, Chap. 62, p. 461

[3] वही वही वही pp. 469-469

[४]Jahangir's India, Translated by W. H. Moreland & P. Gage, pp. 69-75

[५]Akbar himself was a trader and did not disdain to earn commercial profits.

Akbar the Great Mughal by A. V. Smith, p. 411

[६]Trade in Jahangir's time was brisk and market had a firmer tone. Distant markets were tapped and new markets opened, because of the increased demand of the Portuguese, the Dutch and the English............

The Commercial Policy of Mughal by Dr. D. Pant, D. Com. Ph. D. p. 146

भारत का दूर देशों से भी व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।[1] शाहजहाँ स्वयं एक सफल व्यापारी था।[2] उसके राज्यकाल में व्यापार की अधिक उन्नतिहुई।[3] परन्तु औरंगजेब को व्यापार का अच्छा ज्ञान नहीं था। अपने मंत्रियों के परामर्श से उसने व्यापारियों पर भाँति-भाँति के कर लगा दिए थे। व्यापार सम्बन्धी नियमों का पालन उसके राज्यकाल में नहीं किया जाता था।[4] औरंगजेब के राज्यकाल में विदेशी व्यापारियों को भी बड़ी हानि हुई।[5] व्यापारियों की सुरक्षा का बहुत ही बुरा प्रबन्ध था।[6] औरंगजेब

[1] These foreigners were also opening trade with China and Japan and so arose a great demand for Indian goods to be sent to those countries.

The Commercial Policy of Mughals, p. 146

[2] Shahjahan was a great trader.........

The Commercial Policy of Mughal, p. 210

[3] Shahjahan's strong rule promoted peace but did not encourage trade. On account of his being a great trader people were afraid to risk new ventures for............

The Commercial Policy of Mughal, p. 201

[4] Aurangzeb was not a trader. He was anihilator of trade.

The various monopolies in salt, petre, wax, silk and others were the creation of his......Governors. All trade regulations violated and various interference in trade ammounted to a policy of obstruction.........

The Commercial Policy of Mughal, p. 242

[5] The Portuguese trade was completely smashed by Aurangzeb.

The English suffered much...............English trade had considerably decreased.........during Aurangzeb's reign.

The Commercial Policy of Mughal, p. 240

[6] Trade in the latter part of Aurangzeb's reign followed army in the other parts of Empire for safety to life and prosparity was very little.

The Commercial policy of Mughal, p. 240

की मृत्यु के समय भारतवर्ष का व्यापार प्रायः नष्ट हो चुका था और यह सब उसकी धार्मिकता का फल था।[१]

ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट होता है कि सुन्दरदास का जीवन उनके नेत्रों के समक्ष भग्न होने वाले मन्तव्यों के बीच में, आर्थिक, सामाजिक तथा चारित्रिक आदर्शों के भग्न पतन तथा विनाश की तड़ातड़ में, राजनीति के घातक दाँव-पेचों, आलमगीरी के निरंकुश प्रसर में, जीवन की अनिश्चितता में तथा संघर्षों के बाहुल्य में व्यतीत हुआ था। देश तथा अपने जन्मस्थान की संघर्षशील परिस्थितियों का सुन्दरदास पर गंभीर प्रभाव पड़ा। मानव की इन्हीं निम्न प्रवृत्तियों के विरुद्ध उन्होंने अपने शान्त एवं प्रभावकारी स्वर में दया तथा समता का राग अलापा और अपने समय के समाज का चित्र उपस्थित कर उसे सहीमार्ग पर अग्रसर किया।

सुन्दरदास के उत्कर्षकाल में हिन्दू धर्मावलम्बी केवल आततायी यवनों से ही उत्पीड़ित नहीं थे। वरन् उनको अपने हिन्दू भाइयों द्वारा नाना प्रकार के कष्ट मिल रहे थे। उनका स्वयं हिन्दुओं के अत्याचार से बचना अति कठिन प्रतीत हो रहा था। अपने ऊपर स्वयं अपना अथवा अपने भाइयों का अत्याचार हिन्दुओं तथा यवनों के संघर्ष से प्रकाश में आया। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार निर्धारित शूद्रों पर दो प्रकार का उत्पीड़न हो रहा था। एक विजेता मुगलों द्वारा और दूसरा उच्च वर्गीय हिन्दुओं द्वारा। ईश्वर से भक्ति होते हुए भी उन्हें जप तप का अधिकार नहीं था। मंदिरों में उनके हेतु प्रवेश निषिद्ध था। सामाजिक जीवन में नियंत्रणों के बीच शूद्र जाति अपने जीवन के दिन पूर्ण करती थी। मानव का मानव के प्रति अत्याचार सुन्दरदास के सदृश्य व्यक्ति के लिए असह्य था।

सुन्दरदास के समय की परिस्थितियों को ध्यान में पढ़ जाने पर हृदय तथा मस्तिष्क पर अशांति तथा कोलाहल की एक विचित्र छाप सी अंकित हो जाती है। तत्कालीन चतुर्दिक् अशांति का प्रभाव प्रत्येक सहृदय पर पड़ना स्वाभाविक है। हिन्दुओं तथा

---

[१]India at the death of Aurangzeb was like a cripple needing the support of others. She leaned more and more on the English.........From the proud position of great manufacturing country sending her goods for wide she became a hewer of wood and drawer of water. All this followed from the neferious activities of Aurangzeb who enforcing his faith lost his throne.

Commercial Policy of Mughal, pp. 241-242

मुसलमानों के मध्यस्थ पारस्परिक भेद के कारण देश की शांति समूल नष्ट हो गई थी। अतः यह आवश्यक था कि इन दोनों जातियों के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया जाता। सुन्दरदास ने कबीरदास आदि संतों की तरह अपने समय की इस महान् आवश्यकता की पूर्ति राम तथा रहीम की एकता बता कर की। अद्वैतवाद के राग का यह प्रभाव पड़ा कि हिन्दू तथा मुसलमानों में ईश्वर तथा मूर्ति-पूजा सम्बन्धी जो विरोध था, कुछ धीमा पड़ गया। हिन्दू तथा मुसलमानों के पारस्परिक विरोध को शांत करने के लिये सुन्दरदास ने विश्व-बन्धुत्व का उपदेश दिया।

मूर्ति विध्वंस की नीति अकबर के पश्चात् कितनी तीव्रता के साथ बढ़ गई इसका उल्लेख विगत पृष्ठों में हो चुका है। मूर्ति के कारण ही हिन्दू तथा मुसलमानों में होने वाले भेद-भाव को मिटाने के लिये सुन्दरदास ने मूर्तिपूजा, भेष धारण तथा अन्य बाह्याडम्बरों की आलोचना की।

तीर्थ-यात्रा के विरुद्ध सुन्दरदास ने जो उपदेश दिए हैं वह केवल धर्म की भावना से प्रेरित होकर ही नहीं वरन् अन्य कारणों से भी किए हैं। यातायात की कठिनाई के साथ उस समय देश की अशांति तथा दीनता के कारणों से स्थान-स्थान पर लूट-मार होने लगी थी। लुटेरे राज्यकोष तक लूट लेते थे। इस प्रकार के युग में तीर्थयात्रा बहुत कठिन हो गई थी। द्वितीय कारण तीर्थों के अन्तर्गत व्याप्त दोष थे। पंडों तथा तीर्थों के अन्य पुजारियों द्वारा दर्शनार्थियों का उत्पीड़न तथा व्यभिचार की अधिकता के कारण भी सुन्दरदास ने तीर्थ यात्रा का विरोध किया। इसके अतिरिक्त तीर्थ-यात्रा के विरोध में आर्थिक दृष्टिकोण भी था। आलमगीर के समय में तीर्थ-यात्रियों से एक विशेष कर लिया जाता था। हिन्दुओं की दशा ऐसी नहीं थी कि वे अधिक कर दे सकते फलतः तीर्थ-यात्रा के विरोध में आर्थिक प्रश्न भी अपना विशेष महत्व रखता था। पीछे कहा जा चुका है कि आलमगीर के राज्य-काल में हिन्दू साधुओं को उत्पीड़ित किया जाता था। भेषधारी साधुओं को पहचानना कठिन कार्य नहीं था। इसी कारण सुन्दरदास ने अपने सम्प्रदाय में गृहस्थी में ही रहकर उपासना करने का नियम रक्खा। इसके अतिरिक्त देश में व्यापार के उजड़ जाने से रमने वाले साधुओं के कष्टों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सुन्दरदास ने आश्रम त्याग तथा भेषधारण कर उपासना करने के विरोध में उपदेश दिया।

शूद्रों के उपेक्षित वर्ग का प्रभाव भी सुन्दरदास पर पड़ा। फलतः उन्होंने मनुष्यों की समता का सिद्धांत रखते हुए वर्ण तथा वर्ग की प्रथा की आलोचना की। इसका प्रभाव न केवल यही पड़ा कि अस्पृश्यों के हेतु उपासना का मार्ग खुल गया तथा वे अपने को उच्च वर्ग वालों के बराबर समझने लगे वरन् उनमें भी स्वाभिमान की भावना जाग्रत हो गई।

कबीर, दादू तथा नानकपंथी का प्रभाव सुन्दरदास के समय तक कम पड़ चुका था यद्यपि सिद्धान्त नहीं भुलाये जा सके थे। सतनामी सम्प्रदाय राज्यविरोधी संस्था हो जाने के कारण अधिक न पनप सका। अतः जनता को ठीक मार्ग प्रदर्शित करने के लिए यह अपेक्षित था कि एक नवीन विचारधारा की स्थापना हो जो अपने समय की परिस्थितियों के अनुकूल होते हुए भी राज्य-सत्ता की विरोधी न हो। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुन्दरदास ने जनता में नवीन विचारों से सम्पन उपदेशों का प्रसार किया।

द्वितीय अध्याय

साधना

योग

योग हिन्दू दर्शन और धर्म का गौरवपूर्ण अंग तथी हिन्दू जाति की सर्वाधिक प्राचीन एवं समीचीन, साथ ही अति प्रसिद्ध थाती है। साधना का यही एक अंग है जिसकी साधना-शैली और लक्ष्य के विषय में कोई मत-मतान्तर नहीं है। इसके आधारभूत सिद्धान्तों में वाद-विवाद के हेतु कोई स्थान भी नहीं है। योग मोक्षप्राप्ति का अद्वितीय साधन है। इस पर भी कोई दो मत नहीं है। भव तापों से संतप्त साधक के हेतु सर्वसन्तापहर परब्रह्म की दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त कर आनन्दोर्मियों में अवगाहन करने के लिये जिन तीन साधनाओं (योग, भक्ति एवं ज्ञान) का उल्लेख होता है उनमें योग सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक सफल साधन माना गया है, धर्म के प्रचारकों, दार्शनिकों, प्राचीन ऋषियों ने, तथा तत्व-ज्ञानियों ने योग की उपयोगिता एक स्वर से वर्णित की है। प्रत्येक धर्म की साधना में योग की क्रियाएँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपेण वर्तमान हैं। योग भारतवर्ष का सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन है। शुक्ल यजुर्वेद (४० वां अध्याय) में 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वनुमपश्यतः' इस बात का द्योतक है कि वेदों में भी योग विषयक आवश्यक विषयों एवं तत्वों का उल्लेख हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के ३३ वें एवं ४० वें अध्यायों में भी योग सम्बंधी विशिष्ट विषयों का समावेश किया गया है। वेदों के अतिरिक्त उपनिषद[1], श्रीमद्भागवत[2], श्रीमद्भगवत गीता[3], योगवासिष्ठ[4] तथा तन्त्र ग्रन्थों[5] आदि के भी योग का स्पष्ट उल्लेख एवं साधना के विषय में विचार प्रकट किए गए हैं। भारतवर्ष के सभी प्राचीन धर्म बौद्ध, जैन आदि योग की महत्ता के समर्थक हैं। बौद्धधर्म के पाली त्रिपिटकों में योग की प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। महाबीर एवं जैन धर्म के अन्य साधकों ने योगाभ्यास किया और उस पर अपने विवेचनात्मक मत प्रकट किए हैं। उमास्वाती तथा हेमचन्द्र ने क्रमशः 'तत्वार्थ

---

[1] कल्याण योगांक, पृ० ६२

[2] ,, ,, पृ० १०६

[3] ,, ,, पृ० १२२

[4] ,, ,, पृ० ११७

[5] ,, ,, पृ० १०५

वेद में योग वही पृ० ८१

सूत्र' तथा 'योगशास्त्र' ग्रन्थों में स्वानुभूतियों का चित्रण किया है। तांत्रिकों ने तो अपनी साधना के हेतु योग को ही आधार बनाया। नाथ सम्प्रदाय की साधना में भी योग की प्रक्रियाओं को विशिष्ट स्थान मिला, और अन्ततोगत्वा वह 'योगी' सम्प्रदाय के नाम से ही प्रख्यात हुआ। गोरखनाथ एवं अन्यान्य सिद्धों के ग्रन्थों में अमृतनाद, अमृतविन्दु, तेजोबिन्दु, नादविन्दु, क्षुरिका, हँस, कुंडलिनी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाथ पंथियों के पश्चात् हिन्दी के निर्गुणवादी कवियों में भी योग का वर्णन उपलब्ध होता है। दैनिक जीवन में भी प्राचीन भारत के नागरिक यम, नियमादिक का पालन करके किसी न किसी रूप में योग की साधना में रत थे।

महर्षि पतंजलि 'योग-सूत्रों' के सर्वप्रथम रचयिता हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग के आदिवक्ता थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार पतंजलि ने तो "शिष्टस्य शासन मनुशासनं" (त० वै० १।१) अर्थात् केवल अनुशासन वा प्रतिपादित का उपदेश मात्र किया। श्रीबलदेव उपाध्याय के मतानुसार "योग सूत्र की रचना विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खंडन सूत्रों (१।१४, १५) में मिलने पर भी इस सिद्धांत को धक्का नहीं लगाता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है" (भारतीय दर्शन पृ० ३४६)। पंतजलि-योग-दर्शन पर 'व्यासभाष्य' सबसे प्रमाणिक रचना है। पर ये व्यास कौन थे, इस निष्कर्ष पर अभी तक कोई निश्चय पूर्वक नहीं पहुँच सका है। व्यासभाष्य की गूढ़ार्थता को सरल करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु ने 'योगवर्तिक' की रचना की। राघवानन्द सरस्वती ने वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व वैशारदी' की टीका 'पातंजल-रहस्य' नाम से की। योग सूत्रों की अनेक टीकाएँ हुई जिनमें भोजकृत 'राजमार्तंड, 'भावगणेश की वृत्ति,' रामानन्द यति की 'माणिप्रभा', अनन्त पंडित की 'योग चन्द्रिका' तथा सदा शिवेन्द्र सरस्वती का 'योग सुधाकर' उल्लेखनीय है।

योग शब्द 'युज्' धातु के पश्चात् करण एवं भाववाच्च में 'वञ्' प्रत्यय लगाने से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ 'समाधि' है। अतः 'योग' शब्द को हृदयंगम करने के लिए समाधि शब्द को समझना अपेक्षित है। 'समाधि' का अर्थ है पूर्णरूपेण परब्रह्म के साथ युक्त हो जाना।[1] समस्त वासनाओं एवं कामनाओं का परित्याग करके स्वरूप में मिल जाना। परब्रह्म से युक्त होने के सहज स्वाभाविक उपाय को भी समाधि की संज्ञा दी जाती है। योग शब्द के अन्तर्गत यही दोनों तत्व निहित हैं जिस अवस्था में परब्रह्म की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने आप ही हमारी वाणी, भाव और कार्य के द्वारा पूर्णरूप से प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसी का नाम 'योग' है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके मनुष्य को

[1] देखिये मेरी पुस्तक 'सन्त-दर्शन' में 'सन्तों की सहज-समाधि साधना'।

भगवान् का अवतार कहा जाता है। अतः योग शब्द का प्रधान अर्थ है भाववाच्य में साधित भगवत् मिलन एवं गौण अर्थ है कारणवाच्य में साधित ब्रह्म के साथ एकात्मकता स्थापित करने के लिए आवश्यक समस्त साधना प्रणाली। किसी भी काम की सुन्दर, सहज एवं स्वाभाविक साधना प्रणाली को 'योग' कहा जा सकता है। कहा भी गया है कि "योगः कर्मसु कौशलम्"। योग शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता 'योग' है, देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना भी 'योग' है, चित्तवृत्ति का निरोध भी 'योग' है, सुख, दुख आदि पर विजय प्राप्त करना भी 'योग' ही कहा जाता है (गीता-"समत्वं योग उच्यते)" आराधना के लिए भी योग का प्रयोग होता है, कर्मबन्धन से उदासीन रहना भी 'योग' है, भली प्रकार कृत कर्म भी 'योग' ही है (योगः कर्मसु कौशलम्—गीता), दो विभिन्न पदार्थों का निज स्वरूपों को खोकर एक ही रूप में परिणत हो जाना भी योग है, योगफल जोड़ तथा गणितशास्त्र का जोड़ भी योग ही कहा जाता है, वैद्यक के नुसखे को भी 'योग' कहा जाता है। मारण, मोहन तथा उच्चाटन आदि को 'योग' की संज्ञा दी जाती है। पुराणकाल में युद्ध के लिए सैनिकों को सन्नद्ध हो जाने के लिए "योगो योगः" शब्दों में आज्ञा दी जाती थी। किसी विशिष्ट उपाय को भी योग कहा जाता है। इस प्रकार कोषकारों ने 'योग' शब्द के तीन चार दर्जन अर्थ दिए हैं। पर जब हम 'योग' शब्द का प्रयोग दर्शन शास्त्र में करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है वह विशिष्ट प्रणाली जिसके द्वारा आत्मा एवं परब्रह्म में एकात्मकता स्थापित की जा सके। इस दृष्टि से महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों का द्वितीय सूत्र विशेष रूप से विचारणीय एवं पठनीय है :

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध सर्वथा स्थगित हो जाना ही 'योग' है। योगवासिष्ठ के अनुसार संसार-सागर से उत्तीर्ण होने की युक्ति ही 'योग' है (६।१।१३।३।)। संक्षेप में वह आध्यात्मिक विद्या जो जीवात्मा एवं परमात्मा में संयोग स्थापना की प्रक्रिया का निर्देश करे वही योग है। योग वह परमार्थ विद्या है जो सद्चित आनन्द स्वरूप के दिव्य रूप का दर्शन कराये। डा० राम कुमार वर्मा के शब्दों में "आत्मा जिस शारीरिक-या मानसिक साधन से परमात्मा में जुड़ जावे, वही योग है" (कबीर का रहस्यवाद पृष्ठ ६८)। यौगिक क्रियाओं की साधना करने वाला साधक योगी है पर गीता में 'योगी' शब्द का प्रयोग भी प्रायः नौ विभिन्न अर्थों में हुआ है। गीता में ईश्वर,[1] आत्मज्ञानी,[2] ज्ञानीभक्त[3], निष्काम कर्मी-

---

[1]गीता, अध्याय १०, श्लोक १७
[2]गीता, „ ६, „ ८
[3] „ „ १२, „ १४

योगी[1], सांख्ययोगी[2], भक्त[3], साधकयोगी[4], ध्यान योगी[5], सकाम कर्मयोगी[6] आदि का प्रयोग योगी के अर्थ में ही हुआ है। इसके अतिरिक्त संयमी, तत्वज्ञानी, ध्यान धारण करने वालों के लिए भी आज 'योगी' शब्द का प्रयोग होता है।

योगशास्त्र में योग के तीन भेद मान्य हुए हैं :

१ सविकल्प योग—यह पूर्वावस्था है। इसमें विवेक ज्ञान नहीं होता।

२ निर्विकल्पयोग—इसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं।

३ निर्बीजयोग—इससे चित्त की समस्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। यही योग का अंतिम लक्ष्य है। इसीसे आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा वा कैवल्य प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार योगी के चार भेद कहे गये हैं :

१ प्रथम कल्पित—योग मार्ग में सद्यः प्रवृष्टि

२ मधु-भूमिक—अत्यन्त शुद्ध चित्तवाला साधक जिसे अप्सराएँ प्रलोभन. देकर योग भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं।

३ प्रज्ञाज्योति—पञ्च-भूत, पञ्च अवस्थाओं पर अधिकार प्राप्त, भूत ज्ञानी योगी।

४ अतिक्रांत—माननीय भूतेन्द्रिय का अतिक्रमण करके अस्मिता में प्रविष्ट सर्वज्ञयोगी।

योग के अनेक प्रकार होते हैं—प्रेमयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग आदि। योग के इन सभी प्रकारों में पर्याप्त भेद है। श्वास प्रश्वास एवं शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुये मन को एकाग्रकर परब्रह्म में नियोजित करना हठयोग है और मन को एकाग्र करके परब्रह्म के आनन्दस्वरूप का मनन करते हुए आत्म समाधिस्थ हो ब्रह्म से मिलन राजयोग है। शारीरिक अंगों को संयत करना हठयोग है और हृदय को संयत करना राजयोग है। हठयोग शरीर से होता है और राजयोग मन से। हठयोग में साधक यम, नियम, आसनादिक की साधना से वायु तथा श्वासों पर अधिकार करता है, और राजयोग में साधक वेदांतवाद वा वेदांत के शून्य-वाद में अपते मन को स्थित करता है। हठयोग में श्वास नियंत्रित होती है। अतः अंगों तथा इन्द्रियों को संयत तथा वशीभूत करके बलपूर्वक ब्रह्म से मिलाना ही हठयोग है। हठयोग

---

[1] गीता, अध्याय ५, श्लोक ११
[2] ,, ,, ५, ,, २४
[3] ,, ,, ८, ,, १४
[4] ,, ,, ६, ,, ४५
[5] ,, ,, ६, ,, १०
[6] ,, ,, ८, ,, २५

में साधक को शारीरिक एवं मानसिक साधना एवं अध्यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियों एवं शरीर के अन्य विभिन्न तत्त्वों पर विजय प्राप्त करके परब्रह्म से मिलन ही हठयोग का लक्ष्य है। संसार की स्थिति एवं विनाश मन में टिका हुआ है। मन से कृत साधना को ही राजयोग कहते हैं। हठयोग के साधक को अपने लक्ष्य पूर्ति के हेतु प्राणायाम आसन आदि का अभ्यास करना पड़ता है।

सुन्दरदास ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में निम्नलिखित योगों का निरूपण और उपदेश दिया है :

१ हठयोग	५ राजयोग	९ मंत्रयोग
२ भक्तियोग	६ सांख्ययोग	१० लययोग
३ अष्टांगयोग	७ अद्वैत योग	११ चर्चायोग
४ भक्तियोग	८ लक्ष्ययोग	१२ ब्रह्मयोग
		१३ ज्ञानयोग

प्रस्तुत सूची पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है सुन्दर दास ने तेरह विभिन्न योगों की प्रक्रिया एवं सिद्धांतों पर अपने ग्रन्थों में प्रकाश डाला है। इन सभी योगों के विवेचन में कवि की आत्मा हठयोग (अष्टांगयोग), भक्तियोग एवं सांख्ययोग पर विशेष रमी है। इसी लिए इन तीन योगों पर कवि ने अपने विचारों को बड़े विस्तार के साथ व्यक्त किया है।

सुन्दरदास ने अपने दो ग्रन्थों 'ज्ञान समुद्र' एवं 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' में इन योगों का उल्लेख किया है। दोनों ग्रन्थों में कौन-कौन से योगों का उल्लेख हुआ है इसकी तालिका निम्नलिखित है :

१ ज्ञान समुद्र : भक्तियोग, अष्टांगयोग, सांख्ययोग, अद्वैतयोग
२ सर्वांगयोग प्रदीपिका : भक्तियोग, मंत्रयोग, लययोग, चर्चायोग, हठयोग, राजयोग, लक्ष्ययोग, अष्टांगयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, अद्वैतयोग।
इसके अतिरिक्त अपने स्फुट छन्दों में कवि ने (३६ सवैया) में सांख्य सिद्धांतों का निरूपण किया है और स्फुट साखी साहित्य में (१६३ साखियों) में सांख्य योग के विभिन्न अंगों पर विचारों को अभिव्यक्त किया है।

अष्टांग योग

सुन्दरदास ने हठयोग वा अष्टांगयोग विषयक अपने विचारों को 'ज्ञानसमुद्र' एवं 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' में व्यक्त किया है। योग के इस अंग का कवि ने 'ज्ञानसमुद्र' में तो सविस्तार निरूपण किया है परन्तु 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में। 'ज्ञान-समुद्र' के तृतीयोल्लास में कवि ने ६० विभिन्न छन्दों में पाठकों को अष्टांगयोग का परिचय कराया है। इन ६० छंदों में कवि ने यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति,

दया, अर्जव, मिताहार, शौच, नियम, तप, सन्तोष, आस्तक्य, दान, पूजा, सिद्धान्त, श्रवण, ह्री, मति, जाप, होम, आसन, प्राणायाम, पवन के स्थान, प्राणायाम क्रिया, कुंभक दान वर्णन, मुद्रानाम, प्रत्याहार, पंचतत्व की धारणा, पृथ्वी तत्व की धारणा, आकाश तत्व की धारणा, ध्यान पदस्थ, ध्यान पिंडस्थ, ध्यान रूपस्थ, ध्यान रूपातीत, ध्यान समाधि आदि का सविस्तार वर्णन किया है। इसके पश्चात् 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' के 'हठयोग नाम तृतीयोपदेश' में कवि ने हठयोग की परिभाषा, हठयोगी के लिए साधना के उपयुक्त स्थान, हठयोगी के लिए आहार-व्यवहार विषयक आवश्यक बातों का उल्लेख १२ छन्दों में किया है। तदनन्तर अष्टांगयोग के सम्बन्ध में कवि ने १५ छन्दों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, इडा, पिंगला, षट्-चक्र, तथा उनके वर्ण का संक्षेप में परन्तु साथ ही रोचक वर्णन किया है।

सुन्दरदास ने जिस अष्टांगयोग अथवा हठयोग का वर्णन इन दोनों ही ग्रन्थों में किया है, उसका आधार है 'हठयोग प्रदीपिका' जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है।

ये दश प्रकार के यम कहे हठप्रदीपिका ग्रन्थ महिं।
सो पहिले ही इनकौ ग्रहै चलत योग के पंथ महिं॥

। ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास, छन्द ८।

सुन्दरदास ने 'सर्वाङ्गयोग-प्रदीपिका' के 'हठयोग नाम तृतीयोपदेश' के अन्तर्गत इडा एवं पिंगला नाडियों को एक कर देने की क्रिया को ही हठयोग माना है—

रवि शशि दोऊ एक मिलावै।
याही ते हठयोग कहावै॥

महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्र में योग साधना के लिए आठ अंगों का उल्लेख किया है। इन्हीं आठ अंगों को अष्टांगयोग कहा जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार निम्नलिखित योग के आठ अंग हैं—[1]

१ यम	५ प्रत्याहार
२ नियम	६ धारणा
३ आसन	७ ध्यान
४ प्राणायम	८ समाधि

साधना क्षेत्र में योगी को समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग के समस्त अंगों की साधना करनी पड़ती है। सुन्दरदास ने

---

[1] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि॥
पातंजल योग दर्शन, साधनापाद २, सूत्र २६

जिस अष्टांगयोग का वर्णन 'ज्ञानसमुद्र' वा 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' में किया है वह सर्वथा पातंजलयोग दर्शन में वर्णित अष्टांगयोग से साम्य रखता है। 'ज्ञानसमुद्र' में वर्णित अष्टांग-योग निम्नलिखित है :

प्रथम अंग यमं कहौ दूसरो नियम बताऊं।
त्रितिय सु आसन भेद सुतौ सब तोहि सुनाऊं॥
चतुर्थ प्राणायाम पंचम प्रत्याहारं।
षट्सु सुनि धारणा ध्यान सप्तम विस्तारं॥
पुनि अष्टम् अंग समाधि है भिन्न भिन्न समुझाइहौं।
अब सावधान ह्वै शिष्य सुनि ते सब तोहि बताइहौं॥

स्पष्ट है कि सुन्दरदास द्वारा प्रतिपादित यह अष्टांगयोग 'पातंजलयोग दर्शन' सम्मत है।

यम की साधना के अनन्तर नियम की साधना से विमुख तथा प्राणायाम की साधना में तत्पर साधक कभी भी अपनी साधना में सफलीभूत नहीं हो सकता है। सुन्दर-दास साधना के क्षेत्र में क्रमशः अग्रसर होने के समर्थक हैं। वे साधना के क्षेत्र में सर्वप्रथम नींव को दृढ़ बना लेने के पक्ष में है, कारण कि नींव के कमज़ोर रहने पर साधना की इमारत कमज़ोर रहेगी इतना निश्चय है। कवि के शब्दों में—

दश प्रकार के यम कहौ दस प्रकार के नेम।
उभय अंग पहिलै सधहि तब पीछे ह्वै क्षेम॥
प्रथम नींव दृढ़ कीजिये, तब ऊपरि विस्तार।
महलांइत जुड़िगै नहीं, त्यौं यम नियम विचार॥

यम नियम की दृढ़ नींव पर ही साधना का सुदृढ़ महल खड़ा हो सकेगा इसमें सन्देह नहीं है। इस दृष्टिकोण से सुन्दरदास का मनुस्मृति से मत साम्य पठनीय है। मनुस्मृति के अनुसार—

यमान सेवेत सततं न नित्यं नियमान बुधः।
यमान पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

। मनुस्मृति ४।२०४।

पातंजल योग दर्शन के अनुसार यम पाँच प्रकार के होते हैं—

१ अहिंसा
२ सत्य
३ अस्तेय
४ ब्रह्मचर्य
५ अपरिग्रह

१. *अहिंसा*—मनसा, वाचा एवं कर्मणा किसी को दुख न देना अहिंसा है। यही योग साधन की आधार-शिला है।

२. *सत्य*—अपने मन की अथवा देखी-सुनी बात को दूसरों से प्रवंचना एवं निरर्थकता तथा भ्रांत जन्यता से रहित शब्दों में कहना ही सत्य है[1]।

३. *अस्तेय*—पराई वस्तु की चोरी न करना अस्तेय है। इसकी मनसा वाचा एवं कर्मणा साधना परमावश्यक है

४. *ब्रह्मचर्य*—आठ प्रकार के मैथुन का सर्वथा एवं सर्वदा परित्याग ही ब्रह्मचर्य है।

५. *अपरिग्रह*—विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा आदि दोषों को देखकर उनका परित्याग कर देना अपरिग्रह है।

सुन्दरदास ने यम के दस प्रकारों का उल्लेख किया है—[2]

१ अहिंसा	६ धृति
२ सत्य	७ दया
३ अस्तेय	८ आर्ज्जव
४ ब्रह्मचर्य	९ मिताहार
५ क्षमा	१० शौच

सुन्दरदास लिखित दश प्रकार के यमों में से चार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, पातंजल योग दर्शन में लिखित यम के भेदों से मिलते हैं। शेष अपरिग्रह को लेखक ने क्षमा, धृति, दया, आर्ज्जव, मिताहार एवं शौच से प्रकट किया है। सुन्दरदास ने यम के जिन दश भेदों का यहाँ उल्लेख किया है वे 'हठयोग प्रदीपिका' के आधार पर वर्णित हुए हैं। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार 'यम' के निम्नलिखित दश भेद हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्ज्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

इसी प्रकार मलूकदास ने यम के दश भेदों का उल्लेख ज्ञान बोध (अप्रकाशित) के द्वितीय विश्राम में निम्नलिखित शब्दों में किया है:—

---

[1] अहिंसासत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा॥
पातंजल योग दर्शन साधनपाद २, सूत्र ३०

[2] प्रथम अहिंसा सत्य हि जानि स्तेय सुत्यागै।
ब्रह्मचर्य दृढ़ ग्रहै क्षमा धृति सौं अनुरागै॥
दया बड़ौ गुन होइ आर्ज्जव हृदय सुआनै।
मिताहार पुनि करै शौच नीकी विधि जानै॥

ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास

सत अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन• तजब बिकार।
दया अर्जव छमा सौच पुनि संग्रह मित्याहार॥

मलूकदास एवं सुन्दरराम द्वारा वर्णित यम के दश भेदों में बड़ा साम्य है। सुन्दरदास ने यम के विभिन्न भेदों का उल्लेख करने के बाद प्रत्येक भेद के लक्षणों का भी सविस्तार वर्णन किया है। कवि की रचना से यहाँ एक-एक लक्षण को उद्धृत किया जाता है।

१. *अहिंसा*—मन करि दोष न दीजिए, बच्चन न लावै कर्म।
घात न करिये देह सौं, इहै अहिंसा धर्म॥

२. *सत्य*—कवि ने दो प्रकार के सत्य माने हैं। प्रथम वह सत्य जो बोलने और व्यवहार में व्यवहृत होता है। द्वितीय वह सत्य जो ब्रह्म से सम्बन्धित है। कहा जाता है "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" सम्भवतः इसी वाक्य के आधार पर कवि ने दो प्रकार के सत्य निश्चित किये हैं:—

सत्य सु दोइ प्रकार, एक सत्य जो बोलिये।
मिथ्या सब संसार, दूसर सत्य सु ब्रह्म है॥

३. *अस्तेय*—का अर्थ है चोरी न करना। दूसरे के सत्व का अपहरण ही अस्तेय है; पर सुन्दरदास ने दो प्रकार की चोरी मानी है। प्रथम दूसरे की वस्तु का अपहरण जो परम्परागत अर्थ है। द्वितीय मन की चोरी जिसके अन्तर्गत दम्भ, छल, कपट, मिथ्या, पाप, वासना आदि माने जाते हैं—

सुनिये शिष्य अवहिं अस्तेयं। चोरी द्वै प्रकार की हेयं॥
तनु की चोरी सबहि बषांने। मन की चोरी मन ही जाने॥

४. *ब्रह्मचर्य*—मैथुन आठ प्रकार के कहे गये हैं: "श्रवणं स्मरणं चैव, दर्शणं भाषणं तथा। गुह्य वार्ताश्च हास्यं च स्पर्शनंचाष्ट मैथुनम्॥" इन आठों प्रकार के मैथुनों का परित्याग ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय छेदन, कुडकी डालना, लोहे या पीतल का लगोटा लगाना अथवा औषधि द्वारा नपुंसकता धारण करना ब्रह्मचर्य नहीं है जैसा कि सुन्दरदास का कथन है—

ब्रह्मचर्य इहिं भाँति भली विधि पालिये।
कामसु अष्ट प्रकार सही करि टालिये॥
बांछि काछ दृढ़ वीर जती नहि होइ रे।
और बात अब नांहिं जितेन्द्रिय कोइरे॥

कवि ने अष्ट मैथुन के भेदों और लक्षणों का भी उल्लेख किया है। ये भेद ब्रह्मचर्य के विवेचन के साथ उद्धृत दक्षस्मृति (अ० ७ श्लोक ३१ ३२) से पूर्ण साम्य रखते हैं—

नारी सुमरन श्रवन पुनि, दृष्टि भाषित होइ।
गुह्य बारता हास्य रति, बहुरि स्पर्शय कोइ॥

शिष्य सुनिहिं यह भेद, मैथुन अष्ट प्रकार तजि ॥
कहै मुनीश्वर बन्द, ब्रह्मचर्य तब जानिये ॥

५. *क्षमा*—कवि सहनशीलता, कटु-वचनों का निवारण, क्षोभ, त्याग और पीड़ा देने वाले के प्रति किसी प्रकार के मनोविकारों के विकसित न होने देने को क्षमा के आवश्यक गुण माना है—

क्षमा अब सुनहिं शिष मोसौं, सहनता कहौं सब तोसौं।
दुष्ट दुख देहि जो भारी, दुसह मुख वचन पुनि गारी ॥
कदे नहि क्षोभ कौं पावै, उदधि महिं अग्नि बुझि जावै।
बहुरि तन त्रास दे कोऊ, क्षमा करि सहै पुनिसोऊ ॥

६. *धृति*—धृति का अर्थ धीरज है। कवि ने लौकिक जीवन तथा अध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन में धृति को आवश्यक माना है। धृति में कवि ने वीरता को भी एक आवश्यक तत्व माना है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण की अंतिम पंक्ति से प्रकट होता है—[1]

धीरज धारि रहै अभि अन्तर जौं दुख देहहि पाइ परै जू।
बैठत ऊठत बोलत चालत धीरज सौं धरि पाव धरै जू ॥
जागत सोवत जीमत पीवत धीरज ही धरि योग करै जू।
देव दयन्तहिं भूतहिं प्रेतहिं कालहुं सौं कबहूँ न डरै जू ॥

७. *दया*—समस्त धर्मों का मूल है दया। इसका विकास हृदय में होता है, फिर कर्म और वाणी में इसका प्रसार होता है।

सब जीवन के हित की जुक है। मन बाचक काय दयालु रहै।
सुखदायक हू सम भाव लियें। शिष्र जानि दया निरबैर हिये ॥

८. *आर्जव*—का प्रधान लक्षण है कोमलता। कवि के शब्दों में—

यह कोमल हृदय रहै निशिवासर बालै कोमल बांनी।
पुनि कोमल, दृष्टि निहारै सबकौं कोमलता सुख दानी ॥
ज्यों कोमल भूमि करै नीकी विधि वृद्धि है आवै।
त्यौं इहै आर्ज्जव लक्षण सुनि शिष्र योग सिद्धि कौं पावै ॥

९. *मिताहार*—शुद्ध, हलका, पोषक भोजन करना ही मिताहार है। कवि के शब्दों में—

जो सात्विक अन्नसु करै भक्ष। अति मधुर सुचिक्कण निरषि अक्ष।
तजि भाग चतुर्थय अहै सार। सुनि शिष्य कह्यौ यह मिताहार ॥

१०. *शौच*—शुद्धि दो प्रकार की होती है आन्तरिक एवं बाह्य। सद्भावों से आन्तिरिक और मज्जन स्नान से बाह्य शुद्धि होती है—

---

[1] तुलना कीजिए, गीता १८।३३। ३५ में धृति के लक्षण

बाह्यभ्यंतर मज्जन करिये । मृत्तिका जल करि बपु मल हरिये ।
रागादिक त्यागें हृदि शुद्धं । शौच उभय विधि जानि प्रबुद्धं ॥

पातंजल योग दर्शन के अनुसार नियम के पाँच भेद हैं—[1]

१ शौच
२ सन्तोष
३ तप
४ स्वाध्याय
५ ईश्वर प्रणिधान

शौच का अर्थ है पवित्रता । यह दो प्रकार का होता है (१) बाह्य शौच (२) आभ्यन्तर शौच । शरीर को जल प्रक्षालन आदि से शुद्ध रखना बाह्य शौच है । सत्य, स्वभाव, काम, क्रोध, मोह आदि का शरीर से समूल हटा देना आभ्यन्तरिक शौच है । *संतोष:* जीवन के निर्वाह के हेतु पर्याप्त वस्तु के अतिरिक्त अधिक की कामना न करना सन्तोष है । *तप :* शीतोष्ण, क्षुधा, पिपासा, आदि को द्वेषरहित होकर सहन करना तप है । *स्वाध्याय :* प्रणव मंत्र, भगवन्नाम, जप तथा शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय है । *ईश्वर प्रणिधान :* सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर में अर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है ।

सुन्दरदास ने नियम के भी दश भेद किये हैं[2]—

१ तप
२ सन्तोष
३ आस्तक्य
४ दान
५ पूजा
६ सिद्धांतश्रवण
७ ह्री
८ मति
९ जप
१० होम

नियम के जिन दस भेदों का लेखक ने उल्लेख किया है उनमें से तप तथा सन्तोष पातंजलयोग दर्शन से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त सुन्दरदास लिखित आस्तक्य, दान, पूजा, जप एवं होम योग दर्शन में लिखित ईश्वर प्रणिधान के अन्तर्गत आ जाते हैं । योग

---

[1] **शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणीधानानि नियमाः ॥**
पातंजल योग दर्शन, साधन पाद २, सूत्र ३२

[2] **तप सन्तोषहिं ग्रहै बुद्धि आस्त्यक्य सु आनय ।**
दान समुझि करि देइ मानसी पूजा ठानय ॥
बचन सिद्धांत सु सुनय लाज मति दृढ़ करि राषय ।
जाप करय मुख मौन तहाँ लग बचन न भाषय ॥
पुनि होम करै इहिं विधि तहाँ जैसी विधि सदगुरु कहैं ।
ये दश प्रकार के नियम हैं भाग्य बिना कैसे लहैं ॥

दर्शन में लिखित नियम के भेद 'स्वाध्याय' का अर्थ होता है जिनके द्वारा अपने कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान हो सके। वेद, शास्त्र, महापुरुषों के लेख आदि का पठन-पाठन एवं भगवान के आकार आदि का या गायत्री का एवं किसी भी इष्टदेवता के मंत्र का जप करना ही 'स्वाध्याय' है। कवि द्वारा उल्लिखित सिद्धांत श्रवण, ह्री तथा मति स्वाध्याय के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार योग, दर्शन और सुन्दरदास लिखित नियम के भेद में कोई अन्तर नहीं है। लेखक ने 'योग दर्शन' में नियम के भेदों के लिए प्रयुक्त दुरूह शब्दों के स्थान पर सरल और दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। कारण कि सन्तों ने अपना समस्त साहित्य अल्पज्ञ जनता के लिए रचा था। अपने विषय को सरल बनाने का ध्यान उन्हें सदैव रहता था। ऊपर कहा जा चुका है कि सुन्दरदास ने योग विषयक उपदेशों को देने के लिए 'हठयोग प्रदीपिका' को आधार बनाया है। 'हठयोग प्रदीपिका' में भी नियम के निम्नलिखित दश भेद मान्य हुए हैं—

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वर-पूजनम्।
सिद्धांतवाक्य श्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम्॥

अतः यह स्पष्ट है कि कवि ने इन यम तथा नियमों के भेदों का उल्लेख करने में 'हठयोग प्रदीपिका' ग्रन्थ को ही आधार बनाया है।

सुन्दरदास की भाँति मलूकदास ने भी नियम के दश भेद माने हैं—

ईश्वर पूजा आस्तीक, जप सन्तोष तप दान।
चहव कर्म सुभ असुभ होम अरु सुनिबो ज्ञान॥[1]

सुन्दरदास ने यम के लक्षणों की भाँति नियम के भेदों के लक्षणों का भी उल्लेख किया है। यहाँ उनके विषय में विचार कर लेना समीचीन होगा।

तप—कवि के अनुसार रूप, स्पर्श, रस और शब्द का त्याग, इन्द्रियों के सुख का परित्याग तप है। कवि ने तप के द्वारा आपा खो देने या मिटा देने को भी आवश्यक माना है।

शब्द स्पर्श रूपं त्यजणं। त्यों रस गंधं नांही भजणं॥
इन्द्रिय स्वादं ऐसे हरणं। सो तप जानहुँ नित्य मरणं॥

सन्तोष—वेदशास्त्रोक्त लाभ को अंगीकार करके कल्पना लोक के लाभों का परित्याग ही सन्तोष है—

देह को प्रारब्ध आइ आपै रहै, कल्पना छाड़ि निश्चिन्त होई।
पुनि यथा लाभ कौ वेद कहत है, परम सन्तोष शिव जानि सोई॥

---

[1] ज्ञान बोध (द्वितीय विश्राम)

आस्त्यक्य—कवि के शब्दों में आस्त्यक्य की परिभाषा निम्नलिखित है—

शास्त्र वेद पुरान कहत है शब्द ब्रह्म को निश्चय धारि।
पुनि गुरु सन्त सुनावत सोई बारबार शिष ताहि विचारि॥
होइ कि नहीं शोच मति आनहिं अप्रतीति हृदय ते टारि।
करि विश्वास प्रतीत आनि उर यह आस्तिक्य बुद्धि निरधारि॥

दान—परम्परा से धन, वस्त्र और अन्न का दान ही प्रसिद्ध रहा है; पर सुन्दरदास सदुपदेश के दान को भी आवश्यक समझते हैं—

दान कहत हैं उभय विधि सुनि शिष्य करहिं प्रवेश।
येक दान कर दीजिये येक दान उपदेश॥
येक दान उपदेश सुतौ परमारथ होई।
दूसर जल अरु अन्न बसन करि पोषे कोई॥
पात्र कुपात्र विशेष भली भू निपजय धानं।
सुन्दर देखि विचारि उभय विधि कहिये दानं॥

ज्ञानदान से आत्मा की पुष्टि होती है और अन्न से शरीर की, इसीलिए कवि ने दोनों दानों की उपयोगिता मानी है।

पूजा—कवि के अनुसार पूजा का निम्नलिखित लक्षण है—

तौ स्वामी संगा देव अभंगा निर्मल अंगा सेवैजू।
करि भाव अनूपं पाती पुष्पं गंधं धूपं षेवेजू॥
नहिं कोई आशा काटै पाशा इहिं विधि दासा निःकामं।
शिष ऐसैं जांनय निश्चय आनय पूजा ठानय दिन जामं॥

उपासना के लिए जिन तत्वों के नाम यहाँ गिनाये गए हैं उनमें से कतिपय साकार की उपासना में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु यहाँ पर पूजा का निराकार उपासना लिये हुए लक्षण कहा गया है। निराकार उपासना में भी साकार पदार्थों की भावना केवल मन को ठहराने के निमित्त है।

सिद्धांत श्रवण—सिद्धांत एवं शास्त्र वचन अनेक प्रकार के हैं। अतः श्रोता को हंस की भाँति नीर-क्षीर का विवेक रखकर सार तत्व को ग्रहण कर लेना चाहिए और निस्सार का परित्याग कर देना चाहिए।

बानी बहुत प्रकार है ताकौ नांहि न अन्त।
जोई अपने काम की सोई सुनिय सितन्त॥
सोई सुनिये सिद्धन्त सन्त सब-सब भाषत वोई।
चित्त आनिकै ठौर सुनिय नित प्रति जे कोई॥

यथा हंस पय पिवै रहै ज्यौं कौ त्यौं पानी।
ऐसे लेहु विचारि शिष्य बहु विधि है बानी॥

ह्री—ह्री का निम्नलिखित लक्षण है—

लज्जा करे गुरु संत जन की तौ सरे सब काज।
तन मन डुलावै नाही अपनी करै लोक हु लाज॥
लज्जा करै कुल कुटैम की लक्षण लगावै नाहिं।
इहिं लाजते सब काज होई लाज गहि मन माहिं॥

मति—सुख-दुख, सम्मान, अपमान और प्रशंसा आलोचना से विमुख रहना, स्वर्गादि की कामना न करना, प्रलोभनों में न पड़ना ही निश्चल मति के लक्षण हैं। गीता अ० २। ५३-६८ में भी मति के लक्षण पठनीय हैं।

नाना सुख संसार जनित जै तिनहि देखि लोलप नहिं होई।
स्वर्गादिक की करिय न इच्छा इहायुत्र त्यागै सुख दोई॥
पूजा मान बड़ाई आदर निन्दा करै आइ कैं कोई।
या प्रकार मति निश्चल जाकी सुन्दर दृढ़ मति कहिए सोई॥

जप—सुन्दरदास के अनुसार जप का लक्षण इस प्रकार है—

जाप नित्य व्रत धारि कैर मुख मौन सौ।
येक दोइ घटिका जु अहै मन मौन सौ॥
ज्यौं अधिक्य कछु होइ बड़ौ अति भाग है।
शिष्य तोहि कहि दीन्ह भलौ यह भाग है॥

होम—हवन दो प्रकार के हैं प्रथम साकल्य यज्ञ तथा द्वितीय ज्ञान-यज्ञ। ज्ञान यज्ञ का उल्लेख उपनिषदों में भी है। गीता में भी अनेक यज्ञों का वर्णन हुआ है। देखिये अ० ४।१६, २३ तथा ३२।

अब होम उभय प्रकार सुनि शिष कहौं तोहि बंषानि।
इक अग्नि महि साकल्लि होमै सो प्रवृत्ती जांनि।
जो निवृत्ती यज्ञास होई ताहि और न धोम।
सो ज्ञान अग्नि प्रजालि नीकै करै इंद्रिय होम॥

पातंजलि योग दर्शन के अनुसार "स्थिरसुखमासनम्" अर्थात् निश्चल होकर एक ही स्थिति में चिरकाल तक बैठने का अभ्यास ही आसन है।[1] शरीर को सीधा एवं स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जाने के अनन्तर शरीर विषयक समस्त चेष्टाओं का परित्याग कर देना

---

[1]पातंजल योग दर्शन, पाद २, सूत्र ४६

ही प्रयत्न शैथिल्य है, इस साधन से एवं परब्रह्म में मन नियोजित करने से आसन की सिद्धि होती है।[१] आसन सिद्धि अधिक से अधिक ४ घण्टा ४८ मिनट तक एक ही स्थिति में बैठने पर तथा कम-से-कम ३ घण्टा २६ मिनट अभ्यास करने पर होती है। आसन सिद्ध हो जाने के पश्चात् शरीर पर शीतोष्णादिक द्वन्द्वों का प्रभाव नहीं पड़ता है। शरीर में सब प्रकार की पीड़ा सहने की शक्ति का विकास हो जाता है। अतः ये द्वन्द्व चित्त को चंचल बनाकर साधन में विघ्न नहीं डाल सकते हैं।[२] शिवसंहिता के अनुसार आसन ८४ प्रकार के होते हैं।[३] पद्मासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, दंडासन, मयूरासन आदि प्रसिद्ध आसन हैं। प्रत्येक आसन शरीर को निरोग और शक्तियुक्त बनाता है। आसन सिद्ध साधक का हृदय सदैव ईश्वरीय चिन्तन के लिए उत्साहित बना रहता है।

सुन्दरदास ने ज्ञान समुद्र के तृतीय उल्लास में यम नियमादि के लक्षणों के उल्लेख के पश्चात् आसनों के महत्त्व एवं उपयोगिता पर विचार अभिव्यक्त किए हैं। लेखक के अनुसार आसन की साधना से अनेक रोग एवं खेद मिट जाते हैं। जितने ऋषियों मुनियों तथा योगियों को साधना के क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई है वे सभी आसन-सिद्ध थे। शिव शक्ति के साथ विचरण करते हुए भी दृढ़ आसन हैं।[४]

कवि के अनुसार चौरासी आसनों में पद्मासन एवं सिद्धासन साररूप है :

चतुराशी आसननि में, सार भूत द्वै जांनि।
सिद्धासन पद्मासनहिं, नीके कहौं बखांनि॥
शिव और जु आसन हरहि रोग।
परि इनि दुइ आसन सधय योग।
ताते तूं ये अब उभय साधि।
जब लग पहुँचे निर्भय समाधि॥

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि सुन्दरदास योग साधना के लिए सिद्धासन एवं पद्मासन को अत्यावश्यक समझते हैं। अन्य आसन तो शरीर को निरोग करते हैं पर कवि के शब्दों

---

[१]प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्॥ पातंजल योग दर्शन, साधन पाद २, सूत्र ४७

[२]ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ... ... सूत्र ४८

[३]चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधानि च।
शिव संहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४

[४]प्रथम कहौ शिव आसन भेदा। जातें रोग मिटहि बहु वेदा।
ऋषि मुनि योगी ब्रह्माराधे। तिन सब पहले आसन साधे॥
शिव जानत हैं सब योग कला। नित संग शिवा पुनि हैं अचला॥

में "परि इनि दुइ आसन सधय योग"। गोरक्ष पद्धति में भी इन दो आसनों का बड़ा महत्त्व बताया गया है :

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥१०॥

हठयोग प्रदीपिका में भी सिद्ध आसन तथा पद्मासन को बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। सिद्धासन के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि "नासनं सिद्ध सदृशं"। हठयोग प्रदीपिका का मत है कि :

सिद्धं पद्मं तथा सिंह भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठे सिद्धासने सदा ॥३४॥

पद्मासन में बायें जंघा पर दाहिने पैर को रखकर बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखा जाता है। दोनों पैरों की एड़ियाँ नाभि के दोनों पार्श्वों में लगी रहती हैं और जानु पृथ्वी से स्पर्श किये रहते हैं। पृष्ठ भाग से दोनों हाथों को ले जाकर बायें हाथ से बायें पैर का अँगूठा और दाहिने हाथ से साधक दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ता है। जालन्धर बन्ध लगा कर साधक दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखता है। इस आसन के अभ्यास से लम्बी जिह्वा को उलट कर जिह्वामूल में ले जाने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। इस आसन से कुंडलिनी महाशक्ति जाग्रत होती है तथा सुषुम्ना नाड़ी सीधी रहती है। इसी आसन से फुफ्फुसों की श्वासोच्छ्वास नियमित हो जाती है। इसके अभ्यास से श्वास, जीर्णज्वर, यकृत विकृत, आमवात, कास, गृध्रसी, रक्त-विकार, चर्मरोग, कटिवात, उदरवात तथा फुफ्फुसों की निर्बलता दूर हो जाती है। पद्मासन की इसी प्रक्रिया का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में उपलब्ध होता है।

दच्छिण उरु उप्परय प्रथम बामहि पग आनय।
बांमहि उरु उप्परय तबहिं दच्छिण पग ठानय ॥
दोऊ कर पुनि फेरि पृष्टि पीछे करि अवयव।
दृढ़ कै ग्रहै अगुष्ठ चिबुक बच्छस्थल लावय ॥
इहिं भाँति दृष्टि उन्मेष करि अग्र नासिका राषिये।
सब व्याधि हरण योगीन की पद्मासन यह भाषिये ॥

सिद्धासन में बाँया पैर उसकी जंघा की ओर ले जाकर एड़ी की सीवनी अर्थात् गुदा तथा उपस्थेन्द्रिय के मध्य इस प्रकार दबा कर रखा जाता है कि बाँयें पैर का तलवा दायें पैर की जंघा का स्पर्श करता है। इसी प्रकार दाँयें पैर उसी जंघा की ओर ले जाकर एड़ी को जघास्थि अर्थात् उपस्थेन्द्रिय के ऊपर इस प्रकार से दबा कर रखा जाता है कि दाँयें पैर की अंगुलियाँ बाँयें पैर की पिंडली तथा जंघा के बीच में आ जाती हैं। तत्पश्चात्

उसी प्रकार बाँये पैर की अँगुलियाँ दाँये पैर की पिंडली तथा जंघा के बीच भली-भाँति डाली जाती है और उपस्थेन्द्रिय एवं अंडकोशों को दाँये पैर के नीचे ठीक प्रकार से रखा जाता है। इस आसन में ज्ञान मुद्रा तथा जालन्धर बन्ध किया जाता है और दृष्टि भ्रूमध्यस्थ रखी जाती है। सुन्दरदास ने सिद्धासन का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

येंडी बाम पाँव की लगाये सीवनि के बीचि।
वाही जोनि ठौर ताहि नीकै करि जानिये॥
तैसे ही युगति करि विधि सौं भले प्रकार।
मेढ़ हू के ऊपर दच्छन पाव आनिये॥
सरल शरीर दृढ़ इन्द्रिय संयमैं करि।
अचल ऊरध दृश्य भ्रू के मध्य ठानिये॥
मोच्छ के कपाट को उघारत अवश्यमेव।
सुन्दर कहत सिद्ध आसन बखानिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दरदास ने पद्मासन एवं सिद्धासन के जिस प्रक्रिया और विधान का वर्णन किया है वह योग शास्त्र में वर्णित प्रक्रिया से पूर्ण रूपेण साम्य रखता है।

योगमार्ग में आसन के पश्चात् प्राणायाम की साधना होती है। महर्षि पतजल के शब्दों में—

(पातंजलि योग दर्शनम् साधन पाद ३, सूत्र ४६)

अर्थात् आसन की सिद्धि हो जाने के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश अर्थात् ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है तब साधक का ज्ञान स्वतः सूर्य के समान प्रकाशित हो जाता है।[1] प्राणायाम की साधना से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है अर्थात् उसे अपेक्षित समय और स्थान पर स्थिर किया जा सकता है। धारणाओं में मन की योग्यता एवं गति बढ़ जाती है।[2] प्राणायाम साधना से मन नियंत्रित होता है। मनु के अनुसार जिस प्रकार धातुओं को अग्नि में तपाने से उनका मैल विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणों को रोकने या नियंत्रण से इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं :

दह्यन्ते ध्यानमानानां धातूनां हि यथा मला।
तथेन्द्रियाणाम् दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संच्चयात्॥

---

[1]ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् पातंजलयोग दर्शन साधनपाद २, सूत्र ५२
[2]धारणासु च योग्यता मनसः ... ... सूत्र ५३

प्राणायाम के श्वास प्रश्वसादि की वायु के तीन भेद माने गये हैं जिन्हें पूरक, कुम्भक एवं रेचक कहते हैं।

१. पूरक—*अपान वायु* को नासिका द्वारा खींचकर उदर में भरने को पूरक कहते हैं इसे श्वास भी कहा जाता है।

२. कुम्भक—भरी हुई वायु को यथा सम्भव रोकने को कुम्भक कहा गया है।

३. रेचक—रुद्ध अशुद्ध हुई वायु को नासिका द्वारा शनैः शनैः निकालने को रेचक कहते हैं। इसे प्रश्वास भी कहा गया है।

प्राणायाम प्रकरण के प्रारम्भ में कवि ने 'अथ प्राणायाम' शीर्षक के अन्तर्गत पूरक कुम्भक और रेचक का केवल निम्नलिखित उल्लेख मात्र कर दिया है। परन्तु चक्रों के विवेचन के पश्चात् इन पर कवि ने अपना मत सविस्तार व्यक्त किया है :

आगे कीजै प्राणायामं। नाड़ी चक्रं पावै ठामं।
पूरै राषै रेचै कोई। ह्वै निःपापं योगी सोई॥

शिव संहिता में प्राणायाम की विधि का निम्नलिखित निरूपण किया गया है :

ततश्च दक्षांगुष्ठेन विरुद्धय पिंगलां सुधी
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत्
ततस्त्यक्त्वा पिंगलयाशनैः न वेगतः
। शिव संहिता तृतीय पटल श्लोक २२।

तथा—पुनः पिंगलयाऽऽपूर्य यथा शक्त्या कुम्भयेत्
इडया रेच्येद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः
(शिव संहिता तृतीय पटल श्लोक २३)

अर्थात् तत् पश्चात् बुद्धिमान साधक अपने दाहिने अंगूठे से पिंगला अर्थात् नासिका का दाहिना भाग अवरुद्ध करे। फिर नासिका के बाँये भाग इडा से श्वास भीतर खींचे और यथासम्भव वायु को अन्दर अवरुद्ध रखे। तदनन्तर शनैः शनैः दाहिने भाग से वायु को निकाले। पुनः नासिका के दाहिने भाग से श्वास खींचे और यथा शक्ति अवरुद्ध रखे। पुनः बाँये भाग से शनैः शनैः वायु को निकाल दे।

सुन्दरदास ने इन पूरक, कुंभक एवं रेचक के द्वारा प्राणायाम क्रिया का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

इड़ा नाड़ी पूरक करै, कुंभक राखै माहिं।
रेचक करिये पिंगला, सब पातक कटि जाहिं॥
बीज मंत्र संयुक्त, षोडश पूरक पूरिये।
चवसठि कुम्भक उक्त, द्वात्रिंशति करि रेचना॥

बहुरि विपर्यय ऐसे धारै । पूरि पिंगला इड़ा निकारै ।
कुम्भक राखि प्राण को जीतै । चतुर्वार अभ्यास व्यतीतै ॥

ऋषियों द्वारा उपदेशित प्राणायाम की इस पद्धति का उल्लेख कर चुकने के पश्चात् लेखक ने पाठकों के समक्ष मतमतांतर प्रस्तुत करने के हेतु 'गोरक्ष पद्धति' के आधार पर भ प्राणायाम के सिद्धांतों का वर्णन किया है।[1] गोरक्ष पद्धति में "हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः । हंस हसेत्युमुंमंत्रं जीवो जपति सर्वदा" मंत्र है। यह हंस नाम का अजपा गायत्री मंत्र है। योगचिन्तामणि ग्रंथ में भी इसका वर्णन है। कवि ने गोरक्षोक्त सिद्धांत का वर्णन इन छन्दों में किया है :

सोहं सोहं सोहं हंसो । सोहं सोहं सोहं अंसो ।
स्वासो स्वासं सोहं जापं । सोहं सोहं आपै आपं ॥
द्वादश मात्रा पूरक करणं । द्वादश मात्रा कुंभक धरणं ॥
द्वादश मात्रा रेचक जाणं । पूरबवत सु विपर्यय ठाणं ॥
अधमे द्वादश मात्रा उक्तं । मध्यम मात्रा द्विगुणा मुक्तं ॥
उत्तम मात्रा त्रिगुणा कहिये । प्राणायाम सुनिर्णय कहिये ॥

गोरक्ष पद्धति में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। कवि ने पूर्ण रूप से गोरक्ष पद्धति मत को अपने शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥
। श० २ । श्लोक ५ ।

अर्थात् समस्त प्राणायाम में मात्राओं का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से होता है ।

	पूरक की मात्रा	कुंभक की मात्रा	रेचक की मात्रा	मात्रा के काल का निर्णय ॐ अथवा गणना द्वारा किया जा सकता है।
निकृष्ट प्राणायाम में	४	१६	८	
मध्य प्राणायाम में	८	३२	१६	
उत्तम प्राणायाम में	१६	६४	३२	

---

[1]यह ऋषिनि उक्त सुनाइहों इहिं भाँति प्राणायाम ।
सद्गुरु कृपातें पाइये मन होइ अति विश्राम ॥
अब मत मतांतर कहत हौं सुनि शिष्य अत्य प्रभाव ।
गोरक्ष उक्त बानि हौं तिहि सुनत उपजय चाव ॥

नासिका द्वारा ग्रहीत एवं अवरुद्ध वायु कुम्भक है सुन्दरदास ने इस कुम्भक के आठ भेदों का वर्णन किया है—

> सूरय भेदन प्रथम द्वितीय उज्जाई कहिये।
> शीतकार पुनि त्रितिय शीतली चतुरथ ग्रहिये॥
> पंचम है भस्त्रिका भ्रामरी षष्टसु जानहु।
> मूरछना सप्तमं अष्टमं केवल मानहुँ॥[1]

---

[1] कुंभक अष्टांग का परिचय:—

१. सूर्यभेदन—बैठकर दाहिनी नासिका से पूरक भरके, यथाशक्ति कुंभक करके बांयी नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। आरंभ में १० से २० प्राणायाम करे। इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता बढती है। इसकी साधना शीत ऋतु में हितकर है। इसकी साधना से शिरोरोग, कृमिरोग एवं ८४ प्रकार के वायुविकार नष्ट हो जाते हैं।

२. उज्जायी—दोनों नासिकाओं से पूरक भरके यथाशक्ति कुम्भक करे। फिर बांयी नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। यह भी ऊष्ण प्राणायाम है। इसकी साधना शीतकाल में हो उपयोगी है। आरम्भ में १० से २० प्राणायाम करे। इसके करने से दम, क्षय, गुल्म तथा जालन्धर रोग विनष्ट हो जाते हैं।

३. शीतकार—दोनों नासिकाएं अवरुद्ध करके ओष्ठ द्वारा पूरक भरे। यथा सम्भव कुंभक करके शनैः शनैः रेचन करे। जैसा शीतकारु नाम है वैसा इसका गुण। अतः ग्रीष्म में साध्य हैं। ताप, तिल्ली, चौथिया आदि रोगों को नष्ट करने वाला प्राणायाम है। इसकी साधना से आयु बढ़ती है।

४. शीतली—दोनों नासिकाएं बन्द करके जिह्वा को कौए की चोंच की नाईं बल देकर जिह्वा द्वारा वायु-पान करके पूरक भरे। यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासिकाओं से शनैः शनैः रेचन करे। आरम्भ में १० से २० प्राणायाम करे। यह भी शीतल है अतः ग्रीष्म ऋतु में करने योग्य है। यह भी शीतकार के समान उपयोगी है। इससे सौंदर्य एवं लावण्य में वृद्धि होती है।

५. भस्त्रिका—यह दो प्रकार से साध्य है। प्रथम, बांई नासिका से कम से कम १० वेगपूर्वक पूरक रेचक करके ग्यारहवीं बार उसी नासिका से पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्य नाड़ी से शनैः शनैः रेचन करे। फिर दाहिनी नासिका से कम से कम १० बार वेगपूर्वक घर्षण करके उसी से पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके शनैः शनैः बांई नासिका से रेचन करे। प्रारम्भ में ५ से १० प्राणायाम करे। यह सम-शीतोष्ण है। अतः सदैव साध्य है। इसकी साधना से बात, पित्त, कफ का

कुम्भक के इस वर्गीकरण का आधार हठयोग प्रदीपिका के हैं। इस ग्रन्थ में भी कुम्भक के इन्हीं भेदों का उल्लेख मिलता है—

सूर्य भेदन मुज्जयी सीत्कारी सीतली तथा।
भस्तिका भ्रामरी मूर्च्छाप्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥

। उपदेश २ । श्लोक ४४ ।

बन्धों के बिना प्राणायाम करना लाभप्रद नहीं है वरन् हानि की सम्भावना है। बन्धों के बिना प्राणायाम में साधक सफल भी नहीं हो सकता। सुन्दरदास ने भी प्राणायाम में बन्धों को लगाना आवश्यक माना है।[1] बन्धों के प्रयोग की विधि निम्नलिखित है—

नाश होता है। इसके ६ मास के १० से १० की संख्या में अभ्यास से कुंडलिनी जाग्रत होती है। द्वितीय दाहिनी नासिका से बांयी नासिका की ओर कम से कम १० घर्षण करके दाहिनी नासिका से पूरक भरे। यथाशक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे बाईं नासिका से रेचन करे। पुनः विपरीत क्रम से प्राणायाम साधना करे।

६. मूर्च्छा—इसको षणमुखी मुद्रा भी कहते हैं। इस प्राणायाम में पाँचों भूतों के पञ्चरङ्ग हैं। पृथ्वी का पीला, जल का सफेद, तेज का लाल, वायु का हरा एवं आकाश का नीला। यह प्राणायाम समाधि अवस्था में चित्त का निरोध करता है। दोनों हाथों के अंगूठे, दोनों कानों में, दोनों तर्जनी, दोनों आँखों पर, दोनों मध्यमा नासिका छिद्रों पर अनामिका एवं कनिष्ठिका मुंह पर रख कर मूल बन्ध तथा जालंधर बंध को आरम्भ से अंत तक स्थिर रख के बांयी नासिका से पूरक भरे। यथासम्भव कुम्भक करके दाहिनी नासिका से रेचन करे।

७. भ्रामरी—यह प्राणायाम लोम विलोम की भाँति होता है। केवल भेद इतना है कि बांयी नासिका से पूरक भरते समय भ्रामरी का सा नाद स्वर में उत्पन्न करे। इसी प्रकार विपरीत क्रम में भी करे। इससे एकाग्रता एवं आनन्द मिलता है।

८. प्लाविनी—पद्मासन से बैठ कर दोनों हाथों को ऊपर की ओर लावे एवं सीधे रखे। पुनः दोनों नासिकाओं से पूरक भरे, तदुपरांत लेट जाय। लेटते समय दोनों हाथों को समेट कर तकिया की भाँति सिर के नीचे लगा ले। जहाँ तक कुम्भक ठहरे वहाँ तक ऐसी भावना करे कि मेरा शरीर रुई की भाँति हल्का है। फिर बैठकर पूर्वस्थिति में दोनों नासिका से रेचन करे।

[1] ये कुम्भक अष्ट प्रकार के होइ पवन हम रोधनं।
तव मुद्राबन्ध लगाइ यहि प्रथम करै घट शोधनं ॥

(१). पूरक के समय ... मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध।
(२). कुम्भक के समय ... मूलबन्ध और जालन्धरबन्ध।
(३). रेचक के समय ... मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध।

मूलबन्ध प्राणायाम के प्रारम्भ से अंत तक रहता है। इसके अतिरिक्त एक और बन्ध रहना आवश्यक होता है। गुदा के दृढ़तापूर्वक संकोच को मूलबन्ध ठुड्डी के कंठकूप में दृढ़ता पूर्वक स्थापन जालन्धर बन्ध और पेट के नाभि से नीचे एवं ऊपर के आठ अंगुल भाग को पार्श्वमोत्तान करने को उड्डियानबन्ध भी कहते हैं। इन बन्धों को मुद्रा भी कहा जाता है।

प्राणायाम की साधना से नाद सिद्ध हो जाता है। कहा गया है—

"प्राणायाम चिराभ्यासैः नादः स्वयं सिद्धः" अर्थात् प्राणायाम के लिए चिर अभ्यास दीर्घ साधना तथा तत्परता की आवश्यकता होती है, परन्तु नाद प्राणायाम की सिद्धि के अनन्तर स्वतः सिद्ध हो जाता है। सुन्दरदास भी प्रस्तुत कथन से सहमत प्रतीत होते हैं। कवि के मतानुसार कुम्भक की अष्टांग साधना के अनन्तर अनहद नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनहदनाद की दश ध्वनियों के श्रवण से समस्त विषाद एवं भवताप दूर हो जाते हैं—

जनहि अष्ट कुम्भक सधहि, बाजै अनहद नाद।
दस प्रकार की धुनि सुनहिं, छूटहिं सकल विषाद॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६६)

मन के लय का सर्वोत्तम साधन है नादानुसंधान। शंकराचार्य ने 'योगतारावली' में लिखा है कि योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव जी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं। उन सब में नादानुसंधान सुलभ एवं श्रेष्ठ है।[1] शिव संहिता में इस नाद साधना को सर्वोत्कृष्ट साधन माना है—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भक समं बलम्।
न खेचरी मुद्रा न नाद सदृशो लयः॥

अर्थात् सिद्धासन के समान कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भक के समान कोई बल नहीं, खेचरी मुद्रा के तुल्य कोई मुद्रा नहीं, मन लगने वाले साधनों में अनहद नाद की तुलना करने वाला कोई भी अन्य साधन नहीं है।

---

[1]सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष
लयावधानानि, वसन्ति लोके।
नादानुसन्धान समाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥

मानव के शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। यह विधि वायु प्रकृति वाले साधकों के लिए है। जिनकी प्रकृति पित्त की है उनकी नाड़ी शुद्ध रहती है अतः सवा कोटि जाप जप करने से ही उन्हें अनहद नाद की प्राप्ति होती है। योगशास्त्र में नाद दश प्रकार का कहा गया है। दशम एवं अंतिम नाद बादल की गर्जन है। इस दशम नाद की परिपक्व अवस्था में साधक की प्राणवायु एवं मन दोनों ही लय हो जाते हैं। सुषुम्न ब्रह्मनाड़ी के अन्तर्गत प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना प्रारम्भ हो जाता है। अनहद नाद को सुरत के आधार सुर दक्षिण कान से सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। नाद मानसिक लय का कारण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि नाद के दश प्रकार हैं। हठयोग प्रदीपिका में नाद के निम्नलिखित दश प्रकार हैं—

आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर संभवाः।
मध्ये मर्द्दल शंखोत्था घंटा काहलजास्तथा ॥८५॥
अन्तेतु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः।
इति नाना विधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥८६॥
(ह० यो० प्र० । उप० ४)

त्रिपुरसारसमुच्चय में नाद के पाँच भेद वर्णित हैं।[1] सुन्दरदास ने नाद के दश भेद लिखे हैं—

१. भ्रमर गुंजार
२. शंख ध्वनि
३. मृदंग ध्वनि
४. ताल ध्वनि
५. घंटा रव
६. वीणा ध्वनि
७. भेरी ध्वनि
८. दुंदुभी ध्वनि
९. सागर गर्जन
१०. मेघ घोष[2]

[1] ।१। भ्रमर, ।२। वशी, ।३। घन्टा, ।४। समुद्र गर्जन, ।५। मेघगर्जन

[2] प्रथम भ्रमर गुंजार शंष धुनि दुतिय कहिज्जै ॥
त्रितिये बजहिं मृदङ्ग चतुर्थ ताल सुनिज्जै ॥
पञ्चम घन्टा नाद षष्ट वीणा धुनि होई।
सप्तम बज्जहिं भेरि अष्टमं द्वन्द्वभि दोई ॥
अब नवमै गर्ज्ज समुद्र की दशम मेघ घोषहि गुनै।
कहि सुन्दर अनहद नाद कौ दश प्रकार योगी सुनै ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६७)

हठयोग प्रदीपिका में मुद्राओं का बड़ा महत्व वर्णित हुआ है।[1] इन्हें 'जरामरणनाशनम्, अष्टैश्वर्यप्रदायकम्, क्षीयन्तेमरणादयः' आदि कहा गया है। प्रत्येक साधक को इन मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है तभी कुंडलिनी जाग्रत होती है और जाग्रत होने के अनन्तर वह षट् चक्रों से होती हुई सहस्रार में प्रविष्ट होती है। ये मुद्राएँ दश हैं—

१. महामुद्रा	६. जालन्धर बन्ध
२. महाबन्ध	७. विपरीतकरणी
३. खेचरी	८. वज्रोली
४. मूलबन्ध	९. शक्तिचालिनी
५. उड्डियान	१०. महावेध

सुन्दरदास ने इन मुद्राओं का उल्लेख निम्नलिखित छन्द में किया है—

सुनि महामुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी।
उड्यान बन्ध सु मूलबन्धहि बन्ध जालन्धर करी॥
विपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिए।
इम होइ योगी अमर काया शशिकला नित पीजिये॥

यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम की साधना के पश्चात् साधक प्रत्याहार की साधना करता है। प्रत्याहार में साधक की इन्द्रियाँ अपने कार्य से विलग होकर मन अनुकूल हो जाती हैं।[2] प्रत्याहार सिद्ध हो जाने के अनन्तर इन्द्रिय विजय के लिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस स्थिति पर पहुँचने के पश्चात् साधक की इन्द्रियाँ मन के अनुरूप बन जाती हैं। वे मन की अनुगामिनी हो जाती हैं। यदि साधक बाह्य जगत् से विमुख है और उसे नहीं देखना चाहता है तो भी पूर्णरूपेण खुले रहने पर भी उसके नेत्र बाह्य संसार के चित्र को नहीं ग्रहण करते है। इसी प्रकार स्वादेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय आदि अपना-अपना कार्य भूल जाती हैं और मन के अनुरूप बन जाती हैं। इन्द्रियाँ मन के इतनी वशीभूत रहती हैं कि मनोवान्छित पदार्थ मन के समक्ष प्रस्तुत कर देती हैं। "मन संगीत सुनना चाहता है तो कर्णेन्द्रिय मधुर से मधुर शब्द तरंगों को ग्रहण कर मन के समीप उपस्थित कर देती है। यदि मन सुन्दर दृश्य देखना चाहता है तो नेत्र चित्र तरंगों को ग्रहण कर मन के पटल पर परम सुन्दर चित्र अंकित कर देता है।" (कबीर का रहस्यवाद

---

[1] ह० यो० प्र० उप० ३।६ १४

[2] स्वविषया संप्रयोग चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः

पा० यो० द० साधन पाद २, सूत्र ५४

पृ०७२) प्राणायाम मन को नियंत्रित कर देता है और प्रत्याहार इन्द्रियों को। महर्षि पतंजलि के अनुसार—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥

(पा० यो० द० साधन पाद २, सूत्र ५५)

अर्थात् प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर योगी की इन्द्रियाँ उसके सर्वथा वशीभूत हो जाती हैं। सुन्दरदास ने प्रत्याहार प्रकरण में इन्द्रियों के निग्रह पर जोर दिया है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ, पैर और सर को अन्दर कर लेता है उसी प्रकार साधक को स्वइन्द्रिय अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए। जैसे सूर्य की किरणें जलादि रस द्रव्यों को खींच लेतीं हैं उसी प्रकार साधक इन्द्रियों का निग्रह करता रहे। कवि के शब्दों में—

श्रवण शब्द कौं ग्रहत हैं नयन ग्रहित है रूप।
गंध ग्रहत है नासिका रसना रस की चूप॥
रसना रस की चूप तुचा सुस्पर्श हि चाहै।
इनि-पंचनि कौं फेरि आतमा नित्याराहै॥
कूर्म अंगहि ग्रहै प्रभा रवि कर्षय द्रवणं।
इम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक श्रवणं॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६६)

योगशास्त्र में प्रत्याहार के पश्चात् धारणा की साधना का विधान है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक आदि देशों में से किसी उपयुक्त ध्येय देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना ही धारणा है। धारणा में मन को किसी स्थान या वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत किया जाता है। ध्येय के आश्रयभूत स्थान पर चित्त को एकाग्र करके नियोजित करना ही धारणा है।[1] ध्यान लगाने के हेतु शरीर के अन्तर्गत दश स्थान निर्धारित किए गए हैं—

१. नाभि	६. नासिकाग्र
२. हृदय	७. नेत्र
३. वक्षःस्थल	८. भ्रूमध्य
४. कंठ	६. मूर्धस्थान
५. मुख	१० प्राङ[2]

[1]देश बन्धश्चित्तस्य धारणा, पा० यो० द० विभूतिपाद ३, सूत्र १

[2]प्राङ नाभ्यां हृदये चाथ तृतीय तथोरसि।
कंठे मुखे, नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्यमूर्धसु।
किंचित स्मात्परस्मिंश्चधारणे दश कीर्तितः (गरुण पुराण)

धारणा की सिद्धि के हेतु निम्नलिखित मुद्राओं का अभ्यास परमावश्यक है—

१. *अगोचरी*—नासिका के अग्र भाग पर मन को नियोजित कर स्थिर रखना।

२. *भूचरी*—नासिका के अग्र भाग से ४ अंगुल दूर स्थान में मन को स्थिर रखना।

३. *चाचरी*—मन को आज्ञा चक्र में स्थिर रखना। इसी को पत्तान्तर में खेचरी कहा जाता है।

४. *शाम्भवी*—मन को आज्ञा चक्र में स्थिर करके दृष्टि को समस्थल में मनोनीत पदार्थ की कल्पना में ठहराना ही प्रस्तुत मुद्रा है। दृष्टि को अधिक से अधिक दो हाथ और कम से कम एक बालिश्त के अन्तर से रखना चाहिए। इसके हेतु बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं है। केवल बहिर्लक्ष्य एवं अन्तर्लक्ष्य अपेक्षित है।

सुन्दरदास ने धारणा प्रकरण को निम्नलिखित पंच तत्वों के अन्तर्गत लिखा है—

१. पृथ्वी तत्व की धारणा
२. जल तत्व की धारणा
३. तेज तत्व की धारणा
४. वायु तत्व की धारणा
५. आकाश तत्व की धारणा

प्रत्येक तत्व की धारणा के विषय में कवि के विचारों को अविकल्प यहाँ उद्धृत किया जाता है—

पृथ्वी तत्व की धारणा—

यह चार कोण लकारहि युक्तं जानहुँ पृथ्वी रूपं।
पुनि पीत वर्ण हृदि मण्डल कहिये विधि अंकितसु अनूपं।।
तहँ घटिका पंच प्राणं करि लीनं चित्त स्थम्भन होई।
सुनि शिष्य अवनिजय करै नित ही भूमि धारणा सोई।।

जल तत्व की धारणा—

अर्द्धर वकार संयुक्त जानि जल चन्द्र खंड निर्द्धारं।
पुनि ऋषीकेश अंकित अति शोभित कंठ पारदाकारं।।
तहं घाटिका पंच प्राण करि लीनं चित्त धारिकैं रहिये।
विष काल कूट व्यापै नहिं कबहू वारि धारणा कहिये।।

तेज तत्व की धारणा—

यह अग्नि त्रिकोण रेफ संयुक्तं पद्मराग अरुणासं।
पुनि इन्द्र गोपु दुति मध्य तालुका कहिये रुद्रनिवासं।।

तहँ घटिका पंच प्राणं करि लीनं ग्रन्थ हिं उक्त बषानं ।
सुनि शिष्य अग्नि भयहन्ता कहिये तेज धारणा जानं ॥

वायु तत्व की धारणा—

भ्रु व मध्य यकार सहित षटकोणं अैसी लक्ष विचारं ।
पुनि मेघ वर्ण ईश्वर करि अंकित वारम्बार निहारं ॥
तहँ घाटिका पंच प्राण करि लीनं खेचर सिद्धिहि पावै ।
सुनि शिष्य धारणा वायु तत्व की जो नीकै करि आनै ॥

आकाश तत्व की धारणा—

अब ब्रह्मरंध्र आकाश तत्व है सुभ्र वर्त्तुलाकारं ।
जहं निश्चय जानि सदाशिव तिष्टति अक्षर सहित हकारं ॥
तहँ घटिका पंच प्राण करि लीनं परम मुक्ति की दाता ।
सुनि शिष्य धारणा व्योम तत्व की योग ग्रन्थ विख्याता ॥
यह येक थंभिनी येक द्राविणी येक सु दहनी कहिये ।
पुनि येक भ्रामिणी येक शोषणी सद्गुरु बिना न लहिये ॥
ये पंच तत्व की पंच धारणा तिन के भेद सुनाये ।
अब आगे ध्यान कहौं बहु विधि करि जो ग्रन्थनि महिं गाये ॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास, ७०—७५)

'धारणा' के पश्चात् 'ध्यान' की साधना की जाती है चित्तवृत्ति को निरन्तर ध्येय वस्तु में नियोजित करना 'ध्यान' कहा जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्येय वस्तु में चित्त नियोजित किया जाय। उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का क्रम चलना, उसके मध्य में अन्य वृत्ति का उद्रेक न होना ही 'ध्यान' है—

तत्र प्रत्ययै कतानता ध्यानम्

(पा० यो० द० विभूति पाद ३, सूत्र २)

सुन्दरदास ने ध्यान के चार भेदों का उल्लेख किया है—[1]

१. पदस्थ ध्यान
२. पिंडस्थ ध्यान
३. रूपस्थ ध्यान
४. रूपातीत ध्यान

---

[1]प्रथमहिं ध्यान पदस्थ है, दुतिये पिंड अधीत ।
त्रितिय ध्यान रूपस्थ पुनि, चतुर्थ रूपातीत ॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ७६)

सुन्दरदास के मत से विविध प्रकार के विरचित परमार्थ आदि के उपदेशों से पूर्ण महावाक्यों या महामंत्रों के जप सहित ध्यान 'पदस्थ ध्यान' है—

जे पद चित्र विचित्र रचे अति गूढ़ महा परमारथ जामैं।
ते अवलोकि विचार करै पुनि चित्त धरै निहचै करि तामैं॥
कै करि कुम्भक मंत्र जपै उर अन्तर ते पुनि जाँनि अनामैं।
सुन्दर ध्यान पदस्थ इहै मन निश्चल होइ लहै जु विरामैं॥

शरीर को स्वच्छ करके चक्रों और सद्गुरु का ध्यान धारण करना ही पिंडस्थ ध्यान है—

सुनि शिष्य कहौं ध्यान पिंडस्थं। पिंड शोधनं करिये स्वस्थं॥
षट् चक्रनि कौ धरिये ध्यानं। पुनि सद्गुरु कौ ध्यान प्रमानं॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ७८)

कवि द्वारा वर्णित रूपस्थ ध्यान वर्णन बड़ा रोचक है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म के ज्योति स्वरूप का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है—

निहारि कै त्रिकूट माँहिं विस्फुल्लिग देषि है।
पुन प्रकाश दीप ज्योति दीप माल पेषि है॥
नक्षत्र माल बिज्जुली प्रभा प्रत्यक्ष होइ है।
अनन्त कोटि सूर चन्द्र ध्यान मध्य जोइ है॥
मरीचिका समान शुभ्र और लक्ष जाँनिये।
झलामक्कं समस्त विश्व तेज मै बषानिये॥
समुद्र मध्य डूबि कै उघारि नैन दीजिए।
दशौं दिशा जलामई प्रत्यक्ष ध्यान कीजिए॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ७६-८०)

रूपातीत ध्यान वर्णन के अन्तर्गत कवि ने निर्गुण, निराकार, सर्वत्र व्याप्त, अखंड, अनादि, ब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश दिया है। शून्यकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होते हुए फिर भी अदृष्ट है। इस वर्णन में योगी की पक्षी से बड़ी ही सुदन्र तुलना की गई है। दशों दिशाओं में व्याप्त ब्रह्म का ध्यान ही रूपातीत ध्यान है—

यह रूपातीत जु शून्य ध्यान। कुछु रूप न रेष न है निदान॥
तहँ अष्ट प्रहर लौं चित्त लीन। पुनि सावधान ह्वै अति प्रवीन॥
जिम पक्षी की गति गगन माँहि। कहुँ जात जात दिठि परय नाँहि॥
पुनि आइ दिखाई देत सोइ। वा योगी की गति इहै होइ॥
इहिं शून्य सम और नांहि। उत्कृष्ट ध्यान सब ध्यान माँहि॥

है शून्याकार जु ब्रह्म आप। दशहू दिशि पूरण अति अमापु ॥
यौं करय ध्यान सायोज्य होई। तब लगै समाधि अखंड सोइ ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास, ८१ ८४)

समाधि की अवस्था योगमार्ग की अन्तिम सीमा है। मन की एकात्मकता की चरम सीमा ही समाधि है। इस अवस्था में साधक के समस्त शरीर में ध्येय का आतंक छा जाता है तथा इसी आतंक में साधक स्वशरीर को बिसर जाता है। साधक के हृदय और मस्तिष्क में केवल एक विचार और एक ही प्रकाश रह जाता है और यह विचार या प्रकाश है ब्रह्म का। साधक इसी प्रकाश पुंज में स्वतः तल्लीन हो जाता है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥
(पा० यो० द० विभूतिपाद ३, सूत्र ३)

अर्थात् ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येय के ही आकार में परिणत हो जाता है और उस ध्येय तथा ध्याता की एकात्मता, ज्ञाता एवं ज्ञेय की भिन्नता का अभाव ही समाधि है। ब्रह्म में पूर्ण-रूपेण चित्तवृत्ति के लीन हो जाने को ही समाधि कहा गया है। इस स्थिति में कोई अवलम्बन जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं रह जाता है। इस अवस्था में पहुँचकर भेद-भाव, उच्च-नीच, वर्ण, आश्रम, समस्त मनोविकार, शीतोष्ण प्रभावादिक, शिथिल पड़कर विनष्ट हो जाते हैं। समाधि के जिन लक्षणों का वर्णन ऊपर हुआ है वही भाव सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त है—

सुनि शिष्य अबहिं समाधि लक्षण मुक्त योगी वर्त्तते।
तहँ साध्यसाधक एक होई क्रिया कर्म निवर्त्तते ॥
निरुपाधि नित्य उपाधि रहितं इहै निश्चय आँनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषाँनिये ॥
नहिं शीत उष्ण क्षुधा तृषा नहि मूरछा आलस रहै।
नहिं जागरं नहिं सुप्त सुषुप्ति तत्पदं योगी लहै ॥
इम नीर महिं गरि जाइ लवनं एक मेकहि जाँनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषानियें ॥
नहिं हर्ष शोक न सुखं दुःखं नहि मान अमानयो।
पुनि मनौ इन्द्रिय वृत्य नष्टं गतं ज्ञान अज्ञानयो ॥
नहिं जाति कुल नहिं वर्ण आश्रम जीव ब्रह्म न जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषानिये ॥
नहिं शब्द सपरस रूप रस गंध जानय रंचहूँ।
नहि काल कर्म स्वभाव है नहि उदय अस्त प्रपंचहूँ ॥

क्षीर णीरे आज्य आज्ये जले जलहिं मिलाइये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषानिये ॥
नहिं देव दैत्य पिशाच राक्षस भूत प्रेत न संचरै।
नहिं पवन पानी अग्निभय पुनि सर्प सिंहहि ना डरै ॥
नहिं यंत्र मंत्र न शास्त्र लागहि यह अवस्था गानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषानिये ॥
(ज्ञा० सा० तृतीयोल्लास, ८५-८६)

सुन्दरदास ने समाधि की अवस्था में ज्ञाता एवं ज्ञेय वा ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता को दो उपमाओं द्वारा बहुत ही रोचक एवं स्पष्ट बना दिया है। जिस प्रकार नमक तथा पानी मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं अथवा दुग्ध-दुग्ध में, घृत-घृत में और जल-जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार समाधि की अवस्था में ध्याता एवं ध्येय एक हो जाते हैं। उनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं रह जाता है।

घरेंड संहिता में योग साधना के लिए चार बातें आवश्यक मानी गई हैं। प्रथम योग्य स्थान, द्वितीय विहित समय, तृतीय मिताहार तथा चतुर्थ नाडी शुद्ध :

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम्।
नाडी शुद्धिश्च तत्पश्चात् प्राणायामं च साधयेत् ॥
(घे० स० पचमोपदेशः २)

यहाँ पर हमारा सम्बन्ध विशेष रूप से योगी के निवास स्थान एवं आहार से है। कारण कि स्थान एवं आहार का साधक और उसकी साधना पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्थान निर्णय शीर्षक के अन्तर्गत घरेंड संहिता में कहा गया है :

दूरदेशे तथारण्येः राजधान्यां तथान्तिके।
योगारंभं न कुर्वीतकृते च सिद्धिहा भवेत् ॥
अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम्।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणि विवर्जयेत ॥
सुदेशं धार्मिके राज्ये सुभक्ष्ये निरूपद्रवे।
तत्रैकं कुटीर कृत्वा प्राचीरैः परिवेष्टितम् ॥
वापी कूप तड़ागं च प्राचीर मध्यवर्ति च।
नात्युच्चं नातिनिम्नञ्च कुटीरं तत्र निर्मितं।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत ॥
(घे० स० पचमोपदेश, ३-७)

अर्थात् दूर देश में, वन में, राजधानी में, मनुष्यों के समीप में योगारम्भ नहीं करना चाहिए।

इन स्थानों में योग साधन करने पर सिद्धि की हानि हो सकती है। दूरदेश में योग साधन करने में अविश्वास होता है। अरण्य में योग साधन करने में साधक रक्षक-शून्य हो जाता है और जन समूह के समीप करने से प्रकाशित होने का डर रहता है। अतः ये तीनों स्थान योगाभ्यास के लिए अनुपयुक्त है। जिस देश का राजा धर्म परायण हो, जिस स्थान में खाद्य द्रव्य सुलभ हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो, ऐसे देश में एक कुटी बनाये। इस मकान में चारों ओर दीवारें खड़ी हों तथा भीतर बावड़ी, कुआँ तथा तालाब आदि खुदावे। कुटी बहुत ऊँची या नीची न हो। उसे गोबर से भली भाँति लीपे। उसमें कोई जानवर न हो। ऐसे स्थान में प्राणायाम साधना करे।

सुन्दरदास ने भी 'सर्वाङ्ग योग प्रदीपिका' के तृतीयोपदेश में साधक के उपयुक्त स्थान का निम्नलिखित छंदों में उल्लेख किया है।

प्रथम सुधर्म देश कहुँ ताकै। भलौ राज्य कछु दपल न जाकै ॥१॥
तहाँ जाइ कै मठिका करई। अल्पद्वार अरु छिद्रसु भरई ॥२॥
लिंत करै चहुँ ओर सुगंधा। कूप सहित मठ इहिं विधि बंधा ॥३॥
तामहि पैठि करै अभ्यासा । गुरु गमि हठ करि जीते स्वासा ॥४॥
श्रमन करै बकवाद न मांडै। होइ असंग चेष्टा छाडै ॥४॥

इसी प्रकार कवि ने साधक के आहार-व्यवहार का उल्लेख भी निम्नलिखित शब्दों में किया है। प्रस्तुत प्रसंग का मत साम्य घेरंड संहिता में वर्णित मिताहार प्रसंग से है।[१]

---

[१] मिताहारं बिना यस्तु योगारंभ तु कारयेत।
नानारोगा भवन्त्यस्य किंचिद्योगो न सिद्ध्यति ॥१६॥
शाल्यन्नं यवपिंडं वा गोधूमपिंडकं तथा।
मुन्दं माषचणकादि शुभ्रं च तुमेषवर्जितम् ॥१७॥
पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम्।
द्राढ़िकाकंकरोरम्भोदुम्बरी कंटककंटकम् ॥१८॥
आभरंभा वालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकमं
वार्ता की मूलकं ऋद्धिं योगी भक्षणमाचरेत् ॥१६॥
कट्वम्लं लवणं तिक्तं भृष्टं च दधि तक्रमम्।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा ॥२३॥
कुलत्थं मसूरं पांडुं कूष्माडं शाक दंडकम्।
तुम्बी कोल कपित्थं च कंटविल्व पलाशकम् ॥२४॥

हठ करि आसन साधै भाई। हठ करि निद्रा तजतौ जाई।
हठ ही करि आहार बढ़ावै। षायै षारौ कछू न पावै ॥
हठ करि तीक्ष्ण कटुक सुत्यागै। सरसों तिल मद मांस न मागै ॥
हरित शाक कबहू नहि षाई। हिंगु लहसुन सब देइ बहाई।
देह कष्ट पुनि करै न सोई। प्रात सनान उपासन कोई ॥
गोहूँ शालि सु करै अहारा। साठी चांवर अधिक पियारा ॥
षीर षांड घृत मधु पुनि सांनी। सूंठि पटोल निर्मल अति पांनी।
यह भोजन सु करै हठयोगी। दिन दिन काया होय निरोगी ॥
(ह० यो० प्र० तृतीयोपदेशः, ५ ८)

नाड़ी—प्राणायाम के सतत अभ्यास से शरीरस्थ वायु नाड़ियाँ सक्रिया एवं चक्र उत्तेजित होते हैं। नाड़ियों एवं चक्रों में उत्तेजना एवं चेतना आने के अनन्तर साधक में यौगिक शक्तियों का विकास होता है।

शिव संहिता के अनुसार मानव शरीर में ३५०,००० नाड़ियाँ हैं। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार मानव शरीर में ७२०,००० नाड़ियाँ हैं :

द्वासतति सहस्राणि नाड़ी द्वाराणि पंजरे
(ह० यो० प्र० उप० ४, श्लोक १८)

ऊपर कथित ३५०००० या ७२०००० में दश नाड़ियाँ मुख्य हैं। सुन्दर दास के शब्दों में

नाड़ी कही अनेक विधि, है दश मुख्य विचार।
इड़ा पिंगला सुषुमना, सब महिं ये त्रय सार ॥

जिन दश नाड़ियों को सुन्दरदास ने मुख्य माना है, वे निम्नलिखित हैं :

संख्या	*नाड़ियाँ*	*शरीर में इनकी स्थिति*
१.	इड़ा	शरीर के बाईं ओर
२.	पिंगला	शरीर के दाहिनी ओर
३.	सुषुम्णा	शरीर के मध्य में
४.	गंधारी	बाईं आँख में

कदम्बं जम्बीरं निम्बं लकुचं लशुनं विषम्।
कामरंग प्रियालं च हिंगुशाल्यलिकेभुकम्।
योगारम्भे वर्जयेत पथस्त्री वन्हि सेवनम् ॥२५॥
(घे० सं० पंचमोपदेश)

५.	हस्त जिह्वा	दाहिनी आँख में
६.	पुष्प	दाहिने कान में
७.	यशस्विनी	बायें कान में
८.	अलमबुश	मुख में
९.	कुहू	लिंग स्थान में
१०	शंखिनी	मूल स्थान में

इन दस नाड़ियों में भी कवि ने जिन तीन नाड़ियों को प्रधान (सारा) माना है उनकी सूची निम्नलिखित है :

१. इड़ा
२. पिंगला
३. सुषुम्णा

शिव संहिता के अनुसार मानव शरीर में इड़ा मेरुदंड की बांई ओर रहती है तथा सुषुम्णा से लिपटती हुई नाक की दक्षिण ओर जाती है।

इड़ा नाम्नी तु या नाड़ी वाम मार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्ष नासा पुटे गता।
(शि० सं०, द्वितीय पटल, श्लोक २५)

सुन्दरदास ने भी इड़ा की यही स्थिति माना जाता है, जो शिव संहिता में वर्णित हुई है:

वाम इंड़ा स्वर जांनि चन्द्र पुनि कहियत वाकौं।
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास, ४५)

पिंगला मेरुदण्ड के दक्षिण ओर सुषुम्णा से लिपटती हुई नासिका के बांये ओर जाती है—

पिंगला नाम या नाड़ी दक्ष मार्गे व्यवस्थिता।
मध्य नाड़ी समाश्लिष्य वाम नासा पुटे गता॥
(शि० सं० द्वितीय पटल, श्लोक २६)

सुन्दरदास ने पिंगला की स्थिति निम्नलिखित माना है जो शिवसंहिता सम्मत ही है :

दक्षिण स्वर पिंगला सूरमय जांनहु ताकौं
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४५)

इड़ा और पिंगला के मध्यस्थ नाड़ी सुषुम्णा है। इसकी ६ स्थितियां में ६ शक्तियाँ हैं:

इड़ा पिंगलयोर्मध्ये सुषम्णाय भवेतवलु।
षट्स्थानेषु च षट शक्ति षट पद्मम् योगिनो विदुः।
(शि० सं०, द्वितीय पटल, श्लोक २७)

सुन्दरदास के अनुसार सुषुम्णा की स्थिति निम्नलिखित है :

मध्य सुषुम्णा बहै ताहि जानत नहिं कोई ।
है यह अग्नि स्वरूप काज याही है होई ।।
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४५)

सुषुम्णा के अधोभाग में एक सर्पाकार दिव्य शक्ति निवास करती है जिसे कुंडलिनी कहते हैं । शिव संहिता के अनुसार :

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली पर देवता ।
सार्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता
(शि० सं० द्वितीय पटल श्लोक २३)

घरेंडसंहिता में भी कुंडलिनी शक्ति का बड़ा महत्त्व वर्णित हुआ है :

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली पर देवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रि वलयान्विता ।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवंपशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत् ।।
उद्घाटयेत्कपाटञ्च यथा कुचंकिया हठात् ।
कुंडलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ।।
(घे० स० तृतीयोपदेश, ४९-५१)

अर्थात् परमदेवता कुन्डलिनी शक्ति साढ़े तीन वलय लपेटवाली सर्पिणी के समान मूलाधार कमल में सोई पड़ी हुई है । जब तक यह महाशक्ति सुप्तावस्था में रहती है तब तक कोटिशः योगाभ्यास करने में रत जीव को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है और तब तक जीव पशुवत् अज्ञान से आवृत रहता है । यथा ताला खोल कर हठात् द्वार को खोला जा सकता है उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर ब्रह्म द्वारा उद्घाटित हो सकता है और जीव ज्ञान को प्राप्त कर सकता है । साधक के प्रयत्न एवं प्राणायाम से जाग्रत होने पर सजग होकर कुंड-डिनी सुषुम्णा के सहारे आगे बढ़ती है और भिन्न-भिन्न चक्रों में होती हुई ब्रह्म रन्ध्र की ओर जाती है । उसके सहस्र दल कमल में पहुँचने पर साधक की समस्त यौगिक क्रियायें सफल हो जाती है । इसी स्थिति में वह अनहद नाद का श्रवण करता है और ब्रह्म के दर्शन पा लेता है । कवि के शब्दों में :

जब इडा पिंगला गति थकै प्राणायाम प्रभावते ।
तब चलै सुषुम्णा उलटि कै सुख उपजै घर आवते ।।
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४५)

कुंडलिनी के प्रबुद्ध होने की रीति को अधिक स्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए

विविध प्राणों का ज्ञान परम आवश्यक है। इन प्राणों को वायु भी कहते हैं। यही प्राण या वायु हमारे शरीर के संचालन का आधार है। मानव शरीर में दश वायु हैं, पाँच शरीरस्थ एवं पाँच बाहर। घेरंड संहिता में इन प्राणों का निम्नलिखित वर्णन है—

प्राणोपानः समानश्च व्यानोदानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धंनजय ॥
(घे० सं० पंचमोपदेशः, ५६)

अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पंच वायु अन्तःस्थ हैं तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनंजय ये यंच बहिःस्थ हैं। इन प्राणों की स्थिति घेरंड संहिता में निम्नलिखित है—

१. प्राण— हृदयदेश में
२. अपान— गुह्य में
३. समान— नाभि में।
४. उदान— कंठ में
५. व्यान— समस्त देह में
६. नाग वायु— डकार में
७. कूर्मवायु— नेत्रों में
८. कृकर वायु— छींक में
९. देवदत्त वायु—जँभाई में
१०. धनजंय— मृत्यु होने पर भी शरीर में व्याप्त रहती है[1]।

---

[1]हृदि प्राणो वहेन्नित्यं अपानो गुदमंडले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठमध्यमः ॥
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः।
प्राणाद्याः पंच विख्याता नागाद्याः पंचवायवः ॥
तेषामपि च पंचानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उदगारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः ॥

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'कबीर का रहस्यवाद' में वायु निरूपण का निम्नांकित रेखाचित्र अंकित किया है—
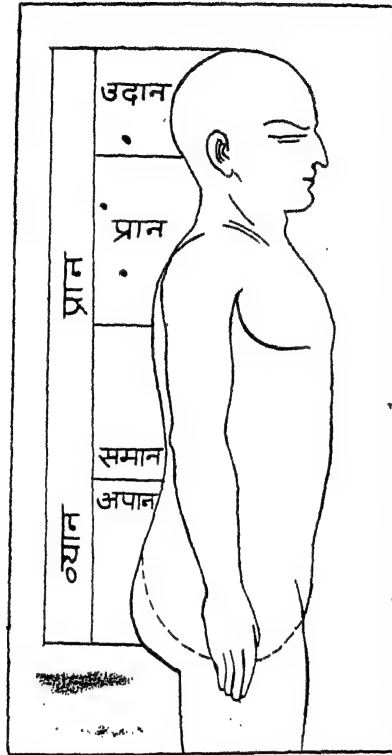
सुन्दरदास ने इन दश पवनों का स्थान और उनका महत्व निम्नलिखित छन्दों में व्यक्त किया है—

प्राणापान्त समानहिं जानै । व्यानोदान पंचमनमानै ॥
नाग सु कूर्म कृकल सु कहिये । देवदत्त सु धनंजय लहिये ॥

प्राण हृदय माँहि बसत है, गुद मंडले अपान । नाभि समानहिं जानिये, कंठहि बसै उदान ॥
कंठहि बसै .उदांन व्यान व्यापक घट सारै । नाग करय उद्गार कूर्म सो पलक उघारै ॥
कृकल सु उपजै क्षुधा देवदत्त हि जृम्भाणं । मुये धनंजय रहै पंच पूरब सो प्राणं ॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास, ४७-४८)

दश पवनों का जो वर्णन सुन्दरदास ने किया है वह घेरंड संहिता से उद्धृत श्लोकों से पूर्ण साम्य रखता है। योगी प्राणायाम में इन सब प्रकार के प्राणों को नाभि के मूल से ऊपर की ओर उठाता है और उन्हें यथासम्भव अवरुद्ध करता है। इन्हीं की साधना से साधक को कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करने में सफलता प्राप्त होती है। इसी सूर्य भेद कुंभक की क्रिया का महत्व घेरंड सहिता के निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

कुम्भकः सूर्य भेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः।
वोधयेत कुंडलीं शक्ति देहानलं विवर्धयेत् ॥
(घे० स० पचमोपदेश, श्लोक ॥६७॥)

अर्थात् सूर्यभेद कुम्भक जरा एवं मृत्यु का विनाशक है। इससे कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है।

कुंडलिनी, मेरुदंड के अधोभाग तथा गुदा और लिंग के मध्यस्थ मूलाधार चक्र में स्थित।[१] यह चक्र चार दल युक्त तथा पीतवर्णवान् है। व श ष स इसके दल की मातृकाएँ हैं। इस चक्र में गणेश का स्वरूप आराधना का प्रतीक माना गया है। इसके मंडल का आकार चतुष्कोण के अन्तर्गत एक त्रिकोण है जो कुंडलिनी का निवास स्थान है। त्रिकोणाकृति अग्नि चक्र में अवस्थित कुंडलिनी स्वयंभूलिंग से साढ़े तीन वलयों में लिपटी अपने मुख से अपनी पूछ दबाये सुषुम्ना के छिद्र के पास सुप्तावस्था में पड़ी रहती है।[२] मूलाधार चक्र पर मनन करने से साधक को दर्दुरी शक्ति प्राप्त होती है।[३] इसकी सिद्धि होने पर साधक त्रिकालज्ञ, सर्वविद्या पारंगत एवं सर्वरहस्यज्ञाता हो जाता है। मूलाधार चक्र का चित्र इस प्रकार है—

कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयोदेवदत्तो विजंभणे।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनंजयः ॥
(घे० सं० पचमोल्लास, ६०-६३)

[१]गुदा द्वयं वुल्लश्चोर्ध्व मेढ़े कांगुलस्त्वध।
एवं चास्ति समं कंदं समत्वांचतुरंगुलम् ॥
(शि० सं० पंचमपटल, श्लोक ॥५॥)

[२]मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरेस्थिता।
(शि० सं० पंचमपटल, श्लोक ॥२७॥)

[३]यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धिर्भूमि त्याग क्रमेण वै ॥
(शि० सं० पंचमपटल, श्लोक ॥६४।६७॥)
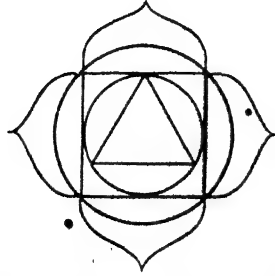
सुन्दरदास ने मूलाधार चक्र का निम्नलिखित वर्णन किया है—

शिष प्रथम चक्र आधार जानि। तहाँ अक्षर चारि चतुर्दलांनि ॥
पुनि व स ष श वरण विचारि लेहु। है सब शरीर आधार येहु ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४५।१)

मूलाधार चक्र के पश्चात् स्वाधिष्ठान चक्र है। इस चक्र की स्थिति लिंग मूल में है।[1] इस चक्र के ६ दल हैं। दल की मातृकाएँ व भ म य र ल है। यह शुभ्र वर्ण है। इस चक्र पर विचार करने वाला साधक मृत्युंजय एवं समस्त सिद्धियों का स्वामी और भव-बन्धन से रहित हो जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र का चित्र निम्नलिखित है—
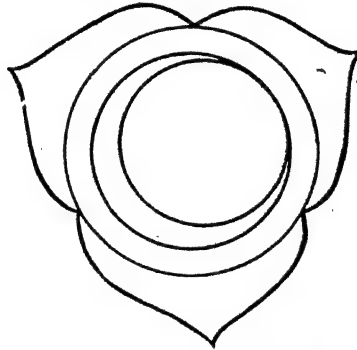
सुन्दरदास ने स्वाधिष्ठान चक्र का निम्नलिखित वर्णन किया है—

पुनि स्वाधिष्ठान सु द्वितीय चक्र। तँह षट्दल षट् अक्षर अबक्र।
गनि व भ म य र ल ये वरण मध्य। सो ब्रह्म चक्र कहिये प्रसिद्ध ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४६।२।)

---

[1] द्वितीयंतु सरोजंच लिंगमूले व्यवस्थितम्।
वादिलांतं च षड्वर्णं परिभास्वर षड् दलम् ॥
(शि० सं० पंचमपटल, श्लोक ॥७५॥)

तृतीय चक्र है मणिपूरक। प्रस्तुत चक्र की स्थिति नाभि के समीप होती है। इसे नाभि-पद्म भी कहते हैं। इसके दशदल है। इस दल की मातृकाएँ ड ढ ण त थ द ध न प फ हैं। यह हेम वर्ण का है।[1] इस चक्र पर ध्यान करने से साधक अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है और वह पाताल सिद्धि प्राप्त कर लेता है। मणिपूरक चक्र का चित्र निम्नांकित है—
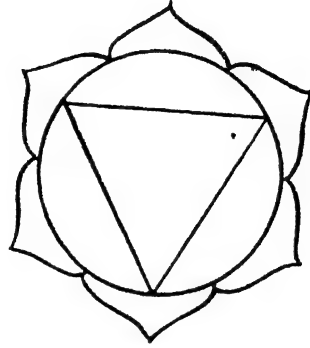
सुन्दरदास ने मणिपूरक चक्र का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

मणिपूर चक्र दश दल प्रभाव। पुनि अक्षर दश तेऊ सुनाव।
तहँ ड ढ ण त थ द ध न प फ प्रमान। इन वर्ण सहित त्रितिये वखान ॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४६।३)

चतुर्थ चक्र अनाहत चक्र है। यह चक्र हृदय में स्थित है।[2] इसे हृत्पद्म भी कहते हैं। इसका वर्ण रक्त है। इसमें १२ दल होते हैं। इसकी मातृकायें क ख ग घ ङ

---

[1] तृतीय पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारंडाफिकांतार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥

(शि० सं० पंचम पटल श्लोक ।७६।)

[2] हृदये नाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत।
कादिठातार्थ संस्थानं द्वादशा रसमान्वितम् ॥
अति शोणं वायु बीजं प्रसाद स्थानं मीरितम्।

(शि० सं० पंचम पटल, श्लोक ।८३।)

च छ ज झ ञ ट ठ हैं। इस चक्र पर ध्यान करने वाले को खेचरी शक्ति प्राप्त होती है और साधक त्रिकालज्ञ होता है। इस चक्र का चित्र निम्नांकित है—
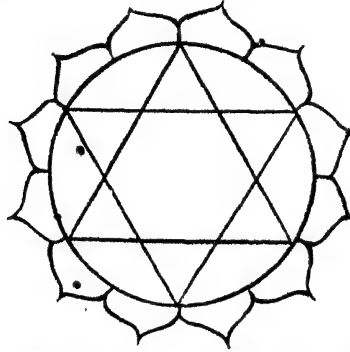
सुन्दरदास ने अनाहत चक्र का वर्णन निम्नलिखित छन्द में किया है—

अनुहात चक्र है हृदय मांहि। दल अच्छर द्वादश अधिक नांहि ॥
क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ समेत। शिष्य चक्र चतुर्थ समुक्ति हेत ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४६।४)

पंचम चक्र विशुद्ध चक्र है।[१] इसका वर्ण हेमवत् है और इसमें १६ दल हैं यह स्वर ध्वनि का स्थान है। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इसकी मातृकाएँ हैं। जीव यहाँ भ्रूमध्य स्थित परब्रह्म का दर्शन पाकर वासना-जाल से उन्मुक्त हो जाता है। इसीलिए इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। अर्धनारी नटेश्वर इस चक्र के देवता हैं। यही मोक्षद्वार है। विशुद्ध चक्र का रूप इस प्रकार है—

---
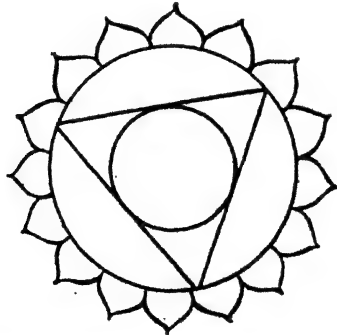
[१]कंठस्थान स्थितं पद्मं विशुद्धानाम पंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वर संयुतम् ॥
(शि० सं पंचम पटल श्लोक।६०।)

सुन्दरदास के अनुसार विशुद्ध चक्र का वर्णन निम्नलिखित है—

सुनि पंचम चक्र विशुद्ध आहि। दश अक्षर षोडस लगे ताहि॥
तहँ आदि अकार अःकार अंत। शुभ षोडस स्वर ताके गनंत॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४६।५)

आज्ञा चक्र की स्थिति त्रिकुटी में है। यह चक्र दो दलोंवाला है तथा वर्ण शुभ्र है।[1] इस चक्र को आज्ञा चक्र इसलिए कहते हैं कि सहस्रार में स्थित श्रीगुरु से इसी स्थान में आज्ञा मिलती है। इसकी मातृकाएँ ह क्ष हैं। यह चक्र इडा एवं पिंगला के मध्यस्थ है। इसका स्वरूप निम्नांकित है—
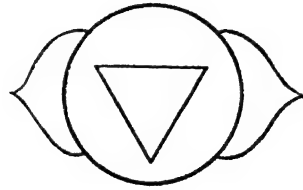
सुन्दरदास के शब्दों में—

अब आज्ञा चक्र सुभ्रुव मँझार। लषि द्वै दल द्वै अक्षर बिचार।
तहँ हं क्षं वर्ण सु अति अनूप। यह षष्ट सु चक्र कह्यो स्वरूप॥

(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ४६।६)

सहस्रार चक्र की स्थिति मूर्धा में है। इसमें सहस्रदल होते हैं।[2] इसके देवता कामेश्वरी कामनाथ हैं। इसकी मातृकाएँ अं से क्षं तक है। यह तत्वातीत है। इसमें पूर्णचन्द्र निराकार वर्तमान है। इसमें ध्यान करने से साधक अमर तथा भव-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही ब्रह्मरन्ध्र है। तालुमूल से सुषुम्णा का निम्नाभिमुख विस्तार

---

[1] आज्ञा पद्मं भ्रुवोर्मध्येहक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं त महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी॥
(शि० सं० पंचम पटल, श्लोक।६६।)

[2] अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारंसरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥
(शि० सं० पंचम पटल, श्लोक।१२०।)

है ।[1] और मूलाधार चक्र में अंत है । इसी से कुंडलिनी प्रबुद्ध होकर सुषुम्णा में ऊपर को अग्रसर होती है और अंततः ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है । इसी ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का निवास है । इस रन्ध्र में ६ द्वार हैं जिन्हें कुंडलिनी खोलती है । इस रन्ध्र का स्वरूप विन्दु ० है । प्राणायाम की चरम स्थिति में इसी विन्दु में आत्मा लाई जाती है । आत्मा भव-बन्धनों से उन्मुक्त होकर इसी विन्दु में सोऽहं का अनुभव करती है ।

---

[1]तालुमूले सुषुम्णा सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
(शि० सं० पंचम पटल, श्लोक ।१२१।)

राजयोग

सुन्दरदास ने सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका के 'अथ हठयोग नाम तृतीयोपदेश' के अन्तर्गत राजयोग पर अपने विचार प्रकट किए हैं। कवि ने अत्यंत संक्षेप में ग्यारह छन्दों (दस चौपाई एवं एक दोहा) में राजयोग विषयक अपनी विचार-धारा को अत्यंत संक्षेप में अभिव्यक्त किया है। राजयोग का वर्णन कवि ने हठयोग प्रकरण के अन्तर्गत किया है। इस प्रकरण में वर्णन का क्रम हठयोग, राजयोग, लक्षयोग और अष्टांगयोग है। इस प्रकार वर्णन क्रम से राजयोग का स्थान द्वितीय है ।

योगशास्त्र में मन को स्ववश में करने के लिए साधक के हेतु हठयोग, ध्यान योग, प्रेम योग, मंत्रयोग, कुंडलिनी शक्तियोग, महायोग, जानयोग, सिद्धयोग आदि अनेक योगों का उल्लेख हुआ है। इन्हीं विविध योगों में राजयोग भी एक है। चित की वृत्तियों को वश में करना अथवा निरोध करना ही राजयोग का प्रमुख लक्ष्य है। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन के द्वितीय सूत्र में कहा भी है :

योगाश्चितवृत्तिनिरोधः ॥२॥

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग नाम से कहा गया है। यथा—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

अर्थात् जिस समय चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है उस समय द्रष्टा 'आत्मा' अपने ही रूप में स्थिति हो जाती है। अर्थात् वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। चित्त के निरोध की दो प्रधान रीतियाँ बताई गई हैं। प्रथम, 'मन' एवं 'प्राण' का पारस्परिक अविच्छिन्न अविच्छेद्य सम्बन्ध है। मन के निरोध से प्राण स्पन्द स्थगित हो जाता है। साथ ही प्राण स्पन्दन के शैथिल्य से मन को एकाग्रता प्राप्त होती है। अतएव मन के निरोध के हेतु प्राण-स्पन्दन की गति पर सम्यक नियंत्रण अत्यावश्यक है। मन के निरोध के लिए प्राण-स्पन्दन को वश में करना पड़ता है और इसके लिए अष्टांगयोग साधना की सहायता अपेक्षित होती है। अष्टांगयोग साधना मनोनिरोध की एक अति प्रचलित विधि है। मन के निरोध का एक और उपाय है। वैराग्य विवेक के द्वारा मन को बाह्य विषयों से निरोधित किया जाय। प्रवृत्ति भावना से पृथक होकर निवृत्ति भावना सुदृढ़ बनाने का यह अभ्यास जब दृढ़ हो जाता है तब मन का निरोध स्वतः हो जाता है। इसके हेतु शास्त्र-श्रवण, मनन, सत्संग, सदाचार आवश्यक है। इन साधनों से मन शीघ्र ही वश में होगा और उसमें माया की ओर से विराग उत्पन्न होगा। इसी साधना को राजयोग कहा गया है।

मनोनिरोध की इन दोनों क्रियाओं की साधना में लगन, श्रद्धा और धैर्य अत्यधिक अपेक्षित है :

सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।

राजयोग की प्रक्रिया के सैद्धांतिक पक्ष का अत्यंत संक्षेप में उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख का तात्पर्य है, पाठकों को राजयोग के विषय से अवगत कराना।

अब सुन्दरदास के राजयोग पर विचार करना अपेक्षित है। ऊपर कहा जा चुका है कि सुन्दरदास ने अत्यंत संक्षेप में, ११ छन्दों में राजयोग पर अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। इस प्रकरण में कवि ने न तो राजयोग की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है और न हठयोग तथा राजयोग में आधारभूत सैद्धांतिक अन्तर पर ही अपने विचार किये हैं। तथ्य यह है कवि ने इन ग्यारह छन्दों में से ६ (प्रथम पाँच एवं अन्तिम एक) छन्दों में राजयोग के महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किए हैं और शेष पाँच छन्दों में राजयोग के लक्षणों का उल्लेख मिलता है। कवि ने इस राजयोग प्रकरण का शीर्षक भी 'राजयोग लक्षन' ही रखा है। जिससे प्रकट होता है कि कवि का लक्ष्य राजयोग के लक्षणों का उल्लेख करना ही है न कि सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन।

सुन्दरदास के मतानुसार राजयोग की साधना अत्यंत दुरूह है। *किसी कुशल व्यक्ति के मार्ग-प्रदर्शन* के अभाव में राजयोग के पक्ष पर अग्रसर होना अत्यंत दुःसाध्य है। राजयोग के सिद्धान्त और प्रक्रिया को समझे बिना साधक की अभिरुचि उस ओर उन्मुख नहीं हो सकती। राजयोग समस्त योग मार्गों में श्रेष्ठ है और शीघ्र ही लक्ष्य प्राप्त कराता है।[1] राजयोग की साधना करके शिव जी समस्त विषय विकारों से ऊपर उठ गए। राजयोग की बड़ी महिमा है :

राजयोग कीना शिवराई।
गौरा संग अनंग न जाई।
घृत नहिं ढरै अग्नि के पासा।
राजयोग का बड़ा तमाशा ॥१४॥

---

[1]राजयोग का कठिन विचारा।
समुझे बिना न लागे पारा।
राजयोग सब ऊपर छाजै।
जो साधै सो अधिक विराजै ॥१३॥

नाड़ी चक्र भेद जो पावै।
तौ चढ़ि बिंद अपूठौ आवै॥
करनी कठिन आहि अति भारी।
वशवर्त्तिनी होइ जो नारी॥१५॥

राजयोग का साधक समस्त माया और भोग के मध्य भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसः' अपनी स्थिति रखता है। वह पाप पुण्य की भावना एवं भेद के स्तर से भी ऊपर और उन्मुक्त रहता है। राजयोग का साधक सदैव प्रसन्नता एवं आनन्द से युक्त रहता है। उसके कल्याणकारी गुण चन्द्रमा की कलाओं की भाँति वर्द्धमान रहते हैं।[1]

राजयोग के इस महत्त्व का उल्लेख करने के पश्चात् कवि राजयोग के लक्षणों का वर्णन करता है। सुन्दरदास के अनुसार राजयोग के साधक को मन के विकार हर्ष, शोक तथा दुख एवं सुख नहीं व्याप्त होते हैं। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा एवं आलस्य आदि उसका स्पर्श नहीं कर पाते हैं। वह साधक ऋतुओं के प्रकोप शीत एवं ऊष्णता आदि से ऊपर उठ जाता है। उसका शरीर ऋतुओं के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता है। वह शरीर की शिथिलता वृद्धापा एवं मृत्यु का अनुभव नहीं करता है। वह अग्नि एवं जल के विनाशक प्रभाव से परे रहता है। वह अस्त्र-सस्त्रों के विनाशकारी प्रभाव का लक्ष्य नहीं बनता है। राजयोग के साधक को स्वतः समस्त वस्तुएँ और समस्त रहस्य प्रकाशित हो जाते हैं। समस्त सिद्धियाँ समस्त निधियाँ उसकी चेरी बनी रहती हैं। वह समस्त लोकों में प्रतिष्ठित स्थान का भागी रहता है—

राजयोगि के लक्षण ऐसे।
महापुरुष वौलैं है तैसे॥
जाकौं दुख अरु सुख नहिं होई।
हर्ष शोक व्यापै नहिं कोई॥१८॥

---

[1]दीसै संग रहै पुनि मुक्ता।
अष्ट प्रकार भोग कौ मुक्ता॥
पाप पुन्य कछु परसै नांहीं।
जैसे कमल रहै जल मांहीं॥१६॥
सदा प्रसन्न परम आनन्दा।
दिन दिन कला बढ़ै ज्यों चन्दा॥
ऐसी भाँति रहै पुनि न्यारा।
राजयोग का इहै विचारा॥१७॥

जाकौं क्षुधा तृषा न संतावै।
निद्रा आलस कबहुँ न आवै॥
शीत उष्ण जाकौं नहिं भाई।
जरा न व्यापै काल न खाई॥१६॥
अग्नि न जरै न बूड़ै पानी।
राजयोग की यह गति जानी॥
अजर अमर अति वज्र शरीरा।
षड्ग धार कछु भिदै न तीरा॥२०॥
जाकौ सब बैंठे ही सूझै।
अस सबहिंन की भाषा बूझै॥
सकल सिद्धि आज्ञा महिं जाकै।
नव निधि सदा रहैं ढिंग ताकै॥२१॥
इच्छा परै तहाँ सो जाई।
तीनि लोक महिं अटकन काई॥
स्वर्ग जाइ देवनि महिं बैंठे।
नाग लोक पाताल सु पैंठे॥२२॥
मृत्यु लोक महि आपु छिपावै।
कबहुक प्रगट सु होइ दिषावै॥
हृदै प्रकाश रहै दिन राती।
देव देषै ज्योति तेल बिन बाती॥२३॥

सुन्दरदास ने राजयोग से सम्बन्धित जिन लक्षणों और सिद्धियों का उल्लेख इस प्रकरण में किया है उन्हीं का उल्लेख पातंजल योग सूत्र के विभूतिपाद में सूत्र ३६ से ५० में उपलब्ध होता है। राजयोग के साधक के कतिपय लक्षणों का उल्लेख विभूतिपाद से यहाँ किया जाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार उक्त संयम से पुरुष का ज्ञान होने पर प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ये छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।[1] उदान वायु को वशीभूत कर लेने से जल, कीचड़, काटव आदि से उसके शरीर का संयोग नहीं होता है और साथ ही ऊर्ध्वगति भी होती है।[2] सयंम द्वारा समान वायु को जीत लेने के कारण

---

[1]ततः प्रातिभ श्रावणवेदनादर्शास्वाद वार्ता जायन्ते ॥३६॥ पातंजल योगदर्शन विभूतिवाद।

[2]उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥३६॥वही॥

साधक का शरीर स्वतः दीप्तिमान् रहता है।[1] कान एवं आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं।[2] शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से आकाश में चलने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।[3] स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्त्व इन पाँच प्रकार की अवस्था में संयम करने से योगी पंच भूतों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।[4] अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं।[5] ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थतत्व इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से मन सहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है।[6] उससे (इन्द्रियजय से) मन के सदृश गति, शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर अधिकार ये तीनों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[7]

---

[1]समानजयाज्जवलनम् ॥४०॥ पातंजलयोगदर्शन विभूतिवाद।
[2]श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाव दिव्यं श्रोत्रम् ॥वही॥
[3]कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥वही॥
[4]स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ॥४४॥वही॥
[5]ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥वही॥
[6]ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥वही॥
[7]ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥वही॥

लक्ष्ययोग

सुन्दरदास ने सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका के 'अथ हठयोग नाम तृतीयोपदेशः .के अन्तर्गत 'लक्ष योग' पर अपने विचारों को प्रकट किया है। कवि ने लक्ष्ययोग पर अपने विचार इस प्रकरण के अन्तर्गत अत्यन्त संक्षेप में ग्यारह छन्दों, (दस चौपाई एवं एक दोहा) में अभिव्यक्त किया है। सुन्दर दास ने जिन तीन प्रकार के लक्ष्ययोगों का उल्लेख यहाँ पर किया है वे हैं (प्रथम) ऊर्द्ध; (द्वितीय) मध्य, (तृतीय) बहिर। ऊर्द्धलक्ष आकाश में दृष्टि रख कर, मध्य लक्ष मन में ब्रह्मनाड़ी के अभ्यास से, और बहिर लक्ष पंचतत्व की धारणा नासिकाग्रदृष्टि रख कर करना चाहिए तथा त्राटक सेवा त्रिकुटी में रक्तवर्ण के भ्रमर के लक्ष साधन से साध्य होता है। लक्ष साधन के लिए भिन्न-भिन्न प्रतीकों का उल्लेख हुआ है। ये अन्तर, मध्य एवं बहिः तीन स्थानिक प्रकार के कहे गये हैं और इनके भिन्न-भिन्न फल हैं।

सुन्दरदास के अनुसार लक्ष्ययोग अन्य योगों की तुलना में सुगम एवं सुसाध्य है। लक्ष-योग की साधना बिना सतगुरु के मार्ग-प्रदर्शन सम्भव नहीं है। लक्ष्ययोग की साधना करने वाले को रोग और अवस्था (जरा अवस्था) नहीं व्याप्त होते हैं। वह इनसे परे और मुक्त रहता है।[1] सर्वप्रथम नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रखकर अधोलक्ष की साधना करनी चाहिए। अधोलक्ष की साधना से साधक का मन और पवन स्थिर और नियंत्रित होती है।[2] ऊर्द्ध लक्ष की साधना आकाश में अहर्निशि दृष्टि स्थिर करके सिद्ध होती है। ऊर्द्ध लक्ष की साधना से भाँति-भाँति से साधक का चित और बुद्धि आलोकित होती है और संसार के समस्त रहस्य प्रकट हो जाते हैं।[3] मध्य लक्ष की साधना मन में ब्रह्मनाड़ी के आभास से

---

[1]लक्ष्ययोग है सुगम उपाई।
सतगुरु बिना न जान्यौ जाई॥
रोग न होय आयु वहु बाधै।
लक्ष्ययोग जो कोई साधै॥२५॥

[2]प्रथमहि ऊर्ध लक्ष कौं जाने।
नाशा अग्र दृष्टि थिर आनैं।
याते मन पवना थिर होई।
अधोलक्ष जो साधै कोई॥२६॥

[3]ऊर्द्ध लक्ष करै इहि भाती।
दृष्टया काश रहै दिन राती।

सिद्ध होती है। मध्य लक्ष का साधक अपने मनमें ब्रह्म के किसी स्वरूप का ध्यान करता है। इस साधना से साधक के मन में सात्विक भावों का विकाश और प्रसार होता है।[2]

अधोलक्ष ऊर्द्धलक्ष एवं मध्यलक्ष के अनन्तर सुन्दरदास बाह्यलक्ष साधना की विभिन्न स्थितियों और तज्जनित फल प्राप्ति की सफलता का उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में की है :

१. बाह्य लक्ष और पुनि जानहुं।
पंच तत्व की लक्ष सु ठानहु।
अग्र नासिका अगुंली चारी।
नील वर्ण नभ देषि बिचारी॥२६॥

२. नासा अग्र अंगुल छह देषै।
धूम्रहि वर्ण वायु तत पेषै।
अंगुल अष्ट नासिका आगै।
रक्त वर्ण सुवह्नि तत जागै॥३०॥

३. नासा अग्र अंगुल दश तांई।
श्वेत वर्ण जल देषि तहांई।
नासा अग्र सु अंगुल बारा।
पीत वर्ण जल देषि तहाई॥३१॥

बाह्य लक्ष साधना के पश्चात् कवि अन्तरलक्ष साधना पर अपने निम्नलिखित विचार प्रकट करता है :

अन्तर लक्ष जु सुनहुं प्रकाशा।
ब्रह्म नाड़िका करहु अभ्यासा।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि जहाँ लौं।
हरहिं न कबहूँ जिवै तहाँ लौं॥३२॥

---

[1]विविध प्रकार होइ उजियारा।
गोपि पदारथ दीसहिं सारा॥२७॥

[2]मध्य लक्ष मन मध्य बिचारै।
वायु प्रमान कोइ रूप निहारै।
यातै सात्विक उपजै आई।
मध्य लक्ष जो साधै कोई॥२८॥

बाह्य लक्ष एवं अन्तर लक्ष का उल्लेख करने के बाद कवि ने मध्य लक्ष का भी निम्न-लिखित शब्दों में उल्लेख किया है :

बहुरि लक्ष करि मध्य लिलारा।
जैसा एक बड़ा होई तारा।
याके किये बहुत गुन होई।
घट महिं रोग रहै नहि कोई ॥३४॥
रक्त वर्ण भ्रमरा उनमाना।
लक्ष करै त्रिकुटी जु सथाना।
यातें सब कौ लगै पियारा।
वातैन देषहिं बारम्बारा ॥३५॥

सांख्य योग

सुन्दरदास ने सांख्य योग पर अपने विचारों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में दो स्थानों पर किया है। प्रथम उल्लेख ज्ञान-समुद्र ग्रन्थ के चतुर्थ उल्लास के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रकरण में कवि ने सांख्य योग का वर्णन तथा उसके अंग-उपांगों का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है। कवि ने पैंसठ छन्दों में सांख्य परिभाषा, चेतन एवं जड़, पुरुष एवं प्रकृति, पुरुष एवं प्रकृति के संसर्ग से उत्पन्न तत्व, तामसाहंकार, राजसाहंकार सात्विकाहंहकार, स्थूल देह, त्रिपुटी भेद, कर्मेन्द्रिय त्रिपुटी, अंतःकरण त्रिपुटी, लिंग, शरीर, जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, तुरीयावस्था आदि का सविस्तार वर्णन किया है। यह वर्णन लगभग तेरह पृष्ठ में हुआ है। इसके पश्चात् कवि ने इसी सांख्य योग का उल्लेख सर्वाङ्गयोगप्रदीपिका के *अथ सांख्य योग नाम चतुर्थोपदेशः* के अन्तर्गत (बारह छन्दों, ग्यारह चौपाई एवं एक दोहा) में अत्यंत संक्षेप में किया है। कवि ने प्रस्तुत सांख्य योग प्रकरण में सेश्वर सांख्य शास्त्र के सिद्धान्तों का साररूप में अपने शब्दों में वर्णन कर दिया है। योग शास्त्र में सांख्य के द्वारा आत्मा की मुक्ति के लिए विधान है। प्रकृति पुरुष भेद और उसकी व्याख्या एवं निरूपण सांख्य का मुख्य विषय है। कवि ने बड़ी ही रोचकता के साथ जड़ एवं चेतन के भेद को अंकित किया है। योग विषयक यह निरूपण कवि ने बड़ी, वैज्ञानिक एवं सरल शैली में किया है। कवि द्वारा वर्णित सांख्य योग पर विचार करने के पूर्व सांख्य योग के परम्परागत सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन कर लेना अत्यधिक आवश्यक है। कारण कि सांख्य योग के परम्परागत सैद्धांतिक पक्ष को लेकर ही कवि ने ज्ञान-समुद्र एवं सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका में अपने विचारों को व्यक्त किया है।

भारतीय योग दर्शन शास्त्र में सांख्य का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग के एतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनेक प्रकार के योगों में सांख्य योग का उच्चतम स्थान है। श्रीमद्भगवद्गीता के उदयकाल में सांख्य का भला प्रचार था। जिस पुरुष और प्रकृति का वर्णन सांख्य शास्त्र में बड़े ही विस्तार के साथ हुआ है उसका वर्णन ऋग्वेद में भी हुआ है। तत्पश्चात् सांख्य के मौलिक सिद्धान्त उपनिषदों में भी प्रतिपादित उपलब्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सांख्य के आधारभूत सिद्धांत वेद एवं उपनिषद से ग्रहीत है। वस्तुतः सांख्य का अर्थ सांख्य दर्शन के अर्थ में बहुत समय पश्चात् हुआ। सर्व प्रथम उसके अन्तर्गत आत्म-अनात्म विचार से सर्व कर्मों का परित्याग करके ब्रह्मज्ञान में निमग्न रहने वाले वेदान्तियों का समावेश किया गया। सांख्य की पुरुष सम्बन्धी धारणा

न्याय वैशेषिक की तुलना में अधिक उन्नत एवं महत्त्वपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि न्याय वैशेषिक ने आत्मा के सभी गुणों को आरोपित कर लिया है। पर उस आत्मा को चैतन्य गुण से वंचित रखा है और उसके दूसरी ओर सांख्य ने सुख-दुख आदि के गुण निर्धारित करके पुरुष की धारणा को और भी सरल बना दिया है। न्याय वैशेषिक के अनुसार आत्मा की मुक्ति असम्भव है। यदि सुख-दुख ही जीव या आत्मा के गुण हैं तो उसकी मुक्ति कहाँ सम्भव है? सांख्य ने पुरुष को आनन्दमय न मान कर यह निर्द्धारित कर दिया कि वह अपनी दार्शनिक व्याख्या में लोक-बुद्धि को तुष्ट करने की लेशमात्र भी चेष्टा नहीं करता है। प्रस्तुत योग का सांख्य नामकरण उसके एक विशिष्ट रहस्य में निहित है। श्री बलदेव उपाध्याय के मत से प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने से इस दुःखमय जगत की सत्ता है। परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय के लिए दुख की अत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान कारण है तथा दुःख निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की पारिभाषिकी संज्ञा है प्रकृति पुरुषान्यताख्याति या प्रकृति पुरुष विवेक। इसी का दूसरा नाम है संख्या सम्यक् ख्याति सम्यक् ज्ञान। सांख्य दर्शन में संख्या नितांत मूलभूत सिद्धांत होने के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा। महाभारत में सांख्य शब्द की यही प्रामाणिक व्याख्या की गई है। कुछ लोग तत्व निर्णय के कारण गिनती के अर्थ में व्यवहृत होने वाले संख्या शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह व्याख्या उतनी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती जितनी पूर्वोक्त व्याख्या।[1] योग, सांख्य का व्यावहारिक पूरक है। कैवल्य प्राप्ति के हेतु चित्तवृत्तियों का निरोध किस प्रकार किया जाय, यह बताना योग का लक्ष्य है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है। भिन्नता का यह व्यावहारिक अनुभव योग से होता है। योग द्वारा चित्त-शुद्धि के बिना केवल ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है। सांख्य का तात्पर्य है ज्ञान। ज्ञान का विकास करके संसार का लोप कर देना ही सांख्य योग का आदर्श है। सांख्य योग के साधक को त्रिविध तापों एवं दुखों से छुटकारा मिल जाता है। संसार के समस्त कष्टों एवं तापों से मुक्ति का साधन है सांख्ययोग।

सांख्य दर्शन में तत्वों की संख्या २५ मान्य हुई है। इन तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से किसी भी आश्रम का व्यक्ति चाहे वह जटी या मुन्डी हो या शिखी हो दुखों से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[2] इन पच्चीस तत्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से हुआ है:

---

[1]भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१०, तृतीय संस्करण

[2]पंचविंशतितत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत।
जटी मुन्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥
सं० सि० सं० ६।११।

१. वह तत्व जो सबका कारण तो होता है पर स्वतः किसी का कार्य नहीं होता है ... ... प्रकृति

२. वे तत्व जो कार्य ही होते हैं किसी से उनकी उत्पत्ति तो होती है पर स्वयं किसी अन्य को नहीं उत्पन्न करते हैं ... ... विकृति

३. वे तत्व जो कार्य भी होते हैं और कारण भी ये किन्हीं तत्वों से उत्पन्न होते हैं और किन्हीं को जन्म देते हैं ... ... प्रकृति विकृति

४. वह तत्व जो कार्य एवं कारण उभयविध से शून्य रहता है। न वह कार्य ही है न कारण ही ... ... न प्रकृति न विकृति

इन तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति।
विकृति	१६	५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन एवं महाभूत।
प्रकृति विकृति	७	महातत्व, अहकार, तन्मात्रा,
न प्रकृति न विकृत	१	पुरुष

इस सांख्य योग के कार्य कारण विषयक मत विचारणीय हैं। सांख्य जगत के आधारभूत तत्व प्रकृति का अनुमान सत्कार्यवाद पर निर्भर है। नैयायिक एवं वैशेषिक के दोनों ही उत्पत्ति से भी पूर्व कार्य को असत् मानते हैं। सांख्यकारिका ने इस असत्यकार्य-वाद का खंडन करके सत्कार्यवाद की स्थापना की है। कारिका में कारण के व्यापार से पूर्व कार्य सिद्ध करने के पाँच हेतु दिये गये हैं : (१) असदकरणात्—असद् को सत्ता में लाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। (२) उपादान ग्रह्णात्—उपादान के ग्रहण से भी कार्य (घट) का उपायदान कारण (मृत्तिकों) से सम्बन्ध होता है। (३) सर्वसंभाऽभावात्—कार्य कारण में सम्बन्ध न मान होने पर सत्रिसव कार्य सिद्ध हो सकेंगे यह अनुभव के विरुद्धहै। (४) शक्तस्य शक्तकरणात्—शक्त पदार्थ शक्य को हीं उत्पन्न कर सकता है। (५) कारणभावात् कार्य सभी कारणात्मक होते हैं कारण से भिन्न नहीं हैं। अतः इन प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कारण के पूर्व भी कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। सांख्य मतानुसार न किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। केवल कर्तृ व्यापार से अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप को धारण कर लेती है और फिर गति के स्थिर होने पर वस्तु

अस्व्यक्तावस्थ्या पाकर के स्थूल से सूक्ष्म के रूप में परिवर्तित हो जाती है। सांख्य तत्व की मीमांसा का यही आधारभूत सिद्धांत है।

सांख्य दर्शन के अनुसार संसार के समस्त पदार्थ त्रयोगुणयुक्त हैं। कोई पदार्थ गुणातीत नहीं है। अतएव जड़जगत के मूल में भी त्रयोगुण वर्तमान हैं। महत्तत्व से संसार के समस्त पदार्थ तक सभी परिच्छिन्न हैं। परिमित वा परिच्छिन्न पदार्थ सब के सब कार्य करते हैं। इसी कारण महत्तत्व या बुद्धि का भी कारण प्रकृति ही मानना चाहिए। संसार के समस्त पदार्थ त्रयोगुण सम्पन्न हैं अतः उनमें साम्य एवं एकता है। अतः जगत का मूलकारण एक तत्व प्रकृतिमात्र है। इसके अव्यक्त, प्रधान, आदि विभिन्न संज्ञायें हैं प्रकृति स्वयं अजन्मा है तथा कारण होते हुए भी स्वतः कार्य नहीं हैं। एक होने पर भी प्रकृति त्रयोगुणात्मक है। सृष्टि से पूर्व प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं। इसी साम्य की समाप्ति को ही प्रकृति का समस्त विकास पुरुष को मुक्त करने के लिये होता है। सांख्य शास्त्र का मत है कि जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है ठीक उसी के प्रतिकूल क्रमेण विश्व को अपने ही में लीन कर लेती है। प्रकृति प्रलयावस्था में भी निःस्पन्द वा निष्क्रिय नहीं हो जाती है। प्रकृति का सर्व प्रथम विकार महत्तत्व या बुद्धि है। स्मृति संस्कारों का अधिष्ठान यही महत्तत्व या बुद्धि है। धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, राग-विराग आदि का भेद-भाव बुद्धि की ही विशेषता है। महत्तत्व से अहंकार का जन्म होता है। प्रकृति का विकास निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा :
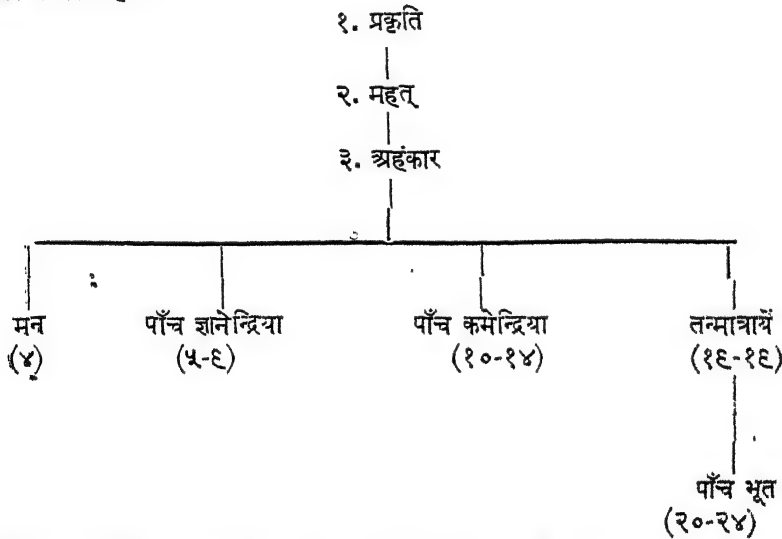
इन चौबीस तत्वों में पुरुष तत्व की भी गणना करने से तत्वों की संख्या पच्चीस हो जाती

है। प्रकृति ही समस्त प्रपंच की नियामक है। 'पुरुष सत्यतः निर्लेप है। इस विषय में गीता का मत विचारणीय है। जिसने यह समझ लिया कि समस्त कर्मों को करने वाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है उसने सच्चे कर्ता को चीन्ह लिया है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानयकर्तारं स पश्यति ॥
गीता ॥१३।२६॥

प्रकृति जिस समय माया का विस्तार स्थगित कर देती है, तभी पुरुष कैवल्य प्राप्त कर लेता है।

पुरुष की सिद्धि भी प्रकृति की भाँति अनुमान से ही होती है। सांख्यकारिका के अनुसार पुरुष की स्थिति की चार युक्तियाँ हैं—

सघातपरार्थत्वात् निर्गुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

प्रथम युक्ति—समस्त वस्तुएँ सघांत रूप होती हैं। उनका अस्तित्व दूसरों के लिए होता है। वस्त्र पहनने के हेतु होते हैं अतः किसी वस्त्र को देखकर पहनने वाले का अनुमान किया जा सकता है। अहंकार, महत्तत्व आदि संघात रूप हैं। अतः वे दूसरे के लिए हैं। पुरुष की सिद्धि इस प्रकार होती है। पुरुष त्रिगुण तत्वों से परे और भिन्न है। सांख्य के मत में पुरुष निर्गुण एवं असंग है। पुरुष एवं प्रकृति के कार्यों में घनिष्ट सम्बन्ध है। द्वितीय युक्ति—अधिष्ठानात सुख दुख मय जितने पदार्थ हैं उनका कोई न कोई अधिष्ठाता है। इसी कारण महत्तत्व एवं अहंकार का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। तृतीय युक्ति—सुख दुख आदि का भोक्त होना चाहिए। भोक्ता के अभाव में अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियों का ज्ञान किसे और क्यों कर होगा ? चतुर्थ युक्ति—मानव में कैवल्य के हेतु प्रकृति पाई जाना पुरुष के अस्तित्व का द्योतक है। यह कामना जड़ तत्वों में नहीं उपलब्ध होती है। इतनी उच्च आकांक्षाएँ या कामनाएँ हमारे व्यक्तित्व के मूल के उच्च सत्ता को सिद्ध करती हैं। वही पुरुष है सांख्य के समस्त प्रमाण उपाधि संयुक्त पुरुष को सिद्ध करते हैं। प्रकृति से निर्लिप्त पुरुप का अनुमान भी सम्भव नहीं है। इसके समर्थन में श्री बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय दर्शन' के ३२८ पृष्ठ पर बड़ा सुन्दर तर्क दिया है जन्म-मरण कारणों का नियम दृष्टिगोचर होता है। यदि पुरुषों की एकता होती तो एक व्यक्ति के जन्म लेते ही, सब पुरुषों का जन्म हो जाता या एक व्यक्ति के नेत्रविहीन होने पर समग्र पुरुष नेत्ररहित हो जाते। एक कालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष बहुत्व का साधक है। प्रकृति से ही पुरुष जीव संज्ञा को प्राप्त करता है। पुरुष का प्रकृति को एक एवं सम गुणवान

समझ लेना ही समस्त अनर्थों का मूल है। पुरुष तभी मुक्त होता है जब वह अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है।

प्रकृति एवं पुरुष नितांत भिन्न गुणवाले पदार्थ हैं। फिर भी दोनों के योग से ही सृष्टि की स्थिति है। यह संयोग या संसर्ग अज्ञान का द्योतक है। सांख्य का मूल सिद्धांत है "असंगोह्ययं पुरुषः" अर्थात् पुरुष संग रहित है। साथ ही सांख्य मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के लिए होता है। सांख्य की इन दोनों धारणाओं में पारस्परिक विरोध है। प्रकृति अंधी है और पुरुष अपंग है, गतिहीन है एक दूसरे की सहायता के बिना अंधकारपूर्ण अज्ञान के वन से बाहर निकलना असम्भव है। कारण कि अंधे में चलने की शक्ति है पर मार्ग का उसे ज्ञान नहीं और दूसरी ओर लंगड़े में दृष्टि है पर गति नहीं। दोनों का साथ ही एक दूसरे के अभाव का पूरक है। इसी प्रकार पुरुष एवं प्रकृति का सम्बन्ध भी है। पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकारों की उत्पत्ति होती है। पुरुष एवं प्रकृति से उत्पन्न तत्वों का रेखाचित्र इस अध्ययन में और भी सरलता ला देगा—
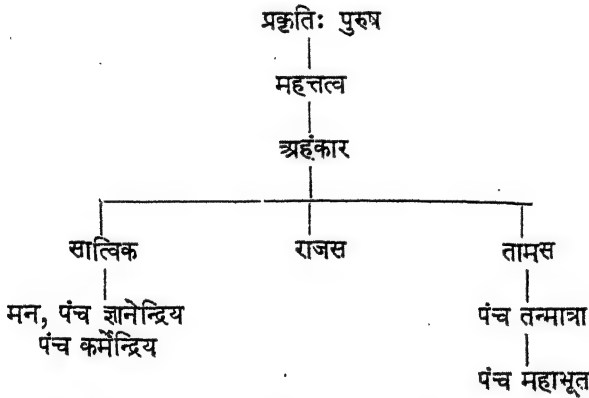
पुरुष एवं बुद्धि की मिथ्या एकता अहंकार की जन्मदात्री है। पुरुष यदि अज्ञेय नहीं है तो उसका ज्ञान भी वृत्तिरूप होना चाहिए। पुरुष एवं बुद्धि के भेदज्ञान के अभाव में मुक्ति संभव नहीं है।

सांख्य ने ईश्वर का अभाव या अनुपस्थिति सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। सांख्य का केवल इतना ही अनुरोध है कि सृष्टि प्रलय एवं कर्म विपाक में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इन तर्कों के आधार पर ईश्वर की स्थिति सिद्ध नहीं की जा सकती है। सांख्य योग को न तो अनीश्वरवादी ही कह सकते हैं न न्याय वैशेषिक की भाँति ईश्वरवादी ही। श्वेताश्वतर एवं गीता के सांख्य की भाँति उत्तर सांख्य को सेश्वर नहीं कहा जा सकता

है। ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है। अतएव सांख्यसूत्र प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असिद्धि पर जोर देता है।

इस प्रकार सांख्य योग के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया है—

१. अनात्म या जड़ प्रकृति तथा आत्मा (चेतन, पुरुष) के संसर्ग से इस सृष्टि की रचना हुई।

२. अनात्मक एवं आत्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं। दोनों में भेद हैं। अनात्म के स्वरूप, तज्जन्य, प्रथम सूक्ष्म (महत्तत्व या अहंकार, बुद्धि, मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय आदि) एवं तत्पश्चात स्थूल, पंचभूत, कर्मेन्द्रिय आदि प्रत्यक्ष जगत इन दोनों ही से आत्मा नितांत भिन्न है। कारण कि प्रकृति ही समस्त प्रपंच की रचना करती है और आत्मा निर्लिप्त है।

३. जिस समय प्रकृति अपनी माया का विस्तार स्थगित कर देती है उसी समय आत्मा का पुरुष कैवल्य पद प्राप्त करता है। सांख्य योग में पुरुष की इसी स्वाभाविक स्थिति को मुक्तावस्था बताया गया है।

सुन्दरदास ने 'ज्ञान समुद्र' एवं 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' के अन्तर्गत सांख्य योग के जिन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया है अथवा जो सिद्धांत उनके इन दो ग्रन्थों में परिपोषित हुए हैं उनका ऊपर लिखित सिद्धांतों से नितांत साम्य है। सामान्यतया कवि ने उपर्युक्त इन्हीं तीनों सिद्धांतों के आधार पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। योग के अंगों में सांख्य योग विशेषरूप से दुरूह और नीरस प्रतीत होता है, पर सांख्य योग के इन आधार-भूत सिद्धांतों को लेकर कवि ने जिस शैली के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यंजना की है उससे विषय में सरलता के साथ रोचकता का भी समावेश हो गया है। इन सभी सिद्धांतों में कवि ने आत्म और अनात्म की भिन्नता पर विशेष जोर दिया है।

आत्मा अनात्मा दोनों ही एक दूसरे से भिन्न हैं। अनात्म जड़ तथा सूक्ष्म एवं स्थूल की सीमाओं में सीमित है। आत्मा चैतन्यरूप सूक्ष्म एवं स्थूलादि की सीमाओं से मुक्त है। आत्मा और अनात्मा का भेद हृदयंगम कर लेना ही संशय एवं शोक के विनाश का कारण बन जाता है। सुन्दरदास के शब्दों में—

सुनि शिष्य यहै मत सांख्यहि कौ जु अनातम आतम भिन्न करै।
अनातम है जड़ रूप लिये, नित आतम चेतन भाव धरै।।
अनआतम सूक्ष्म थूल सदा, पुनि आतम सूक्ष्म थूल परै।
तिनकौ निरनै अब तोहि कहौं जिनि जानत संशय शोक हरै।।

ज्ञा० सं० चतुर्थोल्लास ।।५७।४।।

इस संसार की रचना पुरुष एवं प्रकृति के संसर्ग से हुई है। फिर मानव की आत्मा या चेतन अलिप्त और समस्त विकारों से परे एवं दूर है। पुरुष समस्त पदार्थों में विद्यमान रहता हुआ भी अलिप्त है। पुरुष प्रकृति से सदैव उदासीन रहता है। पर प्रकृति अपने प्रपंचों की रचना के द्वारा पुरुष को नित्य ही नये बन्धनों में फाँसने का प्रयत्न करती है। सांख्य सूत्र का मत है—

जड़व्यावृतो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः
सा० सू० अ० ६ सूत्र ॥५०॥

कवि के अनुसार—

पुरुष प्रकृति मय, जगत है ब्रह्म कीट पर्यंत।
चतुर षांनि लौं सृष्टि सब शिव शक्ती वर्तंत॥
शिव शक्ती वर्तंत अन्त दुहुवनि कौं नांही।
एक आदि चिद्रूप एक जड़ दीसत छांही॥
चेतनि सदा अलिप्त रहै जड़ सौं नित कुरुषं।
शिष्य समुझि यह भेद भिन्न करि जांनहुँ पुरुषं॥
ज्ञा० सं० तृतीयोल्लास ॥५८।५॥

पुरुष अनादि एवं निमित्त कारण कूटस्थ अकर्त्ता है। वह किसी संसार में विद्यमान रहते हुए भी निर्लिप्त एवं अलिप्त है। वह समस्त प्रपंचों से दूर और बन्धनों से पृथक रहने के लिए लालायित रहता है। प्रकृति अनादि एवं सृष्टि के उपादान का कारण है। परन्तु प्रकृति स्वमाया द्वारा नाना प्रकार के प्रपंचों की रचना किया करती है। यही प्रपंच मानव को माया के पाश में बाँधते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का कारण प्रकृति तथा पुरुष का संयोग है। पुरुष और सृष्टि के संयोग से जगत की स्थिति उसी प्रकार है, जैसे अग्नि की उत्पत्ति रवि एवं दर्पण के संसर्ग से होती है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के संसर्ग से सुई चेतन्य अथवा गति मान हो जाती है और वायु के संयोग से उदधि में उर्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यथा सूर्य के प्रकाश से नेत्र वाह्य जगत के चित्रों को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना होती है—

पुरुष प्रकृति संयोग जगत उपजत हैं ऐसे।
रवि दर्प्पण दृष्टांत अग्नि उपजत हैं तैसे॥
सुई होंहि चेतन्य यथा चुम्बक कै संगा।
यथा पवन संयोग उदधि महिं उठहिं तरंगा॥

अरु यथा सूर संयोग पुनि चक्षु रूप कौं ग्रहत है ।
यों जड़ चेतन संयोग ते सृष्टि उपजती कहत है ॥
ज्ञा० सं० तृतीयोल्लास ॥५६।७॥

सांख्य योग के अनुसार पुरुष एवं प्रकृति के संयोग से एक महत्तत्व, महत्तत्व से २ अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय तथा तीन पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत आदि की उत्पत्ति हुई है। सुन्दरदास ने भी ज्ञान समुद्र में पुरुष एवं प्रकृति के संसर्ग से इन्हीं तत्वों की उत्पत्ति का उल्लेख किया है। कवि के ही शब्दों में—

पुरुष प्रकृति संयोग ते प्रथम भयो महत्तत्व ।
अहंकार तातें प्रकट त्रिविधि सु तम रज सत्व ॥
तिहिं तामसाहंकार त दश तत्व उपजे आइ ।
ते पंच विषय रु पच भूतनि कहौं शिष्य सुनाइ ॥
ये शब्द स्परश रूप रस अरु गंध विषय सु जानि ।
पुनि व्यौम मारुत तेज जल क्षिति महाभूत बषानि ॥
ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ॥६।१०॥

सुन्दरदास ने प्रकृति तथा पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न जिन तत्वों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—

१. महत्तत्व
२. अहंकार — सात्विक अहंकार
तामस अहंकार
३. सात्विक अहंकार—(१) मन
(२) पंच ज्ञानेन्द्रिय—१. चक्षु, २. घ्राण, ३. रसना
४. त्वक्, ५. श्रोत्र।
(३) पंच कर्मेन्द्रिय—१. वाक्, २. पाणि, ३. पाद,
४. वायु, ५. उपस्थ।
४. तामस अहंकार—(१) तन्मात्रा—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रस, ४. गंध, ५. रूप।
(२) पंच महाभूत—१. क्षिति, २. जल, ३. पावक,
४. गगन, ५. समीर

सुन्दरदास लिखित प्रकृति एवं पुरुष के समागम से उत्पन्न सृष्टि एवं अन्यान्य तत्वों का रेखाचित्र निम्नलिखित होगा—
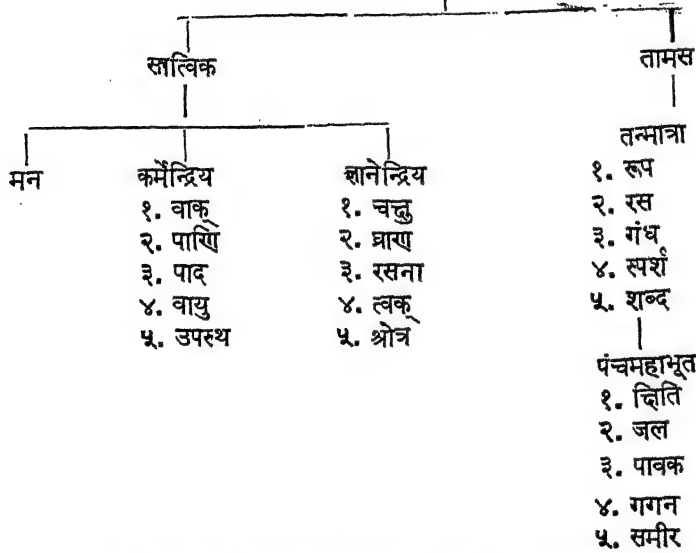
इन विविध तत्वों के उल्लेख के पश्चात् कवि ने तामसाहंकार के लक्षणों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

> शब्द गुणों आकाश एक गुण कहियत जामहिं।
> शब्द स्पर्शजु वायु उभय गुण लहियत तामहिं॥
> शब्द स्पर्शजु रूप तीन गुण पावक मांहीं।
> शब्द स्पर्जे रूप रस जल चहुँ गुण आंही॥
> पुनि शब्द स्पर्शजु रूप रस गंध पंच गुण अवनि है।
> शिष्य इहै अनुक्रम ज्ञानि तू सांख्य सु मत ऐसे कहै॥

तमसाहंकार के लक्षणों का उल्लेख कर चुकने के बाद कवि ने पंच तत्वों के स्वभाव का वर्णन किया है। कवि के अनुसार पृथ्वी का स्वभाव कठिन है, उदक (जल) का स्वभाव द्रावक है, अग्नि का स्वभाव ऊष्ण है, पवन का स्वभाव गति है तथा आकाश का स्वभाव स्थिरता है—

यह कठिन स्वभाव अवनि को कहिये द्रावक उदकहि जानहुँ।
पुनि उष्ण स्वभाव अग्नि महि बर्त्तय चलन पवन पहिचानहुँ ॥
आकाश सुभाव सुथिर कहियत है पुनि अवकाश लगावै।
ये पंचतत्व के पंच सुभावहि सद्गुरु बिना न पावै ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ॥६०।१३॥)

उपर्युक्त रेखा-चित्र से ज्ञात होगा कि अहंकार दो प्रकार के कहे गए हैं। प्रथम तामसाहंकार तथा द्वितीय राजसाहंकार। तामसाहंकार के तत्व और उनके लक्षण एवं गुणों के विषय में कवि के मत का उल्लेख हो चुका है। "अथ राजसाहंकार सर्ग" शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने अहंकार के इस भेद पर सैद्धान्तिक पक्ष का ध्यान रख कर विचार नहीं प्रकट किए हैं वरन् कवि ने केवल 'दश इन्द्रिय', 'पंच वायु' तथा उनके विभिन्न नामों एवं क्रियाओं का उल्लेख-मात्र कर दिया है—

अथ राजसाहंकार तें उपजी दश इन्द्रिय सु बताऊँ।
पुनि पंच वायु तिनकैं समीप ही व्यौरौ समझाऊँ ॥
अरु भिन्न-भिन्न है क्रिया सु तिन की भिन्न-भिन्न है नाम।
सुनि शिष्य कहौं नीकै करि तोसौं ज्यौं पावै विश्राम ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ॥६१।१४॥)

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है मन के अधीन है। ये समस्त इन्द्रियाँ मन की अनुगामिनी एवं चेरी हैं। इनकी गति मन के अनुकूल ही है। इनके कर्म भी भिन्न-भिन्न हैं। कवि ने इन पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है—

पंच ज्ञानेन्द्रिय—श्रवण तुचा दृग घ्राण रसन पुनि तिनि के संगा।
ज्ञान सु इन्द्रिय पंच भई अब अपने रंगा ॥
पंच कर्मेन्द्रिय—वाक् पानि अरु पाद उपस्थ गुदाहू कहिये।
कर्म सु इन्द्रिय पंच भली विधि जाने रहिये ॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ॥६१।१५॥)

कवि द्वारा उल्लिखित इन विविध दश इन्द्रियों का सांख्य सूत्र में उल्लिखित दश इन्द्रियों से पूर्ण साम्य है। इन दश इन्द्रियों के उल्लेख के पश्चात् कवि ने पुरुष शरीरस्थ पंच वायु का भी वर्णन किया है। इस पंच वायु पर हठयोग के प्रसंग में सविस्तार विचार हुआ है। अतः यहाँ पर उनके विषय में वही विचार प्रकट करना पुनरुक्ति होगी।

सात्विकाहकार के अन्तर्गत कवि ने मन, बुद्धि तथा अहकार का उल्लेख किया है। साख्य योग के अन्तर्गत मन, बुद्धि और अहकार ही तीन अतःकरण माने गए हैं। ज्ञानेन्द्रिय एव कर्मेन्द्रिय वाह्यकरण कहे हैं। 'चित' वेदात के अतःकरण चतुष्टय मे है, साख्य मे नही। सात्विक से ही मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियो की उत्पत्ति होती है। सुन्दरदास के ही शब्दो मे—

अथ सात्विकाहकार ते मन बुद्धि चित्त अह भये।
पुनि इन्द्रियन के अधिष्ठाता देवता बहु विधि ठये॥
दिग्पाल, मारुत, अर्क, आश्विनि वरुण जान सु इन्द्रिय।
पुनि अग्नि इन्द्र उपेन्द्र मित्रजु प्रजापति कर्मेन्द्रिय॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ॥६२।१६॥)

प्रस्तुत छन्द मे कवि ने विभिन्न १० इन्द्रियो के दश अधिष्ठाता देवताओ का वर्णन किया है। इन इन्द्रियो और उनके देवताओ की सूची निम्नलिखित है—

सख्या	इन्द्रियाँ	अधिष्ठाता देवता
१	ज्ञानेन्द्रिय	१ दिग्पाल, २ मारुत, ३. अर्क ४. अश्विनि, ५. वरुण
२.	कर्मेन्द्रिय	१ अग्नि, २ इन्द्र, ३ उपेन्द्र, ४ मित्रजु, ५. प्रजापति

अहकार तीन प्रकार के हैं सत, तम और रज। इन्ही से सूक्ष्म एव स्थूल देहों की रचना हुई है। जिस प्रकार का अहकार होता है उसी प्रकार का रूप होता है। कोई सत्वाहकार युक्त है कोई रजोअहकार युक्त है। अहकार ही समस्त पिड और सूक्ष्म देहो का कारण है।[1]

ज्ञान समुद्र के तृतीय उल्लास मे वर्णित २०-२५ छन्द तक स्थूल देह का विवेचन ऊपर हो चुका है। प्रस्तुत प्रसग के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि कवि ने बड़े रोचक ढग से स्थूल देह के निर्माण का वर्णन किया है। कवि ने प्रत्येक पच तत्व के पाँच-पाँच भेदों का उल्लेख किया है। उनके वर्णन शैली मे भी नवीनता एव रोचकता है। इस प्रकरण के अन्तर्गत कवि ने आगे भी स्थूल देह की रचना करने वाले पच तत्वो का और भी वर्णन रोचक ढग से किया। 'अथ अन्य भेद' शीर्षक के अन्तर्गत अन्य प्रकार से पच भूत से पच कर्मेन्द्रिय एव पच ज्ञानेन्द्रिय घ्राण, जल तत्व से कर्मेन्द्रिय जननेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा, तत्व से कर्मेन्द्रिय पाव और ज्ञानेन्द्रिय नेत्र, पवन तत्व से कर्मेन्द्रिय हाथ और ज्ञानेन्द्रिय

[1] त्रिविधि शक्ति है त्रिगुणमय, तम रज सत्व सुयेहु।
इनि करि पिंड स्थूल है, इनि करि सूक्षम देहु॥

(स्पर्श) तथा आकाश तत्व से कर्मेन्द्रिय वचन एवं ज्ञानेन्द्रिय कर्ण की उत्पत्ति हुई है।[१] निम्नलिखित तालिका से पंच भूतों द्वारा पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति का विवरण स्पष्ट हो जाता है :

कारण देह सु तीसरौ, सब को कारण मूल।
ताही तें दोऊ भये, सूक्ष्म देह स्थूल॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६२।१८-१९)

[१]व्योम वायु पावक जल धरणी। थूल देह इनही की बरणी॥
एक तत्व महिं पंच बताऊँ। पंच पञ्च पच्चीस सुनाऊँ॥२०॥
अस्थि अवनि त्वक् उदकहि जानहुँ। मांस अग्नि नीकैं पहिचानहुँ॥
नाडी वायु रोम आकाशं। पञ्च अंश पृथ्वी जु प्रकाशं॥२१॥
भेद सु अवनि मूत्र जल कहिये। रक्त अग्नि यह जाने रहिये।
शुक्र सु वायु श्लेषम व्योमं। पञ्च अंश ये उदक समोमं॥२०॥
क्षुत्पृथ्वी तृट जल कौ अंशा। आलस अग्नि न आनहु संसा।
संगम वायु नींद नभ जानं। पञ्च अंश ये अग्नि प्रमानं॥२३॥
रोध अवनि भ्रमणं जल माही। ऊर्द्ध गमन अग्नी महि आंही।
अति निर्गमन वायु पहिचानहु। उच्च स्थिति आकाशहि जानहु॥२४॥
भय पृथ्वी मोहादिक नीरं। क्रोध अग्नि पुनि काम समीरं।
लोभाकाशं कहि समुझाये। पञ्च अंश ये नभ के पायें॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास)

१ गुदा कर्म इन्द्रियन मँहि, नाशा इन्द्रिय ज्ञान।
ये दोऊ भू तें प्रगट शिष्य लेहु पहिचान॥
उपस्थ कर्मेन्द्रियनि मँहि रसना इन्द्रिय ज्ञान।
ये दोऊ जल ते प्रगट, शिष्य लेहु पहिचान॥
चरन कर्म इन्द्रियनि मँहि लोचन इन्द्रिय ज्ञान।
ये दोऊ बसु ते प्रगट, शिष्य लेहु पहिचान॥
पानि कर्म इन्द्रियनि महि त्वक् इन्द्रिय पुनि ज्ञान।
ये दोऊ पवनहि प्रगट शिष्य लेहु पहिचान॥
वचनं कर्मेन्द्रिनि महि श्रोत सु इन्द्रिय ज्ञान।
ये दोऊ नभ ते प्रगट शिष्य लेहु पहिचान॥
(ज्ञा० स० ततीयोल्लास २६-३०)

संख्या	तत्व	कर्मेन्द्रिय	ज्ञानेन्द्रिय
१.	पृथ्वी	गुदा	नासा
२.	जल	जननेन्द्रिय	जिह्वा
३.	तेज	पाँव	आँख
४.	पवन	हाथ	त्वचा
५.	आकाश	वचन	कान

इस वर्गीकरण से पुरुष शरीरस्थ इन्द्रियों में विभिन्न तत्वों का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

पंचभूतों से पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के वर्णन के अनन्तर लेखक ने पंचेन्द्रियों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक भाव का वर्णन 'अथ त्रिपुटी भेदं' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। 'अथ त्रिपुटी भेद' के अन्तर्गत पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक भाव का अध्ययन निम्नलिखित तीन शीर्षकों में प्रस्तुत किया गया है :

१. अथ ज्ञानेन्द्रिय त्रिपुटी।
२. अथ कर्मेन्द्रिय त्रिपुटी।
३. अथ अंतःकरण त्रिपुटी।

लेखक ने सर्व प्रथम ज्ञानेन्द्रिय त्रिपुटी पर अपने विचार प्रकट किए हैं। लेखक के मत से 'श्रोत्र' आध्यात्मिक भाव है, 'श्रोतव्यं' आधिभौतिक और 'दिशा' आधिभौतिक भाव है। 'त्वक्' आध्यात्मिक भाव है, 'स्पर्श' आधिभौतिक तथा 'वायु' आधिदैविक भाव है। 'चक्षु' आध्यात्मिक भाव है, 'दृष्टव्यं' आधिभौतिक तथा 'सूर्य' आधिदैविक एवं 'वरुण' आधिदैविक। 'घ्राण' आध्यात्मिक भाव है, 'घ्रातव्यं' आधिभौतिक तथा 'अश्विनि' आधिदैविक भाव है।[1] ज्ञानेन्द्रिय त्रिपुटी का भाव पृष्ठ ८६ पर दी हुई तालिका से विशेष स्पष्ट हो जायगा :

---

[1] श्रोत्रसु अध्यातम प्रकट, श्रोतव्यं अधिभूत।
दिशा तत्र है देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत ॥३१॥
त्वक् अध्यातम जानयहु, सपरश है अधिभूत।
वायु तत्र पुनि देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत ॥३२॥
चक्षु अध्यातम जानियहु, दृष्टव्यं अधिभूत।
सूर तत्र है देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत ॥३३॥
रसना अध्यातम प्रकट, रस ग्रहण अधिभूत।
वरुण तत्र है देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत ॥३४॥

	आध्यात्मिक भाव	आधिभौतिक भाव	आधिदैविक भाव
१.	श्रोत्र	श्रोतव्य	दिशा
२.	त्वक्	स्पर्श	वायु
.	चक्षु	द्रष्टव्य	सूर्य
४.	रसना	रसग्रहण	वरुण
५.	घ्राण	घ्राणव्य	अश्विनि

इसी प्रकार कवि ने कर्मेन्द्रिय त्रिपुटी का वर्णन किया है। कर्मेन्द्रियों में वचन आध्यात्मिक, वक्तव्य आधिभौतिक एवं अग्नि आधिदैविक है। हस्त आध्यात्मिक, आदान आधिभौतिक एवं इन्द्र आधिदैविक है। चरण आध्यात्मिक, गंतव्य आधिभौतिक एवं विष्णु आधिदैविक। उपस्थ आध्यात्मिक, आनंद आधिभौतिक एवं प्रजापति आधिदैविक। गुदा आध्यात्मिक, मलत्याग आधिभौतिक एवं मित्र आधिदैविक।[1] कर्मेन्द्रियों की त्रिपुटी की तालिका निम्नलिखित है :

संख्या	आध्यात्मिक	आधिदैविक	आधिभौतिक
१.	वचन	वक्तव्य	अग्नि
२.	हस्त	आदान	इन्द्र
३.	चरण	गंतव्य	विष्णु
४.	उपस्थ	आनन्द	प्रजापति
५.	गुदा	मलत्याग	मित्र

घ्राण सु अध्यातम प्रगट घ्रातव्यं अधिभूत।
अश्विनी है देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत ॥३५॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास पृ० ६४)

[1]वचन सु अध्यातम प्रगट, वक्तव्यं अधिभूत।
अग्नि तत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
हस्त सु अध्यातम प्रगट, आदानं अधिभूत।
इन्द्र तत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
चरण सु अध्यातम प्रगट, गंतव्य अधिभूत।
विष्णुतत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
उपस्थ अध्यातम प्रगट, आनन्द अधिभूत।
प्रजापति हि तँह देवता, यह त्रिपुटी इहि सूत॥
गुदा सु अध्यातम प्रगट, मलत्यागं अधिभूत।
मित्र तत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास, ६५।३६-४०)

'ज्ञानेन्द्रिय' एवं 'कर्मेन्द्रिय त्रिपुटी' वर्णन के अनन्तर लेखक ने 'अंतःकरण त्रिपुटी' का वर्णन किया। अतःकरण त्रिपुटी के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार आध्यात्मिक भाव है, क्रमशः संकल्प, बोधव्य, चितवन तथा अहंकृत्य आधिभौतिक भाव है और चन्द्र, ब्रह्मा, वासुदेव तथा रुद्र क्रमशः आधिदैविक भाव है।[1] अंतकरण त्रिपुटी का भाव स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित तालिका दे देना असंगत न होगा।

संख्या	आध्यात्मिक	आधिभौतिक	आधिदैविक
१.	मन	संकल्प	चन्द्र
२.	बुद्धि	बोधव्य	ब्रह्मा
३.	चित्त	चितवन	वासुदेव
४.	अहंकार	अहंकृत्य	रुद्र

सांख्य मतानुसार २५ तत्व हैं। इन पच्चीस में प्रकृति, अहंकार, महत्तत्व, मन, पंच तन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और पुरुष की गणना की जाती है। इन पच्चीस तत्वों को गण भी कहा जाता है। परन्तु सुन्दरदास ने स्थल तत्व को १५ तत्वों से युक्त कहा है। इन पन्द्रह तत्वों में पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच कर्मेन्द्रिय सम्मिलित हैं। सांख्य मतानुसार "सप्तदशैकं लिंगम्" है। अर्थात् लिंग शरीर सत्रह तत्वों से युक्त है। ये सत्रह तत्व अहंकार, बुद्धि, पंच तन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच कर्मेन्द्रिय हैं। परन्तु सुन्दरदास ने लिंग शरीर को नौ तत्वों से युक्त कहा है। इन दोनों विषयों पर सांख्य योग से कवि का मतभेद विचारणीय है। कवि के शब्दों में लिंग शरीर के तत्वों का विवरण निम्नलिखित है—

> नव तत्वनि कौं लिंग प्रबंधा। शब्द स्पर्श रूप रस गन्धा॥
> मन अरु बुद्धि चित्त अहंकारा। ये नव तत्व किये निर्धारा॥

---

[1] मन अध्यातम जानियहु, संकल्पं, अधिभूत।
चन्द्र तत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
बुद्धि सु अध्यातम प्रगट, बोधव्यं अधिभूत।
ब्रह्मा तत्र सु देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
चित्त सु अध्यातम प्रगट चितवन है अधिभूत।
वासुदेव तहं देवता, यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
अहंकार अध्यातमं, अहंकृत्य अधिभूत।
रुद्र तत्र है देवता यह त्रिपुटी इहिं सूत॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६५।४१-४४)

पन्द्रह तत्व स्थूल वपु, नव तत्वनि कौ लिंग।
इन चौबीसहु तत्व कौ, बहु विधि कह्यौ प्रसंग ।।
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ६६।४५-४६)

इन्हीं नौ तत्वों के लिंग शरीर एवं पन्द्रह तत्वों के स्थूल शरीर का वर्णन सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका में भी हुआ—

चेतन लच्छण चित्त अनूपा।
अहंकार अभिमान स्वरूपा ।।
नौ तत्वनि कौ लिंग शरीरा।
पन्द्रह तत्व स्थूल गंभीरा ।।
ये चौबीस तत्व बंधानं।
भिन्न-भिन्न करि कियौं बषानं ।।
(स० यो० प्र० चतुर्थोपदेशः ११०।८-६)

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि शरीर के निर्माण में ६+१५=२४ तत्वों को महत्त्वपूर्ण मानता है। इन चौबीस तत्वों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

सुन्दरदास ने लगभग २२६ छन्दों में सांख्य योग पर अपने विचारों को व्यक्त किया है। परन्तु इन २२६ छन्दों में से अधिकांश छन्दों में कवि ने आत्म एवं अनात्म की भिन्नता अभिव्यक्त की है। सांख्य योग के आत्म-अनात्म भेद प्रकरण में लेखक की आत्मा विशेष रूप से रमी है। कवि ने विषय को और भी अधिक स्पष्ट करने के हेतु भाँति-भाँति की उपमा और उपमेयों का प्रयोग किया। आत्मा और शरीर की भिन्नता सिद्ध करने के लिए लेखक ने उसकी तुलना अन्य जड़ एवं चेतन्य पदार्थों से की है। कवि ने आत्मा को साक्षी रूप में माना है। संसार के समस्त कार्यों में संलग्न होते हुए भी शरीर किसी भी प्रकार आत्मा को आच्छादित नहीं कर पाती है। कवि ने आत्मा के लिए निर्लिप, अलिप्त, निराकार, निःसंग, अविनाशी, अजर, अमर, मलीन, अनूप, चिदानन्द, अनूपस्वरूप, चेतन्य, सर्वव्यापी, साक्षी, अचल, ममत्व-रहित, गुणातीत आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। यही विशेषण संत साहित्य में (तथा सुन्दरदास के काव्य में भी) परंब्रह्म परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सुन्दरदास आत्मा को ब्रह्म के पृथक नहीं वरन् प्रतिमूर्ति ही मानते हैं। आत्मा और ब्रह्म में कोई भी भेद नहीं है यह कवि का दृढ़ विश्वास है और इसी विश्वास को अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने बारम्बार—

आतम चेतनि शुद्ध निरंतर भिन्न रहै कहुँ लिप्त न होई।
है जड़ चेतन अंतःकर्ण जु शुद्ध अशुद्ध लिये गुन दोई।

कथन को दुहराया है। कवि ने इस कथन के समर्थन में अनेक छन्दों की रचना की

है। कवि आत्म और अनात्म के भेद को हृदयंगम, कर लेना ही सांख्य का मूल सिद्धांत मानता है। ज्ञान समुद्र के सांख्य योग प्रकरण के प्रारम्भ में ही चेतन के अलिप्त रहने का उल्लेख हुआ है—

एक आहि चिद्रूप एक जग दीसत छांही।
चेतन सदा अलिप्त रहै जड़ सौं नित कुरुपं॥
शिष्य समुझि यह भेद भिन्न करि जानहु पुरुषं।
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास पृ० ५८।५)

इसी प्रकार सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका के प्रारम्भ में कवि ने लिखा है—

सब कौ प्रेरक कहिये जीवा।
सौ क्षेत्रेज्ञ निरंतर शीवा॥
सकल वियापक अरु सर्वज्ञा।
दीसै संगी आहि असंगा॥
साक्षी रूप सबनि ते न्यारा।
ताहि कछू नहि लिये विकारा॥
यह आतम अन आतम निरना।
समझै ताको जरा न भरना॥
सांख्य सु मन याही सौं कहिये।
सतगुरु बिना कहौ क्यों लहिये॥
(स० यो० प्र० चतुर्थोपदेशः ॥९, १०, ११)

कवि ने आत्म अनात्म भेद को ही सांख्य का मूल सिद्धांत माना है—

सुनि शिष्य यहै मत सांख्यहि कौ जु अनातम आतम भिन्न करै।
अनआतम है जड़ रूप लिये नित आतम चेतन भाव धरै॥
(ज्ञा० स० तृतीयोल्लास ५७।४)

मानव की इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं। इन्द्रियाँ शरीर के अंग हैं। कान सुनते हैं, नेत्र देखते हैं, जिह्वा रस लेती है, नासिका सुगंध का अनुभव करती है, त्वचा कोमलता का अनुभव करती है, मुख शब्दोच्चारण करता है, हाथ ग्रहण करता है पद गमन करते हैं, उपस्थादि इन्द्रियाँ मल मूत्र त्याग करती हैं, परन्तु जिस दिव्य पदार्थ से समस्त शरीर प्रकाशित है वह इन सबसे भिन्न एवं पृथक है।[1]

---

[1]श्रोत्र सुनै दृग देखत है रसना रस घ्राण सुगंध विचारै।
कोमलता त्वक् जानत है पुनि बोलत है मुख शब्द उचारै॥

मन, बुद्धि, चित्त अहंकारादि, श्रोत्र, त्वक, वाक्, पाद, उपस्थादि समस्त इन्द्रियों को जीव भ्रमाता है नकि जीव इन इन्द्रियों द्वारा भ्रमित है।[1] बुद्धि को बुद्धि, नेत्र को दृष्टि, जिह्वा को वाणी इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को शक्ति देनेवाली यही आत्मा है, और कोई अन्य प्राणी नहीं।[2]

स्थूल शरीर से लेकर प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों से पुरुष या आत्मा भिन्न है। संहतवस्तु का अन्य ही भोक्ता होता है। आत्मा संहत पदार्थ नहीं है। पुरुष सुख-दुख तथा अन्य विकारों से परे है। आत्मा प्रकृति और उसकी माया से निर्लिप्त है। पुरुष अधिष्ठाता प्रेरक है इस कारण से यह आत्मा अधिष्ठेय प्रेरित से भिन्न है जैसे राजा प्रजा से और सारथी रथ और घोड़ों से भिन्न है। पुरुष चेतन है और इसे ही ज्ञान होता है इन्द्रियादि जड़ हैं। अतः जड़ पदार्थों से पुरुष, आत्मा भिन्न है। आत्मा अहंकार, उत्तम, मध्यम तथा ऋतुओं के विकार एवं प्रभावादि से परे है।[3] आत्मा सदैव स्वच्छ,

---

पानि ग्रहै पद गौन करै मल मूत्र तजै उभऊ अध द्वारौ।
जाके प्रकाश प्रकाशत है सब सुन्दर सोइ रहै घट न्यारौ॥

[1]बुद्धि भ्रमै मन चित्त भ्रमै अहंकार भ्रमै कहा जानत नाहीं।
श्रोत भ्रमै त्वक् घ्राण भ्रमै रसना दृग देषि दशौ दिशि जाहीं॥
वाक् भ्रमै कर पाद भ्रमै गुद द्वारा उपस्थ भ्रमै कहुँ काँही।
तेरे भ्रमाये भ्रमै सबही गुन सुन्दर तूं क्यों भ्रमै इन माँही॥

[2] बुद्धि को बुद्धि रुचित को चित्त अहंको अहं मन को मन वोई।
नैन को नैन है, बैन को बैन है कान को कान त्वचा त्वक होई॥
घ्राण को घ्राण है जीभ को जीभ है हाथ को हाथ पगौ पग दोई।
सीस को सीस है, प्राण को प्राण है जीव को जीव है सुन्दर सोई॥
(स० प्र० भाग २, पृ० ५८६)

[3]तूं तौ कछु भूमि नांहि आपु तेज बायु नांहिं
व्यौम पंच विषै नांहिं सौ तौ भ्रम कूप है।
तूं तौ कछु इन्द्री अरु अंतःकरण नांहि
तीनों गुण ऊ तूं नांहि सोऊ छांह धूप है॥
तूं तौ अहंकार नांहि पुनि महतत्व नाहिं
प्रकति पुरुष नांहि तूं तौ सु अनूप है।
सुन्दर बिचारि ऐसे शिष्य सौं कहत गुरु
नांहि नांहि करते रहै सु तेरो ही रूप है॥

अनूप, चिदानन्द है, वह निःसंग निराकार, अविनाशी है। देह के समस्त विकार देह तक ही सीमित हैं वे आत्मा पर आरोपित नहीं हैं।[1] देह नरक का प्रतीक, दुख का पारावार, पाप, मोक्ष आदि की सीमाओं में बन्धनीय, शुभाशुभ से प्रभावित तथा दुःख सुख का आगार है। पर आत्मा चेतन्य तथा आनंद स्वरूप है।[2]

सांसारिक जिन कर्मों का उपभोग मानव करता है, वह शरीर के द्वारा है आत्मा के द्वारा नहीं। प्रकृति द्वारा उत्पन्न किए गए भ्रमों में मानव सर्वदा भ्रमता रहता है, आत्मा नहीं। आत्मा केवल साक्षी रूप में है। वह साक्षी के रूप में शरीर के समस्त व्यापारों को सदैव देखा-सुना करता है।[3] पुरुष के शरीर की स्थिति तात्विक दृष्टि से निःसार एवं शून्य है।

---

[1]तेरौ तौ स्वरूप है अनूप चिदानंद घन
देह तौ मलीन जड़ या विवेक कीजिये।
तूं तौ निहसंग निराकार अविनाशी अज
देह तौ विनाशवंत ताहि नहिं दीजिये॥
तूं तौ षट ऊरमी रहत सदा एक रस
देह के विकार सब देह सिर वीजिये।
सुन्दर कहत यौं विचारि आपु भिन्न जानि
पर की उपाधि कहा आप षैंचि लीजिये॥

[2]देह ई नरक रूप दुख कौन बार-बार
देह ई जु स्वर्ग रूप झूठौ सुख मान्यौ है।
देह ई कौं बंध मोक्ष देह ई अप्रोक्ष प्रोक्ष
देह ई के क्रिया कर्म शुभाशुभ ठाँन्यौ है।
देह ही मैं और देह घुसी ह्वै विलास करै
ताहि कौं समुझि विन आत्मा बषान्यौ है।
दोऊ देह तै अलिप्त दोऊ कौ प्रकाश कहै
सुन्दर चेतन्य रूप न्यारौ करि जान्यौ है।

[3]देह हलै देह चलै देह ही सौं देह मिलै
देह षाइ देह पीवै देह ई भरत है।
देह ही हिंवार गरै देह ही पावक जरै
देह रन मांहि झूझै देह की परत है॥

स्थूल रूप में जो शरीर दृष्टिगत होता है उसकी वास्तविक स्थिति निराधार है। शरीर सुन्दर और असुन्दर है न कि आत्मा। आत्मा तो चैतन्य है, सुन्दर है।[1] मानव के शरीर भिन्न-भिन्न हैं पर आत्मा सब की एक ही है। समस्त चेतन में एक ही आत्मा एक ही ब्रह्म का निवास है। एक ही ब्रह्म समस्त कुलीन, अस्पृश्य, ऊँच-नीच, दीन-धनी में निवास करती है।[2] आत्मा सदैव अचल और एकरस रहती है। जिस प्रकार चन्द्रमा की स्थिति घटती बढ़ती नहीं है वरन् उसकी कलायें घटा बढ़ा करती हैं। यथा प्रवाहमान नदी के जल में पत्ते बहते हुए प्रतीत होते हैं उसी प्रकार देह के संसर्ग से आत्मा देहाभिमान का अभ्यास पाती है। आत्मा अखंड और अद्वय है।[3] जब तक अंतःकरण में अज्ञान है तभी

देह ही अनेक कर्म करत विविध भाँति
चुम्बक की पाइ लोह ज्यों फिरत है॥
आतमा चेतन्य रूप व्यापक साक्षी अनूप
सुन्दर कहत सुतौ जन्मै न मरत है॥

[1]देह कौ न देह कछु देह कौ ममत्व छाड़ि
देह तौ दमामौ दीये देह देह जात है।
घट तौ घटत घरी घरी घट नास होत
घट के गये तें घट की न फेरि बात है॥
पिंड पिंड मांहि पुनि पिंड कौं उपावत है
पिंड पिंड षात पुनि पिंड ही कौ पात है।
सुन्दर न होइ जासौं सुन्दर कहत जग
सुन्दर चेतन्य रूप सुन्दर विष्यात है॥

[2]एक घट मांहि तौ सुगंध जल भरि राष्यौ
एक घट मांहि तौ दुर्गन्ध जल भर्यौ है।
एक घट मांहि पुनि गंगोदक राष्यौ आंनि
एक घट माँहि आंनि मदिराज कर्यौ है॥
एक घृत एक तेल एक माँहि लघु नीति
सबही में सविता कौ प्रतिबिम्ब पर्यौ है।
तैसे ही सुन्दर ऊँच नीच मध्य एक ब्रह्म
देह भेद देषि भिन्न भिन्न नाम धर्यौ है॥

[3]आत्मा अचल शुद्ध एक रस रहै सदा
देह बिबहारनि मैं देह ही सौं जानिये।

तक आत्मा एवं शरीर दोनों ही एक प्रतीत होते हैं। ज्ञानोदय होते ही जड़ देह और आत्मा में भिन्नता ज्ञात हो जाती है।[1] जिस प्रकार मंदिर में स्थापित होते हुए भी ब्रह्म सर्वव्यापी है और मंदिर से भिन्न है ठीक उसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा, शरीर से नितांत भिन्न है।[2] आत्मा सर्व श्रेष्ठ देवता है।[3] वही चेतन रूप है—यथा नीर क्षीर मिले होने

जैसे शशि मंडल अभंग नहीं भंग होइ।
कला आवै जाहि घटि बढ़िसौ बषानिये॥
जैसे द्रुम सु थिर नदी के हटि देषियत
नदी के प्रवाह माँहि चलतौ सौ मानिये।
तैसे आतमा अतीत देह कौं प्रकाशक है
सुन्दर कहत यौं विचारि भ्रम जानिये॥
आतमा शरीर दोऊ एक भेद देषियत
जब लग अन्तहकरण में अज्ञान है।
जैसे अंधियारी रैन घर मैं अंधेरौ होइ
आँषिनि को तेज ज्यौं कौ त्यौं ही विद्यमान है॥
जदपि अंधेरे माँहि नैन कौं न सूझै कछु
तदपि अंधेरै सौ अलपित बषाँन है।
सुन्दर कहत तौ लौं एक मेंक जानत है
जौं लौं नहि प्रगट प्रकाश ज्ञान भान है॥
[2]देह जड़ देवल मैं आतमा चेतन्य देव
याही कौ समुझिकरि यासौं मन लाइये।
खेल को बिनसत बार नहि लागै कछु
देव तौ सदा अभंग देवल मैं पाइये॥
देव की सकति करि देवल की पूजा होइ
भोजन विविध भाँति भोग हूँ लगाइये।
देवल ते न्यारौ देव देवल मैं देषियत
सुंदर विराजमान और कहाँ जाइये॥
[3]प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और
चित्त सौ न चंदन सनेह सौ न सेहरा।
हृदैसौ न आस न सहज सौ न सिंघासन
भावसी न सौंज सौर शून्य सौ न गेहरा।

पर भी हंस नीर का परित्याग करके केवल क्षीर का पान करता है और कंचन तथा धातु के सम्मिश्रण को स्वर्णकार शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार सांख्य योगी आत्मा और अनात्मा का भेद कर लेता है।[१] भूमि से सूक्ष्म जल है, जल से सूक्ष्म तेज है, तेज से सूक्ष्म वायु है, वायु से सूक्ष्म व्योम है, व्योम से सूक्ष्म तीन गुण, इन तीन गुणों से सूक्ष्म बुद्धि, से सूक्ष्म प्रकृति से भी सूक्ष्म आत्मा है।[२] आत्मा चेतन्य एवं चिरंतन तथा शुद्ध है। वह कहीं भी लिप्त नहीं है। देह मलिन है, महाजड़ है, विनाशशील है। आत्मा इन सभी से नितांत भिन्न है।[३] देह रूपी दीपक में तेल रूपी वायु है और अंतःकरण रूपी बत्ती है। यह शरीर चेतन्य की ज्योति से सर्वदा प्रकाशित रहता है।[४] यथा तिल में तेल है, दूध में घृत

सील सौ सनान नांहि ध्यान सौ न धूप और
ज्ञान सौ न दीपक अज्ञान तम के हरा।
मन सौ न माला कोऊ सोहं सौ न जाप और
आतमा सौ देव नाँहि देहं सौ न देहरा॥

[१] क्षीर नीर मिलि दोऊ एकठे ई होइ रहें
नीर छाँड़ि हंस जैसे क्षीर को गहतु है।
कंचन में धात मिलि करि बान पर्‌यौ
शुद्ध करि कंचन सुनार ज्यौं लहतु है॥
पावक हू दार मध्य दार ही सौ होइ रह्यौ
मथि करि काँढ़े वाही दार कौं दहतु है।
तैसे ही सुंदर मिल्यौ आतमा अनात्माजू
भिन्न-भिन्न करिये सु तौ सांख्य कहतु है॥

[२] भूमि तै सूक्षम आपु कौं जानहु आपु तें सूक्षम तेज कौ अंगा।
तेज तें सूक्षम वायु बहै नित बायु तैं सूक्षम व्योमउतंगा॥
व्योम ते सूक्षम है गुन तीन तिन्हूं तें अहं महतत्व प्रसंगा।
ताहु तें सूक्षम मूल प्रकृति जु मूल तें सुन्दर ब्रह्म अभंगा॥

[३] आतम चेतनि शुद्ध निरंतर भिन्न रहै कहुँ लिप्त न होई।
है जड़ चेतन अंतहकर्ण जु शुद्ध अशुद्ध लिए गुन दोई॥
देह अशुद्ध मलीन महा जड़ हालिन चालि सकै पुनि कोई।
सुन्दर तीनि विभाग किये बिन भूलि परै भ्रम तै सब कोई॥

[४] देह सराव तेल पुनि मारुत बाती अंतःकरण विचार।
प्रगट ज्योति यह चेतनि दीसै जातै भयौं सकल उजियार॥

है, लकड़ी में अग्नि है, पुष्प में सुगंध है, पोस्ता में अफीम उसी प्रकार शरीर में सार तत्व वस्तु आत्मा है।[1]

सुन्दरदास ने बारम्बार इन्द्रियां और आत्मा की पृथकता का उपदेश दिया है। अपने साखी साहित्य में कवि ने बड़ी ही सुन्दर उपमाओं द्वारा दोनों की भिन्नता निर्धारित की है। इन साखियों में नीरस और सांख्य योग के दुरूह सिद्धांत किस रोचकता से अभिव्यक्त हुए हैं, यह ध्यान देने योग्य है। यहाँ पर कतिपय साखियां उद्धृत की जाती हैं :

१. छीण सपष्ट शरीर है, शीत उष्ण तिहिं लार।
सुन्दर जन्म जारा लगै यह षट देह विकार ॥

२. छुधा तृषा गुन प्रान कौं शोक मोह मन होइ।
सुन्दर साछी आतमा जानै विरला कोई ॥

३. बुद्धि भ्रमै मन चित्र पुनि अहंकार बहु भाइ।
सुन्दर ये तौ तैं भ्रमै तूं क्यों इनि संग जाइ ॥

४. सुन्दर तूं न्यारौ सदा क्यौं इन्द्रिनि संग जाइ।
ये तौ तेरी शक्ति करि बरतैं नाना भाइ ॥

५- सुन्दर तूं चेतन्य धन चिदानन्द निज सार।
देह मलीन असुच्चि जड़ विनसत लगै न वार ॥

६. सुन्दर तूं तौ एकरस तोहि कहौं समुझाय।
घटै बढै आवै रहै देह बिनसि करि जाइ ॥

७. जे विकार है देह कै देहनि के सिर मारि।
सुन्दर याते भिन्न ह्वै अपनौ रूप विचारि ॥

८. सुन्दर यह नहिं यह नहीं यह तौ है भ्रम कूप।
नांहि नांहि करते रहै सोतो है तेरो रूप ॥

९. एक एक कै एक पर तत्व गनैं तै होइ।
सुन्दर तूं सब कै परै तौ ऊपरि नहिं कोइ ॥

व्यापक अग्नि मथन करि जोये दीपक बहुत भांति विस्तार।
सुन्दर अद्भुत रचना तेरी तूं ही एक अनेक प्रकार ॥

[1] तिल में तेल दूध में घृत है दार मांहि पावक पहिचानि।
पुहुप मांहि ज्यौं प्रगट बासना इछु मांहि रस कहत बषानि ॥
पोसत मांहि अफीम निरंतर बनस्पती मैं सहत प्रवानि।
सुन्दर भिन्न मिल्यौ पुनि दीसत देह मांहि यौं आतम जानि ॥

१०. पावक लोह तपाइये होइ एकई अङ्ग ।
तैसे सुन्दर आतमा दीसै काया संग ॥
११. जवहि कंचुकी होत है, भिन्न न जानै सर्प ।
तैसे सुन्दर आतमा देह मिले ते दर्प ॥
१२. देह आप करि मांनिया महा अज्ञ मतिमंद ।
सुन्दर निकसै छीलकै जबहि उचेरै कन्द ॥
१३. पोसत मांहि अफीम है वृक्षन में मधु जांनि ।
देह मांहि यौं आतमा सुन्दर कहत बखानि ॥
१४. फूल मांहि ज्यौं बासना इक्षु माहिं रस होइ ।
देह मांहि यौं आतमा सुन्दर जानै कोइ ॥
१५. तिलनि माहिं ज्यौं तेल है सुन्दर पय मैं घीव ।
दार माहिं है अग्नि ज्यौं देह माहिं यौं सीव ॥

भक्तियोग

सुन्दरदास ने 'ज्ञान समुद्र' के द्वितीय उल्लास में भक्तियोग पर अपने विचारों को व्यक्त किया है। कवि ने विभिन्न योगों में भक्तियोग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। इसलिए 'ज्ञान समुद्र' के द्वितीय उल्लास में ही लेखक ने भक्तियोग का विवेचन किया है। भक्तियोग का यह विवेचन ५६ विविधि छन्दों में हुआ है। इन छप्पन छन्दों में भक्ति का महत्त्व, भक्ति के विविधि प्रकार, नवधाभक्ति, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, स्तुति, बन्दन, दासत्व, सख्यत्व, आत्मनिवेदन, प्रेम लक्षणा भक्ति का महत्व, परा भक्ति, भक्ति की विविध सिद्धियाँ, उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठा भक्तियोग आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। 'सुन्दर ग्रन्थावली' के सम्पादक श्री हरिनारायण पुरोहित का अनुमान है कि "नवधा भक्ति और प्रेम लक्षणा आदि का वर्णन स्वामी जी ने किन ग्रन्थों पर किया सो प्रकट नहीं होता। परन्तु इनके वर्णन से यह अटकल लगाई जा सकती है कि (नारद पंचरात्र, शांडिल्य सूत्र, भक्ति-तरंगिणी आदि ग्रन्थों से लिए होंगे)" सुन्दरदास ने भक्तियोग के सम्बन्ध में अपने विचारों का उल्लेख करते हुए कहीं पर भी आधार ग्रन्थों का नाम नहीं अंकित किया है। अतः अनुमानों के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। सुन्दरदास ने भक्ति को भी एक योग माना है। भक्ति के साथ योग शब्द का जोड़ा जाना गीता का अनुकरण प्रतीत होता है। योग शब्द के विवेचन के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि ब्रह्म में मन को नियोजित करने की विशेष प्रक्रिया या पद्धति ही योग है। यहाँ पर भक्तियोग से कवि का तात्पर्य है, भक्ति के द्वारा मन को ब्रह्म में नियोजित करने की प्रक्रिया अथवा भक्ति की जिस क्रिया के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में मन नियोजित किया जाय वही 'भक्ति योग' है। 'भक्ति' शब्द को सुनते ही हमारे मस्तिष्क में सगुण परब्रह्म की उपासना का ध्यान आ जाता है। वस्तुतः तथ्य भिन्न है। सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि कवि ने निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का ही उपदेश दिया है—

शिष तोहि कहौं श्रुति वानी। सब संतनि साषि बषानी॥
द्वै रूप ब्रह्म के जानै। निर्गुण अरु सगुन छिपानै॥
निर्गुण निज रूप नियारा। पुनि सगुन संत अवतारा॥
निर्गुण की भक्ति सुमन सौ। संतन की मन अरु तन सौं॥
एकाग्रहिं चित्त जुराबै। हरिगुन सुनि सुनि रस चाषै॥

(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास १६।११, १२, १३)

षड्दर्शनों की भाँति ही भक्तियोग भी एक दर्शन माना गया है। 'भक्ति सूत्र' इस दर्शन का प्रमुख अंग है। भक्तगण इसे सप्तम दर्शन कहते हैं। देवर्षि नारद ने इन ८४ सूत्रों में ही भक्ति तत्व की व्याख्या, भक्ति के अन्तराल, भक्ति के साधन, भक्ति महिमा और भक्तों के महत्त्व को व्यक्त कर दिया है। भक्तियोग के सिद्धांतों के अन्तर्गत भक्ति के तीन स्वरूप मान्य हुए हैं—अनुग्रह, प्रेम एवं भक्ति। पुत्र शिष्यादि के प्रति स्नेह अनुग्रह है। भार्यादि के प्रति स्नेह प्रेम है और गुरुजनों एवं देवतादि के प्रति स्नेह भक्ति है। अतः स्नेह ही समस्त विश्व के सम्बन्धों का मूल है। परब्रह्म का आश्रय जिसमें ग्रहीत हो, उसकी प्राप्ति की जिसमें साधना हो सके, साधक के मन की गति जिसमें नियोजित हो सके वही 'भक्ति योग' है। 'श्री मन्नायसुधा' ग्रन्थ में श्रीमज्जयतीर्थ मुनीन्द्र ने भक्ति की निम्नलिखित व्याख्या की है—

"तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्व ज्ञानपूर्वक स्वस्वात्मात्मीय समस्त-वस्तुभ्योऽनेक गुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्य प्रतिवद्धो निरन्तर प्रेम प्रवाहः।"

अर्थात् अपरिचित कल्याण गुणों के ज्ञान से समुत्पन्न, अनेकानेक विघ्न बाधाओं के समुपस्थित होने पर भी विच्छिन्न होने वाला अत्यधिक दृढ़, भागीरथी के प्रवाह के समान अखंड प्रेम के प्रवाह को ही भक्ति कहा गया है। जिस अनवरत प्रेम की धारा में सर्वथा एवं सर्वदा एकमात्र भगवान ही विषय है तथा अन्य कोई स्वरूप नहीं है, वही उत्कृष्ट अनन्य भक्ति है। भक्ति ही मोक्ष का प्रधान कारण है। परमात्मा भक्ति के ही अधीन है—

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवशः पुरुषः।
(माठर श्रुति)

इसी प्रकार कंठ श्रुति भगवान की कृपा और प्रसन्नता का मुख्य कारण भक्ति ही वर्णित हुई है।[1]

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत भक्तियोग की बड़ी प्रशंसा वर्णित हुई है। श्रीमद्भगवत गीता में श्रीकृष्ण जी ने स्वयं ही भक्ति की महत्ता का निम्नलिखित उल्लेख किया है—

नाहं वसामि बैकुंठे यागिनां हृदयेन च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

---

[1]नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

'भक्ति योग' का ही दूसरा नाम 'साधन-भक्ति' है जिसके आधार एवं सहायता से पराभक्ति का अधिकार प्राप्त होता है।

महर्षि शांडिल्य के शब्दों में ईश्वर में परम अनुराग अर्थात् परम प्रेम ही भक्ति है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे

इसी भाव का उल्लेख महर्षि नारद के भक्ति-सूत्र में उपलब्ध होता है।[1] भक्तियोग साधक के अन्तिम् लक्ष्य परब्रह्म तक पहुँचने का अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक मार्ग है। भक्ति केवल साधन स्वरूप है। भक्ति को मुक्ति प्राप्त करने का निम्न उपाय माना गया है परन्तु यही निम्नकोटि की साधना उच्चकोटि की हार्दिक भावना के साथ मिलकर, अभिन्न होकर विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेती है। अज्ञान की परिधि से ऊपर उठाकर साधक को दिव्य ज्योति के परम प्रकाश के दर्शन कराना ही भक्ति योग का परम लक्ष्य है। भक्ति योग की सीमा और क्षेत्र में वर्ण, वर्ग एवं आश्रमादि की अपेक्षा नहीं रहती है। भक्तों की सूची देखने से यह कथन और भी सत्य प्रमाणित हो जाता है। साधना के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त साधकों की सूची देखने से ज्ञात हो जाता है कि पशु और जानवरों को भी हार्दिक भक्ति के कारण दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त हुए हैं। भक्ति अनेक भावों से प्रकाशमान होती है।[2]

तथ्य तो यह है कि भक्तियोग प्रेम के उच्चतम-विकास का ही विज्ञान स्वरूप है। भक्ति-योग किसी वस्तु के त्याग की शिक्षा नहीं प्रदान करता वरन् वह उपदेश देता है कि उस परम पुरुष में आसक्त हो और उसी में अपने अस्तित्व को पूर्णतया विनष्ट कर दो। इस भक्ति के विकसित होने पर स्वतः संसार के सभी भव-बन्धन और कामनाएँ छूट जाती हैं। महर्षि नारद का कथन है कि "यत्प्राप्त न किंचिद्वांच्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।" अर्थात् भक्ति के उदय होने पर पुरुष कामनारहित, वांच्छारहित, समस्त मनोविकार-रहित तथा समस्त आसक्तिरहित हो जाता है।

भक्ति के प्रकार के विषय में विभिन्न मत हैं। कुछ विचारकों के अनुसार भक्ति के नौ प्रकार हैं, अन्य भक्ति के दश प्रकारों के समर्थक हैं। 'ब्रह्मतर्क' में भक्ति के प्रकारों का उल्लेख अगले पेज में हुआ है—

[1]सा त्वस्मिन्परमप्रेमरूपा।
तथाः—ॐ सा कस्मै परमप्रेम रूपा॥

[2]सम्मान वहुमानप्रीतिविरहेतरचिकित्सामहिमख्याति
तदर्थ प्राण स्थानतदीयता सर्व्वतदभावा
प्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो वाहुल्यात्॥
शांडिल्य सूत्र अ० २ आ १, सूत्र ४

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम् ।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभय कारिणः ॥

'पदरत्नावली' ग्रन्थ में भी भक्ति के विभिन्न प्रकारों का निम्नलिखित उल्लेख उपलब्ध होता है :—

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिंगप्रदर्शकाः ।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः ॥
मुख प्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः ।
हसनादिलक्षण मुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति ॥

देवर्षि नारद ने 'भक्ति-सूत्र' के अन्तर्गत भक्ति के निम्नांकित भेदों का वर्णन किया है—

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति कान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति (सूत्र ८२)

अर्थात् यह प्रेम रूपा भक्ति एक होकर भी गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनसक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति इस प्रकार से ग्यारह प्रकार की होती है भक्तप्रवर प्रह्लाद ने भक्ति के नौ प्रकारों का उपदेश दिया है।[१] माध्वसिद्धांत के अन्तर्गत भी इसी नवधा भक्ति को मान्यता दी गई है। भक्ति के नौ प्रकार निम्नलिखित हैं—

१. श्रवण	४. पादसेवन	७. दास्य
२. कीर्तन	५. अर्चन	८. सख्य
३. स्मरण	६. वन्दन	९. आत्मनिवेदन

'नारद पंचरात्र', 'शांडिल्य सूत्र' तथा 'भक्ति तरंगिणी' आदि ग्रन्थों में भी नवधा भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है। सुन्दरदास ने भी 'ज्ञानसमुद्र' के द्वितीयोल्लास में इस नवधाभक्ति अथवा भक्ति के नौ प्रकारों का ही उपदेश दिया है। कवि के शब्दों में नवधा भक्ति के निम्नलिखित भेद हैं—

सुनि शिष नवधा भक्ति बिधानं ।
श्रवण कीर्त्तन समरण जानं ॥
पाद सेवनं अर्च्चन वंदन ।
दास भाव सख्यत्व समर्प्पन ॥
(ज्ञा० स० द्वितीय उल्लास १८।६)

सुन्दरदास लिखित नवधा भक्ति और शास्त्रोक्त नवधा भक्ति में कोई अन्तर

---

[१] श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (श्री मद्भागवत ७।५।२३)

नहीं है। भक्ति के अन्तिम प्रकार के विषय में कतिपय शाब्दिक भेद हैं, तात्विक दृष्टि से दोनों ही शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। सुन्दरदास ने भक्ति के नवम् प्रकार को समर्पण कहा है और भक्ति शास्त्र के अनुसार यही नवम् प्रकार आत्मनिवेदन है। वस्तुतः समर्पण और आत्म निवेदन में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है।

भक्ति के दो प्रधान भेद हैं—

१. साधनरूप—वैध अथवा नवधा भक्ति।

२. साध्यरूप—प्रेम लक्षणाभक्ति।

भक्ति के इन दोनों प्रकारों में सेवा साधन रूप है तथा प्रेम साध्य है। स्वामी जिस आचरण से प्रसन्न हो उसी भाव से भावित होकर कार्य करना ही सेवा है। धर्मशास्त्र में सेवा के अनेक लक्षण उल्लिखित हुए हैं। नवधा भक्ति का सर्वप्रथम अंग है श्रवण। ब्रह्म के नाम, रूप, लीला तत्व रहस्यादि वार्ताओं का श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक सुनना ही श्रवण है। ब्रह्म के प्रेम में मुग्ध होना श्रवण भक्ति है श्रवण के अन्तर्गत निष्कंटक जिज्ञासु भाव से प्रश्न करना और उसके उत्तर को सुनना विशेष महत्त्व रखता है। श्रवण के लिए सत्संग आवश्यक तत्व है। बिना सत्संग के श्रवण असम्भव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी दृढ़ अनुराग एवं मोह बिनाशादि के लिए तथा हरि कथा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सत्संग का महत्त्व माना है।[1]

श्रवण भक्ति भी सतसंग के ही प्रभाव से उपलब्ध होती है कारण कि सत्संग ही श्रवण भक्ति का हेतु है। इसी प्रकार भागवत में श्रीकृष्ण जी ने उद्धव को भक्ति का उपदेश दिया है। श्रवण के लिए महर्षि नारद ने भी महापुरुषों का सत्संग परमावश्यक माना है।[2] नारद ने श्रीमद्भागवतमाहात्म्य में सनकादि से कहा कि मैं भगवान के गुणानुवादों के श्रवण को सब धर्मों से श्रेष्ठ समझता हूँ। कारण कि भगवान के गुणानुवाद सुनने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है—

> श्रवणं सर्व धर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
> बैकुंठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लभ्यते ॥ (६।७७)

श्रवण भक्ति से ही मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। राजा परीक्षित इसके प्रमुख उदाहरण हैं

[1]बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

[2]यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भय ततोऽप्योत्ति साधून् संसेवतस्तथा॥
अन्नं हिं प्राणिनां प्राणा आर्त्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम्॥ (११।२६।३१, ३३)
नारद सूत्र ४२

जिन्हें केवल भागवत् के श्रवण से मुक्ति प्राप्त हो गई थी। भागवत् माहात्म्य में लिखा है कि "हे विषय विष से व्याकुल बुद्धि वाले पुरुषो! किसी कुत्सित वार्ता रूप कुमार्ग में व्यर्थ ही भटक रहे हो। इस असत्य संसार में कल्याण की कामना से कम से कम अर्धक्षण मात्र शुकदेव जी के मुख से निःसृत भागवत की कथा का पान करो। इसके श्रवण से मुक्ति हो जाती है इस कथन के ज्वलन्त उदाहरण परीक्षित हैं।"

असारे संसारे विषयविष संगाकुलधिय।
क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिवत शुकगाथातुलसुधाम् ॥
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सित कथे।
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्ति कथने (६।१०१)

नवधा भक्ति के उल्लेख के पश्चात् लेखक ने भक्ति के विभिन्न प्रकारों पर पृथक्-पृथक् विचार प्रस्तुत किया है। सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म की चर्चा, उसका गुणगान, सदुपदेश, श्रुतिशास्त्रादि के उपदेशों को एकाग्र चित्त से सुनना ही श्रवण है। श्रवण के अन्तर्गत सन्तों की वाणियों का श्रवण, मनन एवं चिन्तन को भी कवि ने बड़ा महत्त्व प्रदान किया है। नवधा भक्ति के इस प्रथम अंग में कवि ने निर्गुण ब्रह्म के गुणगान, श्रवण एवं उपासना का उपदेश दिया है। कवि के ही शब्दों में श्रवण की परिभाषा और विवेचना निम्नलिखित है—

शिष तोहिं कहौं श्रुति वांनी। सब सन्तनि साषि बषांनी ॥
द्वै रूप ब्रह्म के जानै। निर्गुन अरु सगुन पिछानै ॥
निर्गुन निजरूप नियारा। पुनि सगुन संत अवतारा ॥
निर्गुण की भक्ति सुमन सौं। सन्तन की मन अरु तन सौं ॥
एकाग्रहि चित्तजु राषै। हरि गुन सुनि रस चाषै ॥
पुनि सुनै संत के बैना। यह श्रवण भक्ति मन चैना ॥

इन पंक्तियों से श्रवण का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

श्रवण के पश्चात् कीर्तन नवधा भक्ति का द्वितीय अंग है। ब्रह्म के नाम, रूप, गुण, चरित्र आदि का श्रद्धा एवं प्रेम से गान करना कीर्तन भक्ति है। कीर्तन में साधक की तन्मयता, हृदय की प्रफुल्लता अन्यन्य प्रेम और मुग्धता आदि का होना आवश्यक है। कीर्तन भक्ति के हेतु भी सत्संग की महती आवश्यकता है। कारण कि अनेक व्यक्तियों के मिले बिना उच्च स्वर से कीर्तन असंभव है। कीर्तन का बड़ा महत्त्व है। गीता में कहा गया है कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से ब्रह्म का भजन करता है तो वह भी साधु मानेन के योग्य ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है।[1] कीर्तन का

---

[1]अपि चेत्सुदुराचारो भजेत मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

प्रचारक भगवान को सर्वाधिक प्रिय है।[1] ब्रह्मघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती एवं गुरुघाती तथा चांडालादि भी कीर्तन के प्रताप से शुद्ध हो जाते हैं।[2] आसक्त रहित होकर कीर्तन करना ही मानव की सबसे बड़ी विशेषता है।[3] कीर्तन का महत्व व्यक्त करते हुए श्रीमद्भागवत में लिखा गया है कि कीर्तन करने वाला चांडाल भी श्रेष्ठ है। कारण कीर्तन कर लेने से तप, यज्ञ, तीर्थ यात्रा तथा वेदाध्ययन आदि सभी की पुण्य प्राप्त हो जाती है—

अहो बत श्वपचोऽतोगरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भागवत ३।३३।७)

ब्रह्म का नाम जप भी कीर्तन के अन्तर्गत ही आता है। तुलसीदास जी ने भी इस जप का मानस में उल्लेख किया है।[4]

सुन्दरदास के अनुसार जिह्वा से 'हरि' के गुणों का गान या जप ही कीर्तन है। कीर्तन से ब्रह्म के प्रति प्रेम प्रगाढ़ होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव उच्चाति उच्च स्थान का भागी होता है। कीर्तन के मार्ग का प्रदर्शक भी गुरु ही होता है। बिना उसकी कृपा के कीर्तन के भेद का ज्ञान नहीं होता है—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छांतिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि मे भक्तः न प्रणश्यति॥ (गीता ९।३०-३१)

[1] य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न चतस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ (गीता १८।६८-६९)

[2] ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्धयेरन यस्य कीर्तनम्॥ (श्रीमद्भागवत ६।१३।८)

[3] कालेदेषिनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तासंगः पर व्रजेत॥ (वही १२।३।५१)

[4] जपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ।
भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा।
भगत होहिं मुद मंगल बासा॥

हरि गुन रसना सुख गावै। अतिसे करि प्रेम बढ़ावै ॥
यह भक्ति की रतन कहिये। पुनि गुरु प्रसाद तें लहिये ॥[१]

ब्रह्म के नाम, रूप, गुण एवं रहस्यों का श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्तन एवं मनन करना ही स्मरण है। स्मरण के हेतु एकान्त, एकाग्रता और सांसारिक भक्ति के केवल इसी अंग का आश्रय ग्रहण करके साधना करने वाले भक्त सभी पाप, विघ्न एवं दुखों से उन्मुक्त हो जाते हैं। स्मरण के महत्त्व का वर्णन श्रुति, स्मृति, उपनिषद् एवं रामचरित मानस में उपलब्ध होता है। कठोपनिषद में कहा गया है कि ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है। यही परब्रह्म है। इसी ओंकार रूप ब्रह्म की उपासना करके मानव को मनोवांच्छित वस्तु प्राप्त होती है।[२] सन्ध्योपासनविधि में लिखा है कि चाहे मनुष्य पवित्र हो या अपवित्र हो पर भगवान पुंडरीकाक्ष का स्मरण करते ही उसका अंतःकरण और बाह्यरूप शुद्ध हो जाता है।[३] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में लिखा है कि जो पुरुष समस्त क्रियाओं को करता हुआ ब्रह्म के कल्याणकारी रूप एवं नामों का श्रवण, कथन, स्मरण एवं चिन्तन करता है वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।[४] मानस में भी स्मरण का महत्त्व कई स्थानों पर वर्णित है। पवनसुत ने स्मरण भक्ति के द्वारा ही आराध्य श्रीराम को अपने वश में कर लिया।[५] नवधा भक्ति के अन्तर्गत इसीलिए भगवत् प्राप्ति के आकांक्षी साधक के हेतु स्मरण अत्यावश्यक माना गया है। विष्णुसहस्र नाम में तो यहाँ तक कहा गया है कि उस विष्णु के लिए बारम्बार नमस्कार है जिसके स्मरण मात्र से ही मानव जन्म रूपी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। सुन्दरदास ने स्मरण दो प्रकार का माना है। प्रथम, जो कीर्तन के रूप में होता है द्वितीय, हृदय के

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँलोका।
भये नाम जप जीव बिसोका ॥

[१](ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास १६।४४)

[२]एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (१।२।१६)

[३]अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।
यः स्मरेत् पुंडरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

[४]शृण्वन् गृणन् संस्मरणश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥ (१०।२।३७)

[५]सुमिरि पवन सुत पावन नामू।
अपने बस करि राखे रामू ॥

अन्तर्गत स्मरण होता है। कवि ने इन दोनों भेदों के उल्लेख के पश्चात् स्मरण के महत्त्व के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। कवि के ही शब्दों में—

अब समरन दोइ प्रकारा। इक रसना नाम उचारा॥
इक हृदय नाम ठहरावै। यह समरन भक्ति कहावै॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास १६।१५)

नवधा भक्ति का चतुर्थ प्रकार है पाद-सेवन। भगवान के दिव्य मंगलमय मूर्ति का दर्शन, चिन्तन, पूजन एवं सेवन करना ही पाद-सेवन है। चरणोदक पान करना, भगवान् के चरणों की पूजा सेवा करना, चरणस्पर्शन करना आदि ही पाद-सेवन है। ममता अहंकार तथा अभिमान आदि को त्याग कर पादसेवन सम्भव हो सकता है। भगवान् के चरण अरविन्द की प्रार्थना और महत्ता का गान तो प्रायः सभी धार्मिक ग्रन्थों में हुआ है। आध्यात्मरामायण (२।६।२-३ तथा १।५।४३) में श्रीराम के चरण कमलों की महत्ता का बड़ा गुणगान हुआ है।

श्रीमद्भागवत (३।६।६, १०।१४।४८, तथा १०।२।३०) में भी भगवान् के चरणों का बड़ा गुणगान हुआ है। श्रीमद्भागवत में तो यहाँ तक कहा गया है कि ब्रह्म की चरण-रज को ग्रहण करनेवाला भक्त न स्वर्ग की कामना करता है, न ब्रह्म पद की, न चक्रवर्तिता की, न योग सिद्धियों की और न मोक्षपद की—

नं नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥ (१०।१६।३७)

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म के चरणों में लोटना, उनको सहलाना तथा दबाना आदि ही पाद-सेवन है।

नितचरन कमल महिं लोटे।
मनसा करि पाव पलोटै॥
यह भक्ति चरन की सेवा।
समुझावत है गुरुदेवा॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास १६।१६)

अर्चन नवधा भक्ति का पंचम प्रकार है। मानस पटल में कल्पना विनिर्मित मूर्ति की उपासना करना अथवा सम्पूर्ण भूतों में ब्रह्म की उपस्थिति मान कर उनकी सेवा करना ही और उनके तत्व, रहस्यादि को समझना आदि अर्चन भक्ति है। अर्चन भक्ति के लिए भी सत्संग और अनन्यता वा एकाग्रता अनिवार्य है।

अर्चन के महत्त्व का उल्लेख श्रीमद्भागवत (१०।८१।१६) तथा गीता (१८।४६) तथा (६।२६) में बारम्बार हुआ है।

सुन्दरदास ने अर्चना का रोचक वर्णन किया है। कवि के अनुसार भाव का मंदिर बना कर, भाव की मूर्ति स्थापित करके, भाव के कलश में, भाव का जल भर कर, ब्रह्म को नहला कर, भाव का चन्दन लगा कर, भाव के पुष्प चढ़ाकर, भाव का भोग लगाना, भाव के दीपक की आरती कर, भाव के घंट घड़ियाल बजाकर ब्रह्म की उपासना करना ही अर्चन है।[1] निम्नलिखित अर्चना विषयक छन्द देखने पर ज्ञात होता है कि कवि अर्चना में भाव को मुख्य अंग मानता है। अर्चना में भाव ही प्राण है।

नवधा भक्ति में अर्चन के पश्चात् वन्दन का स्थान है बन्दन *नवधा भक्ति का*

---

[1] अब अरचना कौ भेद सुनि शिष देउँ तोहि बताइ।
आरोपिकै तहं भाव अपनौं सेइये मन लाइ॥
रचि भाव कौ मंदिर अनूपम सकल मूरति मांहिं।
पुनि भाव सिंहासन विराजै भाव बिनु कछु नांहिं॥
निज भाव की तहँ करै पूजा बैठि सनमुख दास।
निज भाव की सब सौंज आनै नित्य स्वामी पास॥
पुनि भाव ही कौ कलश भरि धरि भाव नीर न्हवाइ।
करि भाव ही के बसन बहु विधि अंग अंग बनाइ॥
तहँ भाव चंदन भाव केशरि भाव करि घसि लेहु।
पुनि भाव ही करि चरचि स्वामी तिलक मस्तक देहु॥
लै भाव ही के पुष्प उत्तम गुहै माल अनूप।
पहिराइ प्रभु कौ निरषि नख-शिख भाव षेवै धूप॥
तहँ भाव ही लै धरै भोजन भाव लावै भोग।
पुनि भाव ही करिकै समर्पै सकल प्रभु कैं योग॥
तहँ भाव ही कौ जोइ दीपक भाव घृत करि सींचि।
तहँ भाव ही की करै थाली धरै ताके बीचि॥
तहँ भाव ही की घंट झालरि संष ताल मृदंग।
तहँ भाव ही कै शब्द नाना रहै अतिसै रंग॥
यह भाव ही की आरती करि करै बहुत प्रनाम।
तब स्तुती बहु विधि उच्चरै धुनि सहित लै-लै नाम॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २१-१७-२१)

सप्तम अंग है। शास्त्रोक्त भगवत स्वरूप नाम, मानस पटल पर अंकित चित्र सर्वभूत को ब्रह्म का ही अंग मान कर उसकी सेवा करना, श्रद्धा पूर्वक ब्रह्म का गुणगान करना ही वन्दना है। गीता (११-४०) तथा भागवत् (११-२-४१) में वन्दन का महत्त्व वर्णित हुआ है। भक्ति शास्त्र में ब्रह्म के प्रति श्रद्धापूर्वक साष्टांग प्रणाम करने को भी वन्दन का एक अंग माना गया है। 'भीष्मस्तवराज' में लिखा है कि श्रीकृष्ण को किया गया एक भी प्रणाम दश अश्वमेध यज्ञों से श्रेष्ठ है। अश्वमेध करने वाले को पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है पर श्रीकृष्ण को जिसने एक बार भी प्रणाम कर लिया वह आवागमन के बन्धन से उन्मुक्त हो जाता है :

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशां श्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय ॥
(श्लोक ६१)

सुन्दरदास के अनुसार वन्दन दो प्रकार का होता है :

१. तन से
२. मन से

तन से दंडाकार प्रणाम एवं मन से ब्रह्म का ध्यान करना ही वन्दन है। कवि के शब्दों में वन्दन के भेद पढ़िये :

वन्दन दोइ प्रकार कहौं शिष्र संभलियं।
दंड समान करै तन सौ तन दंड दियं।
त्यौं मन सौ तन मध्य प्रभू कर पाइ परै।
या विधि दोइ प्रकार सु वन्दन भक्ति करै ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २२।३१)

दास्यत्व *नवधा भक्ति का सप्तम प्रकार है।* भगवान् के गुण, तत्व, रहस्यादि का ज्ञान प्राप्त करके उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करना ही दास्य भक्ति है। भगवान के विग्रह की सेवा करना, मनसा ब्रह्म का ध्यान एवं सेवा करना, शास्त्रों को भगवान् की आज्ञा मान कर तदनुकूल आचरण करना भगवान् के कर्मों का अनुसरण करना और उन्हीं के अनुकूल जीवन व्यतीत करना ही दास्य भक्ति है। सत्संग एवं सदाचरण दास्य भक्ति प्राप्ति में सहायक होते हैं। भगवान् के कृत्यों का अनुसरण दास्य भक्ति का प्रमुख लक्षण है। इस पथ का अनुसरण करने वाले को भी मुक्ति प्राप्त होती है। गीता में भगवान् ने अर्जुन से

कहा कि "यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो भी कर्मों का अनुसरण करो। मेरे कर्मों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है।"

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२।१०)

गोस्वामी तुलसीदास जी के मतानुसार दास्य भक्ति के बिना भवसागर से मुक्ति होना ही असम्भव है :

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत विचारि॥

लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि दास्य भाव से ब्रह्म के उपासक हैं। इन भक्तों में हनुमान, श्रेष्ठ हैं। मानस के इन प्रसंगों में दास्य भाव के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अंगद तो भगवान् से यहाँ तक कहते हैं :

मोरे तुम प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता॥
तुम्हहिं विचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ। पद पंकज विलोकि भव तरिहउँ॥

सुन्दरदास के मत से भक्त का भय, प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक पतिव्रता स्त्री के समान ब्रह्म की सेवा करते रहना, आज्ञा का पालन करना ही दास्यत्व भक्ति है। दास्यत्व में कवि आत्महीनता को भी आवश्यक मानता है। सुन्दरदास जी के शब्दों में दास्यत्व भक्ति निम्नलिखित है :

नित्य भय सौं रहै हस्त जोरें कहै। कहा प्रभु मोहि आज्ञा सु होई।
पलक पतिव्रता पति बचन खडै नहीं। भक्ति दास्यत्व शिष जांनि सोई॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २३।३२)

'सख्य भक्ति' नवधा भक्ति का अष्टम प्रकार है। सख्य भक्ति में मित्रभाव से ब्रह्म के, भगवान के प्रभाव, तत्व और रहस्यादि को समझ कर उसकी सेवा तथा भक्ति की जाती है। विभीषण, उद्धव, अर्जुन, सुदामा आदि इसी कोटि के भक्त थे। श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से कहा है कि "जितने मुझे तुम प्रिय हो उतने प्रिय न ब्रह्मा हैं, न शंकर हैं न लक्ष्मी और न आत्मा ही।" यह सख्य भक्ति के महत्त्व का द्योतक है :

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भागवत ४१।१४।१५)

श्री मद्भागवत ।१०।८०।१६ २१ तथा १०।४६।१ ३। एवं गीता ।४।३, १८।६४। में सख्य भक्ति का महत्त्व सविस्तार वर्णित हुआ है। सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म का सदैव साहचर्य तथा दृढ़ निकट प्रेम, रखना ही सख्य भक्ति है :

सुनि शिष्य सखापन तोहि कहौं हरि आतम कै नित संग रहै।
पलु छाड़त नाहिं समीप सदा जितहीं जितकौं यह जीव बहै ॥
अब तू फिरिकै हरिसौं हित राषहि होइ सखा दृढ़ भाव गहै।
इमं सुन्दर मित्र न भित्र तजै यह भक्ति सखापन वेद कहै ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २३।३३)

नवधा भक्ति का अंतिम भेद आत्मनिवेदन है। ब्रह्म के तत्व, रहस्य एवं प्रभावादि का ज्ञान प्राप्त करके मनसा, वाचा, कर्मणा तथा तन-मन-धन से श्रद्धापूर्वक अपने को समर्पित कर देना आत्मनिवेदन है। आत्मनिवेदन के हेतु भगवान् की अन्य भक्ति और चित्त की एकाग्रता अत्यधिक आवश्यक है। गीता में श्रीकृष्णजी ने बारम्बार "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"[1] का उपदेश दिया है। इसी प्रकार का उपदेश निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त मिलता है :

त्वमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥[2]

इस दृष्टि से गीता के निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है :
७।१४, ९।३२ तथा ९।३४। नारद सूत्र के अनुसार गोपिकायें, भक्त, प्रह्लाद, बलि आदि इस आत्म निवेदन भक्ति के परम भक्त हुए हैं। ऐसे भक्तों को जन्म देकर पृथ्वी भी सनाथ हो जाती है, देवता प्रसन्नता से नाचने लगते हैं :

मोन्दन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथ चेयं भूर्भवति ॥
(नारदसूत्र ७१)

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म के प्रति मन, तन, धन, सम्पत्ति तथा सर्वस्व समर्पण कर देना ही आत्मनिवेदन है। कवि के शब्दों में आत्मनिवेदन निम्नलिखित है :

प्रथम समर्पन मन करै, दुतिय समर्पन देह।
तृतीय समर्पन धनकै, चतुः समर्पन गेह ॥
गेहा दारा धनं। दास दासी जनं।
बाज हाथी गनं। सर्व दै यौं भनं ॥

---

[1] गीता १८।६६
[2] ... १८।६२

और जे मेमनं । है प्रभू ते तनं ।
शिष्य वानी सुनं । आतमा अर्पनं ।।

(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २३।३४)

नवधा भक्ति को कनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है । कनिष्ठा भक्ति के पश्चात् प्रेमलक्षणा भक्ति व मध्यमा भक्ति है । प्रेमलक्षणा भक्ति के पश्चात् पराभक्ति का विधान है । कनिष्ठा भक्ति के विवेचन के अनंतर 'ज्ञान समुद्र' में कवि ने प्रेमलक्षणा भक्ति के विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं ।

प्रेमलक्षणा भक्ति का विवेचन कवि ने दश छन्दों में किया है । इनमें से अधिकांश छन्द प्रेमलक्षणा भक्ति के महत्त्व पर लिखे गये हैं । प्रारम्भिक कतिपय छन्दों को हम प्रेम लक्षणा भक्ति की प्रस्तावना कह सकते हैं । भगवान् के प्रति प्रेम और भक्ति प्रगाढ़ होते ही समस्त लौकिक बन्धन माया और तज्जनित प्रभाव क्षीण पड़ जाते हैं । साधक अथवा प्रेमी भौतिकता के धरातल से ऊपर उठकर एक ऐसे वातावरण में प्रवेश करता है जहाँ प्रियतम का मनोहर दिव्य प्रकाश-पुंज साधक को अपने प्रति आकर्षित कर लेता है । उस स्तर पर उस अवस्था में साधक को स्वशरीर के अस्तित्व का भी ध्यान नहीं रह जाता है और वह आत्म विस्मृत, आत्म विभोर और आत्मानन्द हो जाता है । शंकाएँ, चिन्ताएँ और भव-बाधाएँ उसके जगत में कोई अस्तित्व नहीं रखती हैं ।[1] वह इनसे ऊपर या परे उस लोक में विहार करता है जहाँ कामनाएँ और आकांक्षाएँ निःसार हो जाती हैं । इसी अवस्था में पहुँच कर प्रेमाधिक के कारण साधक रोमांच, पुलक और उल्लास का अनुभव करता है । वह भक्ति की शास्त्रीय पद्धति नवधा भक्ति को भूल कर सीधे अपने हृदय के शुद्ध प्रेम के द्वारा ब्रह्म को नैकट्य को प्राप्त कर लेता है ।[2] इसी स्तर पर साधक लोक-लाज, वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को तत्वरहित समझ लेता है । वह बाह्याडम्बरों का परित्याग करके तत्व को देखता और ग्रहण करता है । भय और डर उसका स्पर्श नहीं कर पाते । वह अपने ही जगत में इतना अधिक मतवाला रहता है कि उसकी इन्द्रियाँ बाह्यजगत के चित्रों एवं स्वर लहरियों को नहीं ग्रहण कर पाती हैं । भक्ति के आवेग में लौकिक एवं धार्मिक बाह्याचार

---

[1] प्रेम लग्यौ परमेश्वर सौं तब भूलि गयौ सब ही घरबारा ।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित नैकु रही न शरीर संभारा ।।
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास पृष्ठ २४)

[2] स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखण्डित धारा ।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि छाकि पर्यौ रस पी मतवारा ।।
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २५।३८)

अपने आप ही बह जाते हैं। वह स्वतः ब्रह्माकार बना रहता है, उसकी आँखों में उसी ब्रह्म की छवि समाई रहती है। उसकी इन्द्रियाँ चेष्टाहीन हो जाती हैं। इसी अवस्था का अनुभव करके गोपियों ने प्रियतम कृष्ण से कहा था कि "हे प्रियतम हमारा चित्त सुखपूर्वक गृह-कार्य में संलग्न था उसे तुमने स्ववश कर लिया। हमारे हाथ गृहस्थी के धन्धे में व्यस्त थे पर अब वे चेष्ठाहीन हो गए। हमारे पाद आपके चरणकमलों से एक पग भी नहीं हटना चाहते हैं। भला हम घर कैसे जायँ तथा क्या करें" ?[१] संसार का भ्रम साधक को इसी स्थान पर जाकर स्पष्ट हो जाता है। उसका चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है। लौकिक (स्मार्त) अथवा वैदिक (श्रोत) कार्य की साधना भक्त से नहीं हो पाती है। सुन्दरदास जी ने भक्त की इसी दशा का यहाँ वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :

न लाज कांनि लोक की न बेद कौ कह्यौ करै।
नशंक भूत प्रेत की न देव यज्ञ तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रशै न और अच्छणा।
कहै न मुक्ख और बात भक्ति प्रेम लच्छणा॥

(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास, २५।३६)

सुन्दरदास के अनुसार प्रेमलच्छणा भक्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :

निश दिन हरि सौं चित्तासक्ती सदा ठग्यौ सो रहिये।
कोउ न जानि सकै यह भक्ती प्रेम लच्छणा कहिये॥

(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २५।४०)

प्रेमलच्छणा भक्ति की अवस्था में भक्त गोपियों की भाँति आत्मविस्मृत हो जाता है। वह प्रेम तृप्त बना रहता है। उसका शरीर पुलकायमान रहता है। मन भक्ति से प्रफुल्लित बना रहता है। प्रेम के आँसुओं से उसका मन गद्‌गद रहता है। 'बोध सार' से भक्त की इसी दशा का एक चित्र देखिए "प्रियतम कृष्ण की उपासना करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्ति से मन प्रफुल्लित हो गया। प्रेम के आँसुओं ने मुख को और गद्‌गद वाणी ने कंठ को सुशोभित कर दिया। अब हमें एक क्षण की भी फ़ुरसत नहीं है कि हम दूसरे विषय को स्वीकार करें। इतने पर भी सायुज्य आदि मुक्तियाँ न जाने क्यों हमारे दरवाजे पर खड़ी हमारी दासी बनने के लिए आतुर हो रही हैं" :

---

[१] चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥
(श्री मद्‌भागवत १०।२६।३४)

रोमांचेन चमत्कता तनुरियं भक्त्यामनोनन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कंठं गिरो गद्गदाः ।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्जनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते ॥

नारद के अनुसार :

कन्ठावरोधरोमान्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च (६८)
अर्थात् ऐसे अनन्य भक्त कंठाविरोध, रोमांच और अश्रुयक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुल एवं पृथ्वी को पवित्र करते हैं। ऐसे भक्त के लिए श्री मद्भागवत में भगवान ने कहा है कि प्रेम के प्रकट हो जाने से जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो प्रेमावेश में बारबार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर में गाने और नाचने लगता है। ऐसा मेरा परमभक्त त्रिलोकी को पवित्र बना देता है।[1]
प्रेम लक्षणा भक्ति के साधक का इसी प्रकार का वर्णन सुन्दरदास ने भी किया है :

कबहुँ कै हँसि उठय नृत्य करि रोवन लागय ।
कबहुँ गदगद कंठ शब्द निकसै नहिं आगय ॥
कबहुँ हृदय उमंगि बहुत उच्चय स्वर गावै ।
कबहुँ कै मुख मौनि मग्न ऐसे रहि जावै ॥
तौ चित्त वृत्य हरि सौलग्गी सावधान कैसैं रहै ।
यह प्रेम लक्षणा भक्ति है शिष्य सुनहि सद्गुरु कहै ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २६।४२)

भक्त प्रेम और ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए साधक निरंतर उसी प्रकार व्यग्र एवं दुखी रहता है जैसे :

नीर बिनु मीन दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसे
पीर जाकै औषध बिनु कैसे रह्यो जात है ।
चातक ज्यौं स्वाति बूँद चंद कौं चकोर जैसे
चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है ॥

---

[1] वागगद्गदया द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(११।१४।२४)

निर्धन ज्यों धन चाहे कामिनी ज्यों कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम कौ प्रभाव ऐसौ प्रेम तहाँ नेम कैसौ,
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २६।४३)

प्रेम लक्षणा भक्ति जिसके हृदय में उदय होती है उसे कुछ भी रुचिकर नहीं प्रतीत होता। वह क्षुधा तृष्णा आदि का अनुभव नहीं करता है। उसे निद्रा नहीं सताती। मुख पीला (अर्थात् चिन्ता और ब्रह्म के दर्शन प्राप्त करने के लिए व्यग्रता के कारण कान्तिहीन) हो जाता है। नेत्रों से झड़ी लगी रहती है। जिसके मुख पर ये चिन्ह वर्तमान हैं, वही प्रेम भक्ति का साधक है। सुन्दरदास के शब्दों में :

यह प्रेम भक्ति जाके घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूख तृषा नहिं लागै वाकौं निश दिन नींद न आवै ॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैनहुँ नीझर लायौ।
ये प्रकट चिन्ह दीसत है ताकै प्रेम न दुरै दुरायौ ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २७।४४)

प्रेम लक्षणा भक्ति को कवि ने मध्य कोटि की भक्ति माना है और परा भक्ति को उत्तम भक्ति। प्रेम लक्षणा भक्ति के विवेचन के अनन्तर कवि ने पराभक्ति पर विचार प्रकट किए हैं। उपनिषद के अन्तर्गत परा और अपरा नामक दो विद्याओं का विधान हुआ है। पर एक भक्त के लिए इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि "ब्रह्मज्ञानियों के मत से जानने योग्य दो प्रकार की विद्याएँ हैं इनमें प्रथम परा और द्वितीय अपरा है। अपरा के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, शिक्षा आदि हैं और परा के अंतर्गत वह विद्या है जिसके आधार पर उस अक्षर का ज्ञान हो सके"—

द्वेविद्ये वेदितव्ये इति ह स्मपद ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तद क्षरमधिगम्यते।
(मुंडकोपनिषद मु० १, खंड १, श्लोक ४, ५)

मुंडकोपनिषद के प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है कि पराविद्या तथा ब्रह्मज्ञान एक ही पदार्थ है। भागवत में परा भक्ति का निम्नलिखित लक्षण लिखा गया है—

चेतसो वर्तनंचैव तैलधारा समंसदा इत्यादि
(७।३७।११) मुंडकोपनिषद

अर्थात् यथा तेल एक पात्र से द्वितीय पात्र में डाले जाते समय एक ही अविच्छिन्न धारा में गिरता है। उसी प्रकार जब मन अविछिन्न भाव से भगवान् के स्मरण में नियोजित हो जाय तभी समझना चाहिए, कि पराभक्ति का विकास हुआ है। इस अविच्छिन्न आसक्ति के साथ ही अविरत नित्य स्थिर भाव तथा चित्त की एकाग्रता के साथ मन को ब्रह्म में नियोजित करना चाहिए। भक्ति के अन्य सभी भेद पराभक्ति तक पहुँने के लिए विभिन्न स्तर वा सीढ़ियाँ हैं। पराभक्ति के विकसित होते ही साधक का मन सर्वथा ब्रह्म में ही संलग्न रहता है। अन्य कोई भी भाव या मनोविकार उसमें नहां उत्पन्न होते हैं। उस अवस्था में वह मानसिक बन्धनों से उन्मुक्त हो जावा है। उसके लिए बाह्याचार वेद, शास्त्र आदि निःसार और महत्त्वहीन हो जाते हैं। मुंडकोपनिषद् से उद्धृत पंक्ति में पराभक्ति के अन्तर्गत प्रेम की अविच्छिन्नता आवश्यक मानी गई है। ब्रह्म के प्रति साधक के प्रेम में इसी अविच्छिन्नता को सुन्दरदास ने भी आवश्यक माना है—

बिक्षेप कबहुँ न होइ हरि सौं निकटवर्ती नित्य ही।
तहाँ सदा सनमुख रहै आगे हाथ जोड़े भ्रित्य ही ॥
पलु यके कबहुँ न होइ अन्तर टगटगी लागी रहै।
यह पराभक्ति प्रकाश परिचय शिष्य सुनि सद्गुरु कहै ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २८।४८)

पराभक्ति के क्षेत्र में पहुँचने के पश्चात् साधक और साध्य में शारीरिक भेद होते हुए भी भाव के क्षेत्र में दोनों ही भेदरहित अथवा अभिन्न हो जाते हैं। इसी अभिन्नता के भाव को सुन्दरदास ने प्रस्तुत छन्द में व्यक्त किया है—

सेवक सेव्य मिल्यौ रस पीवत भिन्न नहीं अरु भिन्न सदा ही।
ज्यौं जल बीच धर्‌यौ जल पिंड सु पिंड स नीर जुरे कछु नाहीं ॥
ज्यौं दृगमैं पुतरी दृग येक नहीं कछु भिन्न सु भिन्न दिखाहीं।
सुन्दर सेवक भाव सदा यह भक्ति परा परमातम माहीं ॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २८।४६)

ब्रह्म के साथ तादात्म्य अनुभव कर लेने पर साधक की इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को विसर जाती हैं। साधक की समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य को रोक देती हैं। उनकी प्रवृति वाह्य जगत से सिमट कर अन्तर्मुखी हो जाती है। नेत्र खुले रहने पर भी शब्द तथा ध्वनि की तरंगों को नहीं ग्रहण करते हैं। ये इन्द्रियाँ संचारण को नियंत्रित करती हैं। इन्द्रियाँ उसकी चेरी के समान बनी रहती हैं उसके मन की अनुगामिनी बनी रहती हैं। जिस समय साधक जैसी इच्छा करता है, इन्द्रियाँ वैसी ही वस्तुओं को प्रस्तुत करती हैं। जब साधक स्वर लहरी को सुनना चाहता है उस समय इन्द्रियाँ बिना वाद्य, बिना गान के

अत्यन्त सरस और मनमोहक सुन्दरतम दृश्यों को सामने प्रस्तुत करती हैं। पराभक्ति के साधक की इसी उच्च अवस्था का वर्णन कवि ने प्रस्तुत छन्द में किया है—

श्रवण बिना धुनि सुनय नैन बिन रूप निहारय।
रसना बिन उच्चरय प्रशंसा बहु विस्तारय॥
नृत्य चरन बिनु करय हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग बहुत आनन्द बढ़ावै॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास २८।४०)

पराभक्ति की साधना की अंतिम अवस्था है स्वामी सेवक का एकत्व अथवा एकात्मकता। कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में स्वामी और सेवक की एकात्मकता चित्रित की है—

हरि मैं हरिदास बिलास करै।
हरि सौ कबहू न बिछोह परै॥
हरि अच्छय त्यौं हरिदास सदा।
रस पीवन कौं यह भाव जुदा॥
तेजोमय स्वामी तहँ सेवकहूँ तेजोमय।
तेजोमय चरन कौं तेज सिर नांवई॥
तेज मात्र ब्रह्म की प्रशंसा करै तेज मुख।
तेज ही की रसना गुनानुवाद गावई॥
(ज्ञा० स० द्वितीयोल्लास ४५।५५)

ज्ञानयोग

सुन्दरदास ने 'सर्वाङ्गयोग-प्रदीपिका' के अन्तर्गत 'अथ सांख्ययोग नाम चतुर्थोपदेशः' प्रकरण में ज्ञानयोग पर अपने विचारों को प्रकट किया है। कवि ने ग्यारह छन्दों (दस चौपाई एवं एक दोहा) में संक्षेप रूप में योग के इस अंग पर स्वविचार व्यक्त किए हैं। इस प्रकार का कुछ वर्णन कवि के 'ज्ञानसमुद्र' ग्रन्थ में भी आया है। कवि ने ज्ञान योग, ब्रह्म योग एवं अद्वैत योग तीनों प्रकरणों को सांख्य योग के अन्तर्गत ही वर्णित किया है। ज्ञानयोग का सम्बन्ध न्याय एवं उपनिषद के वेदांत से है। सांख्य न तो ईश्वर को ही कारण मानता है और न सृष्टि के लय पुरुष को ही। इस समस्त प्रकरण ज्ञानयोग में कवि ने बारम्बार एक ही विचार पर जोर दिया है कि आत्मा और विश्व एक है। उसमें अन्तर नहीं है। आत्मा एवं विश्व के इसी एकत्व प्रदर्शन के लिए कवि ने "यौं आतमा विश्व कौ मूला", "आतमा विश्व भिन्न यौं नाहीं", "यौं आतमा विश्व है सोई", "यौं आतमा विश्व नहि जूवा", "यौ आतमा विश्व नहिं दोइ", "यौ आतमा विश्व नहिं भेदा", लिखकर इस पुनरुक्ति द्वारा अपने विचारों को और अधिक बल एवं दृढ़ता प्रदान कर दी है। ज्ञानयोग के अन्त में लेखक ने ज्ञानयोग की मुख्य विचारधारा को अत्यन्त संक्षेप में निम्नलिखित दो पंक्तियों में व्यक्त किया है—

यौं आतमा विश्व नहिं न्यारा।
ज्ञानयोग का इहै विचारा ॥

सुन्दरदास के इस ज्ञानयोग पर विचार करने के पूर्व उसकी शास्त्रीय विवेचना, परिभाषा, और आवश्यक तत्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है। कारण कि इसी अध्ययन के द्वारा हम ज्ञानयोग के शास्त्रीय विवेचन एवं सुन्दरदास द्वारा प्रकटित विचारों में आधारभूत भेद एवं साम्य ज्ञात हो सकता है।

योग (युज् धातु) का अर्थ है चित्त को एकाग्र करना, जोड़ना, नियोजित करना। साधक की साधना का जिस क्रिया से सम्बन्ध होगा, उसी के अनुसार उसकी साधना का नामकरण होगा। यदि साधक की साधना कर्म से सम्बन्धित है तो कर्मयोग कहा जायगा, यदि भक्ति से सम्बन्धित है तो वह भक्तियोग होगा यदि वह इन्द्रियों की साधना और श्वास के नियंत्रण से सम्बन्धित है तो उसे हठयोग कहेंगे। इसी प्रकार ज्ञान से सम्बन्धित साधना को ज्ञानयोग कहा जायगा। अपना विनाश कर लेना ही ज्ञान है। वाह्यसंसार की समस्त स्थितियों, वृत्तियों और वस्तुओं से अपने मन को हटाकर, उन्हें शून्य और निःसार

समझकर उसे अन्तर्मुखी करके अपनी ही स्थिति को समझ लेना ही ज्ञान है। अपने रूप का जिस क्रिया या साधना के द्वारा ज्ञान हो वही क्रिया या साधना ज्ञानयोग है। संक्षेपतः विनाशशील इस संसार की माया और तज्जनित अन्य उपकरणों को छोड़ विशेष क्रियाओं के द्वारा अपने स्वरूप को पहचान लेना ही 'ज्ञानयोग' है। आत्मा वा ब्रह्म निर्गुण वा अरूप है। अतः किसी भी इन्द्रिय से उसकी अनुभूति नहीं की जा सकती है। वह ज्ञानेतर है। इन्द्रिय के सान्निध्य से अथवा शब्द के द्वारा अंतःकरण की वृत्ति ज्ञेय पर से अज्ञान के आवरण को दूर करती है और अंतःकरण स्थित आत्म चैतन्य का आभास उस आत्म-भिन्न जड़ पदार्थ को प्रकाशित करता है अथवा आवरण के विनष्ट हो जाने के अनन्तर अंतःकरण की वृत्ति ज्ञेय पदार्थ के आकार को ग्रहण कर लेती है। उसके सान्निध्य में समागत अथवा प्राप्त आत्मज्ञान का आभास ही उस पदार्थ के अनुरूप हो जाता है जिसके द्वारा उस पदार्थ का ज्ञान होता है अथवा अनुभूति होती है। अंतःकरण की वृत्ति की सहायता से आवरण के विनष्ट हो जाने के अनन्तर अंतःकरण में स्थित ब्रह्मात्म चैतन्य की सत् चित् एवं आनन्द रूप से सहज अभिव्यक्ति होती है। यही ब्रह्म परोक्ष ज्ञान है। जब तक उस निर्लिप्त निराकार स्वच्छ आत्मा की अनुभूति का ज्ञान नहीं होता है तब तक संसार से जीव की मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है। साधक के अंतःकरण में, चित्त में इस भाव की उत्पत्ति होना कि "न तुम देह, न इन्द्रिय, न प्राण, न मन, न बुद्धि कारण कि ये सभी मृत्तिका विनिर्मित घट वत् विकारशील है, विनाशलील है, दृष्टव्य है। तुम्हारी आत्मा ब्रह्म की ही प्रतिमूर्ति है जो इन सभी विकारों से दूर तथा ऊपर है और अदृष्ट है। वह मृत्तिका रचित घट की भाँति विनिर्मित एवं विनष्ट नहीं होती है वह अजर और अमर है। वह सत्य एवं सनातन है। वही सब कुछ है" ही ज्ञानोदय है—

> न त्वं देहो नेन्द्रियाणि न प्राणो न मनो न धी।
> विकारित्वात् विनाशित्वात् दृश्यत्वांच घटो यथा॥

साधक जिन क्रियाओं और साधनाओं द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "देहोदेवालयः प्रोक्तः यो जीवः स सदा शिवः" वही ज्ञानयोग है।

सुन्दरदास के अनुसार संसार का कर्ता, कारण और उसकी स्थिति का रहस्य समझना ही ज्ञानयोग है।[1] अखंड आत्मा ही जगत का कारण है। आत्मा यदि निर्लिप्त भाव से वर्तमान रहे तो संसार की स्थिति निराधार हो जाय इसमें

---

[1]**ज्ञान योग अब ऐसै जानै।**
कारण अरु कारय पहिचानै॥

सन्देह नहीं है और समस्त ब्रह्मांड ही "कारय" अथवा कार्य है।[१] जिस प्रकार बीज से अंकुर का जन्म होता है और अंकुर से पेड़ का विकास एवं विस्तार होता है और पुष्पित तथा पल्लवित होता है उसी प्रकार संसार के विकास और उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा है। आत्मा ही इस संसार की उत्पत्ति और विस्तार में सहायक होती है।[२] जिस प्रकार नभ में भाँति भाँति के आकार और रंग के बादलों की रचना होती है और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा में विश्व की रचना और विनाश हो जाता है। आत्मा के ही माध्यम से संसार की रचना और विनाश होता है। जिस प्रकार हवा का बवंडर (बघूरा) उठता है और पुनः देखते-देखते शांत हो जाता है फिर भी वायु पृथक नहीं है। ठीक उसी प्रकार आत्मा और विश्व का एकत्व है उनमें भिन्नता नहीं दृष्टिगत होती है।[३] जिस प्रकार अग्नि से ही प्रज्वलित होकर दीपक एवं मशाल आदि अग्नि से भिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार आत्मा से ही संसार का जन्म होता है। दोनों पृथक् प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक ही हैं।[४] जिस प्रकार जल में फेना, बुदबुदा और उर्मियाँ उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार आत्मा में

---

[१]कारण आतम आहि अखंडा।
कारय भयौ सकल ब्रह्मंडा॥

[२]ज्यौं अंकुरु ते तरु विस्तारा।
बहुत भाँति करि निकसी डारा॥
शाषा पत्र और फर फूला।
यौं आत्मा विश्व को मूला॥

[३]जैसे नभ महिं बादर होई।
तामहिं लीन भये पुनि सोई॥
ऐसे आतम विश्व विचारा।
महापुरुष कीनौ निरधारा॥
जैसे उपजै वायु बघूरा।
देखत के दीसहि पुनि भूरा॥
आँटी छूटै पवन समाहीं।
आतम विश्व भिन्न यौं नाहीं॥

[४]ज्यौं पावक तैं दीसत न्यारा।
दीप मसाल जु विविध प्रकारा॥
ताही माँझ होइ सो लीना।
यौं आतमा विश्व लै चीन्हा॥

ही संसार की उत्पत्ति और विनाश का आधार आत्मा ही है।[1] जिस प्रकार मृत्तिका से घट बन कर पुनः नष्ट होने पर उसी में मिल जाता है ठीक उसी प्रकार आत्मा से विश्व प्रकाशमान होता है और पुनः विश्व उसी आत्मा में अन्तर्हित हो जाता है।[2] जिस प्रकार स्वर्ण से विविध आभूषणों की रचना होती है और फिर उनको भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है और वही आभूषण गलाये जाने के पश्चात् पुनः उसी स्वर्ण का रूप धारण कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न संसार के विविध रूप हैं और फिर अंत में वही आत्मा के रूप में हो जाता है।[3] जिस प्रकार तन्तु से वस्त्र बन कर तैयार हो जाते हैं फिर भी वस्त्र और तन्तु में भेद नहीं है दोनों एक ही हैं उसी प्रकार आत्मा और विश्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक हैं उनमें अन्तर नहीं है।[4] जिस प्रकार प्रतिमा बन जाने के पश्चात् भी वह (प्रतिमा) पत्थर से भिन्न नहीं है। उसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न संसार किसी प्रकार आत्मा से भिन्न नहीं है। दोनों एक ही हैं।[5] यही आत्मा और संसार की एकात्मकता ही ज्ञानयोग का मुख्य विचार है।

---

[1] जैसे उपजै जल कै संगा।
फेन बुदबुदा और तरंगा॥
ताही मांझ लीन सो होई।
यो आतमा विश्व तै सोई॥

[2] ज्यौं पृथ्वी ते भाजन भाई।
विनसि गये ता माँझ विलाई॥
यौं आतम तें विश्व प्रकाशै।
कहन सुनन कौं दूजा भासै॥

[3] ज्यौं कंचन ते भूषन नाना।
भिन्न-भिन्न करि नाम बषाना॥
गारे सर्व एक ही हूवा।
यौ आतम विश्व नहिं जूवा॥

[4] जैसे तंतुहि पट लै बाना।
ओत प्रोत सो तन्तु समाना॥
भेद भाव कछु भिन्न न होइ।
यौ आतमा विश्व नहि दोइ॥

[5] ज्यौं प्रतिमा पाहन मैं दीसै।
दूजी वस्तु न विश्वाबीसै॥
यौं आतमा विश्व नहिं न्यारा।
ज्ञान योग का इहै विचारा॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दरदास ने अपने ज्ञानयोग प्रकरण के अन्तर्गत आद्योपांत एक ही बात को बारम्बार दोहराया है और वह है—आत्मा ही संसार की उत्पत्ति का कारण है। संसार का निर्माण और विनाश का एक मात्र माध्यम यही आत्मा है। साधक को इसी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मा सत्य और चिरंतन है। वह आदि और अंत रहित है। वही आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही वही आत्मा है। दोनों एक दूसरे की प्रतिमूर्ति हैं। अतः सर्वाधिक आत्मा को ही पहचानना परमावश्यक है। "आतमा विश्व है सोई" (चौपाई १८), "यौ आतमा विश्व नहिं दोई" (चौपाई २७), "कारण आतम आहि अखंडा। कारय भयो सकल ब्रह्मंडा" (चौपाई १३) आदि पंक्तियाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्तिऽकिंचन' से भाव-साम्य और विषय-साम्य रखती हैं। सुन्दरदास की यह विचारधारा उपनिपदों के मंत्रों के अनुसार परम सत्य एवं ज्ञान की प्रसारक एवं प्रकाशक है। सुन्दरदास के अनुसार संसार और आत्मा एक है और आत्मा ही ब्रह्म का रूप है। अतः कवि के इस मत का उपनिषदोक्त "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह........." से पूर्ण साम्य है।

अंतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सुन्दरदास का 'ज्ञान योग' उपनिषदों के ज्ञानयोग से साम्य रखता है।

———

लययोग

ब्रह्मांड एवं पिंड दोनों ही अभेद एवं अभिन्न हैं। दोनों का मूल उद्गम एक ही है। इनकी उत्पत्ति वा उद्गम प्रकृति-पुरुष का शृङ्गार है। इस भौतिक संसार की प्रायः समस्त वस्तुओं की स्थिति समानरूपेण ब्रह्मांड एवं पिंड में है। पिंडज्ञान ब्रह्मांडज्ञान का वाहक मान्य हुआ है। अनुभवी गुरु के मार्ग प्रदर्शन और साधना अवधिपर्यन्त निरीक्षण द्वारा पिंड का रहस्य ज्ञात हो जाने के अनन्तर आवश्यक क्रियाओं के द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करना ही 'लययोग' है। मानव के शरीर में कुंडलिनी महाशक्ति वर्तमान है। इस महाशक्ति का स्थान मूलाधार चक्र है। मूलाधार चक्र में यह महाशक्ति सुप्तावस्था में स्थित रहती है। इसकी सुप्तावस्था में साधक की सृष्टि-क्रिया वहिर्मुखी रहती है और वह माया एवं उसके अन्य सहायक अंगों में संलग्न रहता है। इसके जाग्रत होते ही साधक संसार को निःसार एवं निराधार जान लेता है। पुरुष का स्थान सहस्रार में है। योग साधना के द्वारा इस कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत करके पुरुष के स्थान सहस्रार में लय कर देने पर साधक सिद्धि प्राप्त कर लेता है और इस क्रिया को लययोग कहते हैं।

योग शास्त्र के ग्रन्थों में लययोग के नौ अंग वर्णित हुए हैं :

१. यम	४. सूक्ष्म क्रिया	७. ध्यान
२. नियम	५. प्रत्याहार	८. लयक्रिया
३. स्थूल क्रिया	६. धारणा	९. समाधि

इन अंगों में 'स्थूल-क्रिया' का तात्पर्य है स्थूल शरीर प्रधान क्रिया तथा वायु प्रधान क्रिया का तात्पर्य है 'सूक्ष्म क्रिया'। विन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को 'विन्दु-ध्यान' कहते हैं जो लययोग में बड़ी सहायक होती है। "लय-योगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन्मुक्ति योगियों के आदेश से प्राप्त होती है, 'लय-क्रिया' कहलाती है। लय क्रियाओं की साधना द्वारा प्रसुप्त कुल कुंडलिनी नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्म में लीन होती है। इनकी सहायता से जीव शिवत्व को प्राप्त होता है। 'लय-क्रिया' की सिद्धि से महालयरूपी समाधि की उपलब्धि होती है जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है :

अंगानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूल सूक्ष्म क्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानंचापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवांगानि लययोगस्य निश्चितम्॥

स्थूल देह प्रधान वै क्रिया स्थूलाभिधीयते ।
वायु प्रधाना सूक्ष्मास्याद्ध्यानं विन्दुमयं भवेत् ।।
ध्यानं मेतद्धि मरमं लययोग सहाय्यकरि ।
लय योगानुकूला ही सूक्ष्मा या लायते क्रिया ।।
जीवन्मुक्तो प्रदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रिया साधनेन सुप्ता सा कुल कुंडली ।।
प्रबुद्धम् तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः ।।
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते ।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः ।।

लययोग एवं हठयोग के विभिन्न अंगों में कतिपय भेद दृष्टिगत होता है । दोनों के विषय में कोई भेद नहीं है, भेद है केवल अंगों के नामकरण में । दोनों के विषय का एकत्व अध्ययनीय है । वाह्य इन्द्रियों को स्ववश में लाने की क्रिया 'यम' है और आन्तिरिक इन्द्रियों को वशीभूत करने का साधन 'नियम' है । हठयोग की पच्चीस मुद्राओं और ३३ आसनों में से कतिपय की साधना 'स्थूल क्रिया' है । हठयोग के आठ प्राणायामों एवं स्वरोदय की कतिपय क्रियाओं की साधना 'सूक्ष्म क्रिया' है । मन्त्र की सहायता से सिद्ध लययोग का पंचम साधन 'प्रत्याहार' है । इस स्थिति में पहुँचकर साधक द्वारा नाद श्रवण प्रारम्भ होता है । "लय योग के आठवें अंग में योगी शरीर के अन्दर के षट चक्रों को जानता और उनकी सहायता से साधना का अभ्यास करता है । योगधारियों का मत है कि मेरुदण्ड के नीचे से लेकर मस्तक के ऊपर तक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायता से योगी प्रकृति शक्ति को नीचे से ले जाकर सातवें सहस्रदल के स्थान में शिवशक्ति का संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है । इस चक्र की क्रिया के पूर्ण होने पर मुक्ति की प्राप्ति होती है । यह साधन धारणा-साधन से प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धि तक सहायता करता है । लय योग के ध्यान का नाम 'विन्दु ध्यान' है । इस प्रकार से योगी साधन करते-करते प्रकृति के सूक्ष्म रूप का विन्दु रूप में दर्शन करता है । उसी का ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ 'लययोग' की कुछ और भी लय क्रिया जो गुरुमुख से प्राप्त होती है उसकी साधना करते-करते योगी अन्तिम क्रिया 'समाधि' की प्राप्ति कर लेता है । लययोग की समाधि का नाम महालय है ।"

लययोग की दो विशेषताएँ हैं । प्रथम, लययोग का साधक निखिल ब्रह्मांड के दर्शन स्वशरीर में कर सकता है । कारण कि लययोग का सिद्धांत है कि व्यष्टि रूपी मानव पिंड, समष्टि रूपी ब्रह्मांड का प्रतीक है । द्वितीय विशेषता यह है कि लययोग के पद पर अग्रसर साधक वा योगी साधना के द्वारा अन्तर्जगत में एक अलौकिक बिन्दु के दर्शन करता है ।

उसी विन्दु में स्थित रहकर वह परमात्मा का ध्यान करता है। इसके विरुद्ध मंत्रयोग में साधक ब्रह्म के रूप का कल्पना द्वारा ध्यान करता है और हठयोग में योगी ज्योति कल्पना द्वारा करता है।

विगत पृष्ठों में लययोग का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया। परन्तु सुन्दरदास ने जिस लययोग का उपदेश अपने 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' ग्रन्थ के अन्तर्गत किया है उसका विषय और सिद्धांत पूर्वकथित लययोग के विषय और सिद्धांतों से साम्य नहीं रखता। सुन्दरदास ने लययोग के उन नौ अंगों का अथवा उनमें से किसी का भी उल्लेख प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नहीं किया है जिनका संक्षिप्त अध्ययन ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है। कवि ने 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' की ग्यारह चौपाइयों में लय योग के विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं। इन में से प्रथम दो और अंतिम दो चौपाइयों में 'लययोग' का महत्त्व वर्णित है। शेष सात चौपाइयों में कवि ने लय लगाने के प्रतीक और आदर्शों का उल्लेख किया है और उन्हीं के समान लय लगाने का उपदेश दिया है।

कवि ने 'लय' शब्द को उस अर्थ में नहीं ग्रहण किया है जिस अर्थ में लययोग पर ग्रन्थों की रचना करने वाले प्राचीन ऋषियों ने किया है। सुन्दरदास ने लय का अर्थ लीन या संलग्न होना ग्रहण किया है। चित्त को ब्रह्म में पूर्णरूपेण नियोजित करना ही कवि के अनुसार लययोग है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :

लय समान नहिं और उपाई।
जो जन रहै राम लय लाई॥
निशि वासर ऐसै लै लागै।
आवागमन सकल भ्रम भागै॥
सब प्रकार हरि सौं लै लावै।
होइ विदेह परम पद पावै॥

इन पंक्तियों में "लै" (लय) शब्द का प्रयोग बहुत ही सामान्य अर्थ में हुआ है। यहाँ "लै" का अर्थ प्रेम करना अधिक संगत प्रतीत होता है, न कि किसी विशेष योग पद्धति का द्योतक है।

कवि के मतानुसार इस भौतिक संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लययोग अद्वितीय साधन है।[1] अहभिज्ञी ब्रह्म से लय स्थापित करने पर ही मानव आवागमन

---

[1] लय समान नहिं और उपाई। जो जन रहै राम लय लाई॥
(सं० यो० प्र० द्वितीयोपदेश)

अथवा मृत्यु एवं पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[1] जिस प्रकार से चातक बारम्बार पीव-पीव का उच्चारण करके प्रियतम की खोज में व्याकुल फिरता है उसी प्रकार साधक को परब्रह्म का स्मरण अपेक्षित है। जिस प्रकार कुंजी एवं कूर्म बड़े ध्यान से अपने अंडों को सेते हैं उसी प्रकार यदि साधक ध्यान से परब्रह्म का स्मरण करे तो वह जरा और मृत्यु आदि से मुक्त हो जाय। सुन्दर गीत वा कहानी सुन कर जिस प्रकार बालक आनन्द-विभोर हो जाते हैं सर्प पूंगी के मधुर रव को सुन कर आत्मविस्तृत हो जाता है और हिरण बाँसुरी की मोहक तान सुनकर ध्यानस्थ हो जाता है उसी लय से यदि मानव ब्रह्म का स्मरण करे तो समस्त भवताप विनष्ट हो जायँ। जिस प्रकार जलते हुए बाँस पर नटनी चढ़कर अपनी कला का प्रदर्शन करती हुई भी अपनी रक्षा रखती है और जैसे पनिहारी घड़े को सर पर रख कर भाँति-भाँति से अभिनय करती हुई भी घड़े का ध्यान नहीं विसराती है उसी प्रकार ब्रह्म का ध्यान रखनेवाला लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार जंगल की चरनेवाली गाय का ध्यान घर पर छूटे हुए बछड़े और गृहकार्य में संलग्न माता का ध्यान बच्चे पर रहता है उसी प्रकार हरिदास को ब्रह्म में लय रखना चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्म में सतत ध्यान रखने वाले व्यक्ति ही अभावों से ग्रस्त संकटों से आवृत इस संसार से मुक्ति ग्रहण कर सकता है।[2]

---

[1]निशिवासर ऐसै लै लागै। आवागमन सकल भ्रम भागै॥

[2]जैसे चातक करै पुकारा। पीवपीव करि बारम्बारा।
ऐसी विधि लय लावै कोई। परम स्थान समावै कोई॥
जैसे कुंजी अंड समारै। पुनि सो कूर्म दृष्टि नहि टारै।
जो कोऊ लै लावै ऐसी। ताकौ जरा मृत्यु कहुँ कैसी।
जैसे बालक सर्प कुरंगा। थकित सु होइ नाद कै संगा।
ऐसी लय जो कोई लावै। जोनि संकट बहुरि न आवै॥
जैसे बरत बांस चढ़ि नटनी। बारंबार करै तहाँ अटनी।
इत उत कहूँ नैक नहि हेरै। ऐसी लय जन हरि तन फेरै।
जैसे कुम्भ लेइ पनिहारी। सिरि धरि हंसै देइ कर तारी।
सुरति रहै गागरि कै मंझा। यौं जन लय लावै दिन मंझा॥
जैसे गाइ जंगल कौ धावै। पानी पिवै घास चरि आवै।
चित्त रहै बछरा कै पासा। ऐसी लय लावै हरिदासा॥

सुन्दरदास के लययोग विषयक विचारों के विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने लय योग के सैद्धांतिक पक्ष एवं शास्त्रीय नियमों को नहीं ग्रहण किया है। लययोग विषयक उनकी अपनी निजी विचार-धारा है। उसके अनुसार लय योग का अर्थ पिंड का ज्ञान हो जाने के अनन्तर क्रियाओं के द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करना नहीं है, वरन् अत्यधिक एकाग्र मन से परब्रह्म निर्गुण परमात्मा का ध्यान करना ही है।

———

ज्यों जननी गृह काज कराई। पुत्र पिधूरै पौढ़त भाई।
उर है अपनै तै छिन न विसारै। ऐसी लय जन कौ निस्तारै॥
(स० यो० प्र० द्वितीयोपदेश)

चर्चायोग

योगशास्त्र के अन्तर्गत चर्चायोग का कहीं भी वर्णन वा उल्लेख नहीं हुआ। हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग, लययोग, लक्ष्ययोग, और अष्टांगयोग की भाँति चर्चायोग योगसम्मत विषय नहीं है। धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इस विषय का न तो सैद्धांतिक पक्ष और न शास्त्रीय पक्ष ही साहित्य के अन्तर्गत कहीं पर भी वर्णित हुआ है। अतः चर्चायोग विषयक सुन्दरदास के विचार मौलिक हैं।

सामान्यतया चर्चा का अर्थ होता है वार्तालाप, वर्णन, बयान, जिक्र अथवा किसी व्यक्ति विषय अथवा वस्तु के विषय में बात चलाना। धर्म एवं आध्यात्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत प्रयुक्त 'चर्चा' शब्द का अर्थ है ब्रह्म अथवा सर्वात्मा के विषय में वार्तालाप, वर्णन या परस्पर गुणकथन करना। चर्चायोग शीर्षक के अन्तर्गत सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका ग्रन्थ में कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेषरूपेण विचारणीय है---

अब यह चर्चायोग बषानौं।
मति अनुमान कछू जो जानौं ॥
निराकार है नित्य स्वरूपं।
अचल अभेद्य छाँह नहिं धूपं ॥४०॥
अव्यक्त पुरुष अगम अपारा।
कैसे कै करिये निर्द्धारा ॥
आदि अन्त कछु जाइ न जानी।
मध्य चरित्र सु अकथ कहानी ॥४१॥
प्रथमहिं कीन्हौ 'है' ओंकारा।
ताते भयौ सकल विस्तारा ॥
जावत यह दीसै ब्रह्मंडा।
सातौ सागर अरु नव खंडा ॥४२॥
चंद सूर तारा दिन राती।
तीनहुँ लोक सूजे बहु भाँती ॥
चारि षानि करि सृष्टि उपाई।
चौराशी लष जाति बनाई ॥४३॥
ब्रह्म विष्णु सु सूजे महेशा।

गणगंधर्व असुर सुर सेसा ॥
भूत पिशाच मनुष्य अपारा ।
पशु पच्छी जल थल संसारा ॥४४॥
आप निरंजन परम प्रकाशा ।
देखैं न्यारा भया तमाशा ॥
ताहि कछु लीपै नहिं छीपै ।
घट घट माहिं आपुही दीपै ॥४६॥
चर्चा करौं कहाँ लग स्वामी ।
तुम सबही के अन्तरजामी ॥
सृष्टि कहत कछु अन्त न आवै ।
तेरा पार कौन धौं पावै ॥४७॥

इन चौपाइयों के पश्चात् ४८-५१ चौपाई में कवि ने ब्रह्म की महत्ता और सर्व-व्यापकता का वर्णन किया है और अन्त में भक्तियोग, मंत्रयोग, लययोग एवं चर्चायोग के एकत्व का उल्लेख हुआ। उद्धृत चौपाइयों में "चर्चा करौं कहाँ लग स्वामी" पंक्ति विशेष विचारणीय है। इस पंक्ति को देखने से ज्ञात होता है कि चर्चायोग से लेखक का आशय है ब्रह्म की महत्ता, सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता की पारस्परिक चर्चा चलाना, आपस में वार्तालाप करना। अनुमानतः यही कवि के अनुसार चर्चायोग है।

"चर्चा" शब्द के अनेक अर्थों में एक शब्द जिक्र भी है। 'जिक्र' शब्द का सम्बन्ध सूफी दर्शन [illegible] 'जिक्र' शब्द सुनते ही हमारे मन में शंका और सन्देह घर कर लेता है कि सुन्दरदास के इस चर्चायोग पर सूफी प्रभाव तो नहीं है। जब भारतीय धर्म साहित्य में चर्चायोग का उल्लेख और शास्त्रीय विवेचन कहीं भी नहीं मिलता, तब फिर सुन्दरदास ने इस नये योग को कहाँ से स्थान दिया? सम्भवतः चर्चा जिक्र के पर्यायवाची शब्द के रूप में ही प्रयुक्त हुआ हो। सूफी दर्शन के अन्तर्गत ध्यानावस्थित होने के पाँच प्रकार उल्लिखित हुए हैं। डा० राम कुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' में इन पाँचों अवस्थाओं का परिचय निम्नलिखित रूप में दिया है—

१. जिक्र शारीरिक शुद्धि के लिए।
२. फिक्र मानसिक शुद्धि के लिए।
३. कसब आत्मा को समझने के लिए।
४. शगूल परमात्मा में लीन होने के लिए।
५. अमल अपनी सत्ता का नाश कर परमात्मा की सत्ता प्राप्त करने के लिए।

ध्यानावस्थित होने की इन उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं में साधक की सर्वप्रथम अवस्था

है 'जिक्र'। इस अवस्था का महत्त्व शारीरिक शुद्धि के लिए है। सूफी दर्शन में 'माशूक़' अथवा परब्रह्म को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम साधक को मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध होना पड़ता है। ब्रह्म उसी स्थान पर निवास कर सकता है जहाँ शुद्धि है। इसीलिए ब्रह्म को अपने हृदय में स्थान देने के लिए उसे तन और मन से शुद्ध होना अत्यधिक आवश्यक है। यह शुद्धि जिक्र अथवा ब्रह्म के गुणगान के द्वारा सम्भव हो सकती है। ब्रह्म विषयक पारस्परिक जिक्र के फलस्वरूप ही साधक का पार्थिव शरीर सांसारिक विषय-वासनाओं की ओर से विमुक्त होता जाता है। अब विगतपृष्ठ पर चर्चायोग विषयक कवि की चौपाइयों पर ध्यान देने से ज्ञात हो जाता है कि लेखक का ब्रह्म विषयक चर्चायोग सूफियों की फिक्र से किसी भी दशा में भिन्न नहीं है। दोनों में ही भाव एवं विषय साम्य हैं। जिक्र और चर्चा दोनों का एक ही लक्ष्य है, एक ही आदर्श है। दोनों ही साधना के दो विभिन्न मार्गों पर अग्रसर साधकों की मंजिल के प्रथम भाग हैं। दोनों में ही ब्रह्म की अनन्त, असीम और अनादि सत्ता के गुणगान को प्रधानता दी गई है। इसीलिए यह सम्भव प्रतीत होता है कि सुन्दरदास ने परब्रह्म की साधना की इस रीति चर्चायोग का विचार सूफी दर्शन से ही ग्रहण किया है।

सुन्दरदास के इस चर्चायोग के विषय में एक और सम्भावना है। सम्भवतः कवि ने भर्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद को ग्रहण करके उसके मूल सिद्धांतों के आधार पर अपने चर्चायोग की रचना की कल्पना की। शब्दाद्वैतवाद और चर्चायोग में साम्य दिखाने की अपेक्षा, सर्वप्रथम शब्दाद्वैतवाद का अध्ययन आवश्यक है। वेदों के अन्तर्गत तीन प्रकार के अद्वैत सिद्धांत मान्य हुए हैं। क्रमानुसार ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं—१. विज्ञानाद्वैत २. सत्ताद्वैत ३. शब्दाद्वैत। आगे चलकर विज्ञानाद्वैतवाद का प्रसार गौतम बुद्ध और सत्ताद्वैत का प्रसार शंकराचार्य द्वारा हुआ। प्रथम दो अद्वैतवाद की भाँति शब्दाद्वैतवाद जनता में अधिक समादरित नहीं हुआ। इसके प्रचारक एवं प्रसारक भर्तृहरि थे। भर्तृहरि के 'वाक्य प्रदीप' के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद का प्रवर्तन हुआ है। शब्दाद्वैत का मूल उद्गम ऋग्वेद एवं अन्य संहिताएँ हैं उपनिषदों 'विशेषतया मांडूक्योपनिषद में' भी प्रणवोपासना और प्रणवों की प्रशस्तियाँ बड़े ही विस्तार से उपलब्ध होती हैं। पाणनीय सूत्रों में इस दर्शन की ओर संकेत है और कात्यायन के 'वार्तिक' में तो इसके सभी मुख्य सिद्धांतों का उल्लेख हो गया है। महाभाष्य में सर्वप्रथम वार 'स्फोट' शब्द का उल्लेख हुआ है "स्फोटमात्र मादरश्रुतेर्मश्रुतिर्भवति" तथा "ध्वनि स्फोटस्य शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।" परन्तु भर्तृहरि ने सर्वप्रथम बार इस सिद्धांत को अपने ग्रन्थ 'वाक्य प्रदीप' में शास्त्रीय रूप प्रदान किया। भर्तृहरि के पश्चात् भर्तृमित्र ने अपने ग्रन्थ 'स्फोटसिद्धि' में इस विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला। तत्पश्चात् स्फोटवाद का पूर्ण विवेचन, विवरण और व्याख्या

पुण्यराज, कैयट के भाष्यों एवं नागेश के उद्योत में उपलब्ध होता है। नागेश का उत्कर्ष सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। शब्दाद्वैत के घोर प्रतिपादक के रूप में नागेश आज भी ख्यात हैं। अब शब्दाद्वैत के विषय में। समस्त दृश्य-जगत कल्पना अथवा विचारों की प्रतिच्छाया मात्र है। वाह्य जगत असत्य और अनित्य है। इस मत के आधार उपनिषद हैं। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है कि—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

तथा वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

दार्शनिकों के इसी विचार को वैय्याकरण विचार एवं भाषा की अनन्यता अथवा एकात्मकता कहते हैं। उनके अनुसार विचार और भाषा अन्योन्याश्रित है। पर शब्दाद्वैत के समर्थक वैयाकरण इसी सिद्धांत को किंचित हेर-फेर के साथ स्वीकार करते हैं। दार्शनिक एवं भाषा विज्ञानी भर्तृहरि दोनों मतों—भाषा विचारों की पूर्ववर्ती है और विचार भाषा का'—को प्रदर्शित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "एकस्यैवात्मना भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ।" इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें विश्वास ही करना पड़ता है कि संसार शब्द का वृहद् कोष है। भर्तृहरि ने इसी कथन को दूसरे रूप में उद्घोषित किया कि 'शब्द के अभाव में बोध नहीं है। कारण कि दोनों ही अविभेद्य हैं। ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व भी शब्द के अभाव में लुप्त हो जाता है।'

'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।'
न प्रकाशः प्रकाशयते सा ही प्रत्यमवर्शिन्ती॥

शब्द के आदि में हम क्रिया रहित एवं पत्थर की भाँति जड़ एवं निष्क्रिय बन जायँगे—

तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते कुड्यकाष्ठवत्।
तथा इदमन्धं तमः कृत्स्न जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ (दंडी)

भर्तृहरि के शब्दों में—

इति कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यापाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥

भर्तृहरि का कथन है कि बच्चा भी अपने को व्यक्त करने के हेतु शब्द का ही आश्रय ग्रहण करता है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक भाषा को, शब्द को केवल पारस्परिक भावों के आदान-प्रदान का साधन मानता है पर भर्तृहरि मन की आभ्यन्तरिक क्रियाओं को परख कर कहते हैं कि समस्त वागिन्द्रियों का प्रथम समायोग, श्वास का निष्क्रमण एवं अंगों का

संचालन तभी सम्भव होता है जब पूर्व संस्कारों से नवजात शिशु में शब्द स्मृति जागृत होती है। शब्द व्यवहार नित्य एवं अनादि है। इसीलिए बालक अपने को व्यक्त करने के लिए शब्द का आश्रय ग्रहण करता है। भर्तृहरि के अनुसार 'शब्द' सर्वव्यापक एवं नित्य है। "भारतीय वैयाकरण और आगे बढ़कर कहते हैं कि प्रत्येक वर्तमान वस्तु 'शब्द' द्वारा व्यक्त की जा सकती है। इसके विरुद्ध कोई भी वस्तु जो शब्द द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती अविद्यमान है (यद्वर्तते तद्व्यपदेश्यं यन्न व्यपादिश्यते तन्नास्ति) शब्द की शक्ति अव्याख्येय है क्योंकि यह शब्द ही है जो हमें क्षणमात्र के लिए सही शशविषाण, और आकाश-कुसुम की अभिव्यक्ति करा देता है, यद्यपि ये पदार्थ सर्वथा असत्य हैं।......... मीमांसकों के अनुसार वर्ण नित्य हैं और ध्वनि से व्यक्त होते हैं। अर्थप्रत्यायकत्व प्रक्रिया तो नैयायिकों जैसी है, किन्तु वर्णों की ऐक्यानुभूति में हमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती, कारण कि सभी वर्ण नित्य हैं, फिर भी यह आपत्ति होती है कि इन वर्णों की अनुभूति क्षणिक है और इस दशा में उन सबों की एकता शक्य नहीं है। इसलिए इन सभी कठिनाइयों को दूर करने के लिए वैयाकरणों ने स्फोट को वाचकता का अधिष्ठान माना और इस सिद्धांत को शृङ्खलाबद्ध किया है। यह स्फोट विभिन्न शब्दों और अर्थों में व्यक्त होता है। यही 'स्फोटवाद' है। 'प्रणव' ही इस समस्त विश्व का आधार है। यही शब्द तत्वविश्व का हेतु है, कारण है। शुद्ध ब्रह्म और शब्द ब्रह्म में अन्तर नहीं है, पूर्ण एकत्व है। यहाँ 'शब्द ब्रह्म' विश्व का कारण है—

वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति
वागेवार्थं सन्निहितं सन्तनोति।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं
तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते॥

तथा, वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे
वाच इत्सर्वममृतं मर्त्यं च॥

'श्रुति' के अनुसार भी विश्व का उद्गम शब्द से ही हुआ है। शंकराचार्य के प्रस्तुत कथन 'न चेदं शब्द प्रभवत्वं ब्रह्म प्रभवत्ववदुपादानकारणत्वाभिप्रायेण।......चिकीर्षित-मर्थमनुति[illegible] [illegible]य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां न प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेर[illegible] [illegible]ः सृष्टेः प्राग् वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः पश्चात् तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते।" [illegible]त्र (१।३।२८) से भी यही ध्वनि प्रकट होती है कि संसार की रचना का मूल कारण शब्द ही है। 'शब्द ब्रह्म' की अनुभूति में यही 'शब्द' वा 'प्रणवोपासना' (नेदिष्ठं ब्रह्मणो यदोंकार इति) योग और शुद्ध भाषण ही सहायक हैं। इसका समर्थन भी पुण्यराज के भाष्य से उद्धृत अगले पृष्ट पर दी हुई पंक्तियों से होता है—

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः ।
क्रम संहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि ॥
वाचः संस्कार माधाय वाचः स्थाने . निवेश्य च ।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्न बन्धनाम् ॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थि परिग्रहम् ।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥

अतः 'शब्द ब्रह्म' अथवा भर्तृहरि के 'शब्दाद्वैत' का सारांश यही है कि संसार का उद्‌गम और उत्पत्ति 'शब्द', 'प्रणव' या 'ओंकार' से ही है । 'ओंकार' या 'प्रणव' या 'शब्द' ही 'ब्रह्म' का दूसरा रूप है । जो इस संसार की स्थिति का वास्तविक रहस्य है ।

अब संदरदास की निम्नलिखित पंक्तियां पर ध्यान दीजिए :

अब यह चर्चायोग वषानौं । मति अनुमान कछू जो जानौं ।
निराकार है नित्य. स्वरूपं । अचल अभेद्य छाँह नहिं धूपं ॥
अव्यक्त पुरुष अगम अपारा । कैसे कै करिये निर्द्धारा ।
आदि अन्त कछु जाइ न जानी । मध्य चरित्र सुअकथ कहानी ॥
प्रथमहिं कीनौ (है) ओंकारा । तातें भयौ सकल विस्तारा ।
जावत यह ही से ब्रह्मंडा । सातौं सागर अरु नव खंडा ॥
चन्द सूर तारा दिन राती । तीनहुँ लोक सृजे बहु भाँती ।
चारि षांनि करि सृष्टि उपाई । चौराशी लष जाति बनाई ॥
ब्रह्माविष्णु सु सृजे महेशा । गणगंधर्व असुर सुर सेसा ।
भूत पिशाच मनुष्य अपारा । पशुपक्षी जल थल संसारा ॥
षान पान नानाविधि बानी । भिन्न सुभाव किये कछु जानी ।
हलन चलन सब दिया चलाई । सहजै सब कछु होता जाई ॥
आप निरंजन परम प्रकाशा । देषैं न्यारा भया तमाशा ।
ताहीं कछु लीपै नहि छीपै । घट घट माहिं आपुही दीपै ॥
चर्चा करौं कहाँ लग स्वामी । तुम सबही के अन्तर्जामी ।
सृष्टि कहत कछु अन्त न आवै । तेरा पार कौन धौं पावै ॥

उपरिलिखित पंक्तियों में मोटे अक्षरों में छपा हुआ भाग विशेष विचारणीय है । संुदरदास के अनुसार ब्रह्म निराकार, नित्य, अचल, अभेद्य है । वह अव्यक्त, अगम और अपार है । वह रूप और आकार की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है । वह आदि और अनन्त है । उससे ओंकार की उत्पत्ति हुई । ओंकार (प्रणव) से ही समस्त संसार का विस्तार एवं विकाश हुआ है । यावत ब्रह्मांड, सप्तसागर, नौ खंड, सूर्य, चन्द्र, तारा, दिन और रात्रि, ब्रह्मा,

विष्णु, महेश, गण, सुर, असुर, शेषनाग, भूत, पिशाच, मानव, पशु, पक्षी, जल, थल, संसार सभी उसी 'प्रणव' शब्द या ओंकार से उत्पन्न हुए हैं। यही शब्द ब्रह्म निरंजन है, परमप्रकाश है। उसे कुछ भी न नष्ट कर सकता है न आक्रांत। वह सर्वव्यापी है। वह वर्णनातीत है। उस ओंकार अथवा शब्द ब्रह्म की चर्चा कहाँ तक की जाय? जिसकी सीमा नहीं है उसकी चर्चा का अन्त कहाँ हो सकता है? वही शब्द ब्रह्म संसार की स्थिति का मूल कारण है।

सुन्दरदास के प्रस्तुत कथन की तुलना जब हम विगत पृष्ठों में व्यक्त भर्तृहरि के 'शब्दाद्वैत', शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' (१। ३। २८) पुण्यराज के 'प्रणवोपासन', नागेश की 'मंजूषा' में व्यक्त 'ओंकारोपासन', श्रुति के "वागेव विश्वा भुवनानि।जज्ञे........." वेद के "वागेवार्थ पश्यति वाग्ब्रवीति............" उपनिषद के "वाचारम्भणं......... तथा अस्त भाति...........द्वयम्" करते हैं तो ज्ञात हो जाता है कि सिद्धांततः सुन्दरदास की विचार-पद्धति और इन विचारकों में कोई आधारभूत, अन्तर नहीं हैं। दोनों में विचार साम्य है, भाव साम्य है और विषय साम्य है। हाँ भावाभिव्यंजना की शैली में कवि की मौलिकता है।

इस प्रकार सुंदरदास के 'चर्चायोग' के सम्बन्धित तीनों दार्शनिक विचार-धागओं का ऊपर उल्लेख हुआ। परन्तु कवि के इस 'चर्चायोग' पर भर्तृहरि के "शब्दाद्वैत" का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है, सूफी विचारकों का उतना नहीं।

————

मंत्रयोग

विगत पृष्ठों में सुंदरदास के भक्तियोग विषयक विचारों का उल्लेख किया गया है। कवि ने भक्तियोग के अन्तर्गत जिन अन्य योगों का उल्लेख किया है उनमें मंत्रयोग, लययोग और चर्चायोग है।[1] भक्तियोग के पश्चात् कवि ने मंत्रयोग का वर्णन किया है। योगों के शास्त्रीय विवेचन में भक्तियोग (वैधी एवं रागात्मिका दोनों ही) मंत्रयोग का एक अंग है और उसी के अन्तर्गत है। किन्तु कवि के 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' ग्रन्थ को देखने के पश्चात् यह बात सिद्ध हो जाती है कि कवि ने मंत्रयोग का उल्लेख भक्तियोग के अंतर्गत किया है।

'मंत्र' शब्द का अर्थ है वे शब्द या वाक्य जिनका जप देवताओं की प्रसन्नता या कामनाओं की सिद्धि के हेतु करने का विधान है। वैदिक साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग मंत्रों से पूर्ण है। बौद्धमत का जो विकास तंत्रयान के रूप में हुआ उसमें मंत्रों को साधना का प्रमुख अंग माना गया। 'नाथ' और 'सिद्ध' सम्प्रदायों में मंत्रों को बड़ी मान्यता प्रदान की गई और यही मंत्रों को साधना के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ। सन्तों ने भी मंत्र के जप पर बड़ा जोर दिया है। उनका यह मंत्र निर्गुण परब्रह्म परमात्मा का नाममात्र है। सन्तों ने बारम्बार इसी मंत्र का जाप करने का उपदेश दिया है।[2] सन्तों ने अजपाजप को महामंत्र कहा है। मंत्र जप के पश्चात् अजपाजप की स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्थिति में पहुँचकर मंत्र अथवा नाम जप की आवश्यकता नहीं रह जाती वरन् नाम अथवा मंत्र स्वतः उच्चारित वा गुञ्जारित होता रहता है। सोऽहँ, शिवोऽहँ, राम आदि अनेक मंत्र जिन्हें साधक स्वेच्छानुसार जपते हैं। मंत्रों का नियमपूर्वक जप करना ही मंत्रयोग है।

योग-शास्त्र ग्रन्थों में मंत्र योग की बड़ी रोचक और स्वाभाविक परिभाषाएँ भी हुई हैं। योगशास्त्र के अनुसार सृष्टि नाम रूपात्मक होने के कारण नाम एवं रूप के अवलम्बन से ही साधक सृष्टि के बन्धन से अतीत होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जिस भूमि पर गिरता है उसी का अवलम्बन ग्रहण करके वह पुनः उठ सकने में समर्थ होता है। नाम रूपात्मक विषय प्राणी को बन्धन में बाँधते हैं और नाम रूपात्मक प्रकृति वैभव से जीव अविद्याग्रस्त रहते हैं; अतएव स्वसूक्ष्म प्रकृति एवं प्रकृति की गति के अनुसार नाममय शब्द और भावमय रूप के अवलम्बन से जो योग साधना की जाय उसे ही मंत्रयोग कहते हैं—

[1] सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका, द्वितीयोपदेशः, पृ० ६५-१०१

[2] देखिये 'संतों की नाम प्रियता' मेरे ग्रन्थ 'संतदर्शन' में

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽप्यत्त्वेणैतत्समीक्ष्येत ॥
नाम रूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक् प्रकृति वैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्म प्रकृति प्रवृत्ति चानुसृत्य वै ।
नाम रूपात्मनोः शब्द भावयोरवलम्बनात् ॥

योग के शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत मंत्रयोग के सोलह अंग मान्य हुए हैं। चन्द्रमा की भाँति मंत्रयोग भी सोलह कलाओं से पूर्ण है। वे सोलह अंग हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्य देश सेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, वलि, याग, जप, ध्यान और समाधि :

भवति मंत्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कल षोडश शोभनाः ॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पंचांगस्यापि सेवनम् ।
आचार धारणे दिव्य देश सेवनमित्यपि ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं वलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥
(मंत्रयोग)

मंत्रयोग का सर्वप्रथम अंग है 'भक्ति'। 'भक्ति' दो प्रकार की मानी गई है। वैधी प्रथम प्रकार की भक्ति है। विधि पूर्वक साधन होने वाली भक्ति को वैधी भक्ति कहते हैं।[1] वैधी भक्ति के नौ भेद हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन। द्वितीय प्रकार की भक्ति है—रागात्मिका भक्ति। अंगिरा के दैवी मीमांसा दर्शन में रस अनुभव कराने वाली, आनन्द और शांति देने वाली भक्ति को रागात्मिका कहा गया है :

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका
(अं० दै० मी० सूत्र १२)

मंत्रयोग का द्वितीय अंग 'शुद्धि' है। 'शुद्धि' दो प्रकार की होती है। अंतःशुद्धि और वहिर्शुद्धि। साधक के लिए दोनों ही प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। मन की शुद्धि के हेतु

---

[1] विधि साध्यमाना वैधी सोपानरूपा। 'अंगिरा दैवी भक्ति दर्शन' सूत्र ११।

दैवी सम्पत्ति के अभ्यास की अत्यधिक आवश्यकता है। इन्द्रिय संयम, तप, अंहिसा आदि इस प्रकार की शुद्धि के लिए बड़े ही सहायक सिद्ध होते हैं। मंत्रयोग का तृतीय अंग आसन है। मंत्रयोग की साधना में केवल 'स्वस्तिकासन' और 'पद्मासन' का उल्लेख हुआ है। मंत्रयोग का चतुर्थ अंग 'पंचांगसेवन' है तथा पंचम अंग आचार है। आचार तीन प्रकार के कहे गये हैं—दिव्याचार, दक्षिणाचार और वामाचार। सात्विक साधक के लिए दिव्याचार, राजसिक साधक के लिए दक्षिणाचार और तामसिक के लिए वामाचार कहा गया है। मंत्रयोग का षष्टम् अंग 'धारणा' (Concentration) है। 'धारणा' के भी दो भेद हैं। १. वहिर्धारणा, २. अन्तर्धारणा। मूर्ति, चित्र, विग्रह आदि में 'धारणा' करने को वहिर्धारणा कहा गया है। अन्तर्धारणा का हृदय से निकट सम्बन्ध है। सन्तों ने इसी धारणा के लिए बारम्बार जोर दिया है। मंत्रयोग का सप्तम अंग 'दिव्य देश-सेवन' है और अष्टम् अंग 'प्राण-क्रिया'। 'प्राणक्रिया' अथवा 'प्राणायाम' का विधान चित्तवृति संयम, मन की एकाग्रता एवं ध्यान की सहायता के लिए हुआ है। नवम् अंग 'मुद्रा' है और दशम् 'तर्पण'। मंत्रयोग का ग्यारहवाँ अंग 'हवन', बारहवाँ 'बलि', तेरहवाँ 'याग' है। याग दो प्रकार का है—अन्तर्याग एवं बहिर्याग। अन्तर्याग बहिर्याग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। सन्तों ने इस बहिर्याग की बड़ी कटु आलोचना की है। मंत्रयोग का चौदहवाँ अंग 'जप' है। 'जप' के भी तीन प्रकार हैं—१. वाचिक, जो दूसरे को प्रतिश्रुत हो, २. उपांशु, जो केवल साधक को सुनाई दे, ३. मानस, जो साधक को भी सुनाई न दे। मंत्र जप से सिद्धि प्राप्त होती है और मन के विकार दूर हो जाते हैं—

जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

मंत्रयोग का पंद्रहवाँ अंग 'ध्यान' है। 'ध्यान' से बन्धन (लौकिक) नष्ट हो जाते हैं और मुक्ति प्राप्त होती है। मंत्रयोग का सोलहवाँ और अंतिम अंग 'समाधि' है। मंत्रसिद्धि के साथ देवताओं में मन लय होने से जब मन मंत्र और देवता का स्वतंत्र क्रोध नष्ट हो जाता है, तभी ध्याता, ध्यान और ध्येय रूपी त्रिपुटी का लय हो जाता है। यही समाधि की अवस्था है और साधना की चरम सिद्धि।

सन्तों ने मंत्रयोग की इस शास्त्रीय पद्धति को नहीं अपनाया। मंत्रयोग के सोलहों अंगों पर विचारपूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि मुद्रा, हवन, तर्पण, बलि, पंचांग-सेवन आदि की इन सन्त कवियों ने बड़ी कटु आलोचना की है। शुद्धि, आसन, आचार, याग, जप, ध्यान और समाधि आदि का उन्होंने समर्थन किया है। इसके पक्ष में उन्होंने अपने मत प्रकट किये हैं। इसलिए सन्तों ने मंत्रयोग को उसके शास्त्रीय रूप में नहीं ग्रहण किया है। सुन्दरदास ने मंत्रयोग के अन्तर्गत उसके अन्य आवश्यक अंगों पर भी अपने विचारों को नहीं प्रकट किया है। सतगुरु से निर्गुण परब्रह्म के नाम का परिचय प्रा तकेरक

उसका बारम्बार अभ्यास करना ही सुन्दरदास के अनुसार 'मंत्रयोग' है। सन्तों ने अपने साहित्य की रचना और उपदेशों का प्रसार साधारण जनता के लिए किया था। सम्भवतः इसी कारण सुन्दरदास ने भी मंत्रयोग विषयक विचारों को सुगम और सरल बनाये रखने के लिए ही उसके शास्त्रीय पक्ष को अपनी विचार-धारा में स्थान नहीं दिया।

सुन्दरदास के शब्दों में सतगुरु 'मंत्रयोग' का मूल उद्गम है। उसकी कृपा के बिना, उसके पथ-प्रदर्शन के अभाव में वह बोधगम्य नहीं है।[1] समस्त सन्तों ने परस्पर विचार विनिमय किया कि उस परब्रह्म के प्रति भक्ति किस प्रकार की जाय जिसकी न रेखा है, न रूप है, न आकार है, न प्रकार है, सर्वत्र वर्तमान रहता हुआ भी वह अदृष्ट है। अनन्त होता हुआ भी स्थूल, दृष्टि से दूर एवं ऊपर है। गुणातीत होते हुए भी वह संसार की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। जिस परब्रह्म को मानव ने देखा नहीं, सुना नहीं, उससे भक्ति किस प्रकार की जाय[2] विचार विमर्श के अनन्तर सन्तों ने अपनी सुविधा और सुगमता के लिए निराकार परब्रह्म की उपासना का साधन 'राम' मंत्र निर्धारित किया।[3] कारण कि राम नाम का जप समस्त मंत्रों और साधनाओं में श्रेष्ठ है। उसके समान और कोई उपासना नहीं है। यह मंत्र समस्त मंत्रों में श्रेष्ठ है।[4]

---

[1] मंत्रयोग अब सुनियहु भाई।
सतगुरु बिना न जान्यो जाई॥
(स० यो० प्र० द्वितोयोपदेशः)

[2] जाकै कछू रूप नहि रेषा।
कौन प्रकार जाइ सो देषा॥
कहूँ न दीसै ठौर न ठाऊँ।
ताकौ धरहिं कवन विधि नाऊँ॥
(स० यो० प्र० द्वितीयोपदेशः)

[3] अपने सुख के कारन दासा।
काढ्यौ सोधि सुपरम प्रकासा॥
ताकौ नाम राम तब राष्यौ।
पीछे विविधि भाँति बहु भाष्यौ॥ (वही)

[4] राम मंत्र सबके सिरमौरा।
ताहि न कोई पूजत औरा॥
राम मंत्र सब महिं ततसारा।
और आहि जग के व्यौहारा॥
(स० यो० प्र० द्वितीयोपदेशः)

'राम मंत्र' का बड़ा माहात्मा और महत्ता है। पत्थर पर राम नाम अंकित होने के कारण जल में भी पत्थर तैरता रहा (कहा जाता है कि सेतु बाँधते समय नल, नील आदि ने सागर के जल में शिलाओं पर राम मंत्र लिख कर रखा। नाम के प्रताप से वे सभी शिलाएँ पानी पर आज तक तैरती रहीं, डूबी नहीं)। पत्ते पर राम मंत्र लिख देने से इच्छानुसार वह इतना अधिक भारी हो गया कि उठाये नहीं उठ सका। राम मंत्र को शिव ने सती, नारद ने ध्रुव को सुनाया। प्रह्लाद ने इसी मंत्र का जप करते हुए समस्त कष्टों को सहन कर डाला।[1]

इस मंत्र को सद्गुरु से सुनने के अनन्तर साधक इसका अभ्यास करे। इसके अभ्यास के पश्चात् इसे हृदयंगम करके अजपाजप करे। दिन-रात साधक का मन इसी मंत्र में लगा रहे। जप का धागा कभी भी टूटने न पाये। इसी अवस्था पर साधक के मन में इस मंत्र की अखंडित ध्वनि गुंजरित होने लगेगी। जिस प्रकार पानी में लवण मिलकर एक रूप हो जाता है ठीक उसी प्रकार साधक को सुरति और नाम को एक रूप कर देना चाहिए। सुन्दरदास के शब्दों में—

प्रथम श्रवन सुनि गुरु कै पासा। पुनि सो रसना करे अभ्यासा ॥
ता पीछे हिरदै में धारे। जिह्वा रहित मंत्र उच्चारे ॥
निशि दिन मन तासौं रह लागौ। कबहूँ नेक न टूटे धागौ ॥
पुनि तहँ प्रकट होइ रंकारा। आपुहि आपु अखंडित धारा ॥
तन मन बिसरि जाइ तहाँ सोई। रोमहि रोम राम धुनि होई ॥
जैसे पानी लौन मिलावै। ऐसे ध्वनि महिं सुरति समावै ॥[2]

---

[1]राम मंत्र ते शिला तिरानी।
पाथर कहा तिरै कहु पानी ॥
राम मंत्र के ऐसे कामा।
पत्र न उठ्यौ लिखे जब नामा ॥
राम मंत्र शिव गौरि सुनायौ।
सोई नारद ध्रुवहि पढ़ायौ ॥
पुनि प्रह्लाद गह्यौ सो मंत्रा।
सही कसौटी काढ़े जंत्रा ॥
जरे न मरे षड्ग की धारा।
राम मंत्र के ये उपकारा ॥
(स० यो० प्र० द्वितीयोपदेशः)

[2]स० यो० प्र०, द्वितीयोपदेशः

ब्रह्मयोग

सुन्दरदास ने 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' के 'अथ सांख्य योग नाम चतुर्थोपदेशः' प्रकरण के अन्तर्गत ब्रह्मयोग पर अपने विचार प्रकट किए हैं। कवि ने ग्यारह छन्दों (दस चौपाई तथा एक दोहा) में अत्यन्त संक्षेप रूप में योग के इस अङ्ग पर स्वविचार व्यक्त किए हैं। कवि ने 'ज्ञानयोग', 'ब्रह्मयोग' एवं 'अद्वैतयोग' पर अपने विचारों को 'सांख्ययोग' के अंतर्गत व्यक्त किया है। 'ब्रह्मयोग' का यह वर्णन प्रस्तुत प्रकरण (सांख्ययोग) में ज्ञानयोग एवं अद्वैतयोग के ठीक मध्य में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्ययोग की अंतिम भूमिका पर पहुँचने के हेतु 'ब्रह्मयोग' मध्य मार्ग अथवा बीच की भूमिका है। सर्व प्रथम मानव में आत्म अनात्म का विवेक होने के अनन्तर ही 'ज्ञानयोग' का उदय होता है। ज्ञान-योग की भूमिका दृढ़ हो जाने के अनंतर 'ब्रह्मयोग' की भूमिका प्राप्त होती है और इस भूमिका के भली-भाँति दृढ़ हो जाने के अनन्तर अद्वैतयोग प्राप्त होता है। इस अद्वैतयोग की भूमिका में ही तुरीयातीत की गति साधक को प्राप्त होती है।

कवि ने प्रथम दो चौपाइयों (२५, २६) में ब्रह्मयोग का परिचय और उसकी दुरूहता का ज्ञान कराया है। तदनन्तर दो चौपाइयों (२७, २८) में कवि ने ब्रह्मयोग की श्रेष्ठता वा महत्ता का वर्णन किया है। इसके अनन्तर २९ चौपाई से ३६ चौपाई तक कवि ने ब्रह्मयोग के मूल सिद्धांत 'अहंब्रह्मोऽस्मि' पर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

सुन्दरदास के शब्दों में साधक के हृदय में ब्रह्मयोग के उत्पन्न होते ही समस्त संशय विनष्ट हो जाते हैं और दुविधाओं के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता है। ब्रह्मयोग का विचार और साधना दुरूह है, विना अनुभव अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा इसका मार्ग प्रदर्शित किए इस पथ पर सफलता अत्यन्त कठिन है।[1] ब्रह्मयोग अत्यन्त दुर्लभ है जब तक अनुभव (परचा) नहीं प्राप्त होता है तब तक साधक इस मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता है। ब्रह्मयोग का वही साधक अधिकारी है जो निष्काम (कामना रहित हो) गया हो। इन्द्रियों में संलग्न अथवा इन्द्रियों का दास इस ब्रह्मयोग के दुरूह मार्ग पर चलने में अशक्त है।[2]

---

[1] ब्रह्मयोग अब कहिये ऐसा ।
उपजै संशय रहै न कैसा ।
ब्रह्मयोग का कठिन विचारा ।
अनुभव बिना न पावै पारा ॥

[2] ब्रह्मयोग अति दुर्लभ कहिये ।
परचा होय तबहिं तो लहिये ।

ब्रह्मयोग का वही साधक अधिकारी है जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है तथा जिसने समस्त प्रारम्भिक साधनाओं को कार्यान्वित कर लिया है। ब्रह्मयोग के बिना मुक्ति असम्भव है। ब्रह्मयोग के उत्पन्न होने पर समस्त भ्रम विनष्ट हो जाते हैं। जब साधक के हृदय में समस्त भ्रम एवं दुविधाएँ मिट जाती हैं तभी ब्रह्मयोग की उत्पत्ति होती है।[1]

साधक के हृदय में ब्रह्मयोग उत्पन्न होने पर अखिल ब्रह्मांड अपने ही हृदय में भासित वा प्रतिबिम्बित होता है और स्वतः आप संसार की समस्त वस्तुओं, जड़ एवं चैतन्य, में उपस्थित प्रतीत होता है। ब्रह्मयोग के उत्पन्न होने पर साधक अपने ही को जगत का कर्ता और विनाशक वा संहारक तथा संसार का भरण-पोषण करनेवाला मानने लगता है। ब्रह्म और साधक में किंचित-मात्र भी भेद नहीं रह जाता है और वह स्वतः अपने को ब्रह्म की प्रतिमूर्ति मानने लगता है। उसके हृदय में "अहम् ब्रह्मोऽस्मि" का भाव जाग्रत होते ही अपने को परब्रह्म निर्गुण, निरंजन, अविनाशी, अमर, सुखराशि, परमात्मा मानने लगता है। ब्रह्मयोग की साधना से साधक का दृष्टिकोण अत्यधिक विस्तृत एवं उदार हो जाता है। वह अपने आप और विश्व में कोई अन्तर नहीं पाता है। "अयं निजः" तथा "अयं परः" की भावना विनष्ट अथवा तिरोभूत हो जाती है।[2]वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप,

---

ब्रह्मयोग पावै निःकमी।
भ्रमत सु फिरै इन्द्रिया रामी॥
[1]ब्रह्मयोग सोई भल पावै।
पहिले सकल साधि करि आवै।
ब्रह्मयोग सब ऊपर सोई।
ब्रह्मयोग बिन मुक्ति न होई॥२७॥
ब्रह्मयोग जौ उपजै आई।
तौ दूजौ भ्रम जाइ विलाई।
होइ अव्यापक कछू न व्यापै।
ब्रह्मयोग तब उपजै आपै॥२८॥
[2]सब संसार आप में दीषै।
पूरण आपु जगत महिं पेषै।
आपुहि करता आपुहि हरता।
आपुहि दाता आपुहि भरता॥२९॥
आपु ब्रह्म कछु भेद न आनैं।
अहं ब्रह्म ऐसैं करि जानैं।

सत् चित् और आनन्द स्वरूप परब्रह्म से भी अपने अस्तित्व को पृथक् नहीं प्रतीत करता है। संसार की प्रत्येक वस्तुओं, अणु-अणु और परमाणु में वह अपना अस्तित्व देखता है। संसार की किसी भी वस्तु को न तो वह अपने से परे देखता है न अपने अस्तित्व को किसी वस्तु से परे देखता है। वह बंधन, सीमा, रूप, आकार से भी अपने को परे देखता है। ब्रह्म के जितने भी गुण और विशेषण हैं उन सब को अपने अस्तित्व में देखता और खोजता है। सुन्दरदास ने इसी भाव को बड़ी ही रोचक शैली और सरल भाषा में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

अहं सुख रूप अहं सुख राशी ।
अहं सु अजर अमर अनिवाशी ।
अहं अनन्त अहं अद्वीता ।
अहं सुअज अव्ययं अभीता ॥३२॥
अहं अभेद्य अछेद्य अलैषा ।
अहं अगाध सु अकल अदैषा ।
अहं सदोदित सदा प्रकाशा ।
साक्षी अहं सर्व महिं वासा ॥३३॥
अहं शुद्ध साक्षात् सुन्दारा ।
कर्ता अहं सकल संसारा ।
अहं सीव सूक्ष्क सब सृष्टा ।
अहं सर्वज्ञ अहं सब दृष्टा ॥३४॥
अहं जगन्नाथ अहं जगदीशा ।
अहं जगपति अहं जग ईशा ।
अहं गोविन्द अहं गोपालं ।
अहं ज्ञान धन अहं निरालं ॥३५॥
अहं परम आनन्दमय अहं ज्योति निज सोइ ।
ब्रह्मयोग ब्रह्महि भया दुविध्या रही न कोई ॥३६॥

अहं परात्पर अहं अखंडा ।
व्यापक अहं सकल ब्रह्मांडा ॥३०॥
अहं निरंजन अहं अपारा ।
अहं निरामय अरु निरकारा ।
अहं निलेप अहं निज रूपं ।
निर्गुण अहं अहं सु अनूपं ॥३१॥

इस पूरे ब्रह्मयोग प्रकरण में कवि ने दो बातों पर ज़ोर दिया है। प्रथम कि ब्रह्मयोग के उदय होने पर समस्त दुविधाएँ और भ्रम विनष्ट हो जाते हैं और द्वितीय ब्रह्मयोग के द्वारा समस्त भेद-भावना शिथिल होकर साधक स्वतः अपने को सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत करने लगता है।

अद्वैतयोग

सुन्दरदास ने 'सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका' के 'अथ सांख्ययोग नाम चतुर्थोपदेशः' प्रकरण के अन्तर्गत अद्वैतयोग का उपदेश दिया है। कवि ने अद्वैतयोग के इस विषय को १३ छन्दों (१२ चौपाई एवं १ दोहा) में व्यक्त किया है। सांख्ययोग के इस प्रकरण में कवि ने सर्वप्रथम 'ज्ञानयोग' फिर 'ब्रह्मयोग' और अन्त में 'अद्वैतवाद' पर अपने विचार प्रकट किए हैं। 'अद्वैतयोग' के इस प्रकरण को सुन्दरदास ने 'सांख्ययोग' प्रकरण में सबसे अन्त में रखा है। योग की जिस स्थिति की कवि ने प्रथम भूमिका ज्ञानयोग माना है उसका अन्त अद्वैतयोग में होता है। आत्म-अनात्म का विवेक उदय होने के पश्चात् ज्ञानयोग का उद्रेक होता है और यह ज्ञानयोग दृढ़ हो जाने के पश्चात् साधक ब्रह्मयोग की भूमिका में पदार्पण करता है। इस भूमिका की साधना में भली भाँति सफलता प्राप्त हो जाने के अनन्तर ही साधक अद्वैतयोग की भूमिका में अवतरित होता है। अद्वैतयोग भूमिका की अवस्था में ही तुरीयातीत गति साधक को प्राप्त होती है। इन तीनों भूमिकाओं का स्पष्टीकरण निम्नांकित रेखा-चित्र से स्पष्ट हो जाता है :
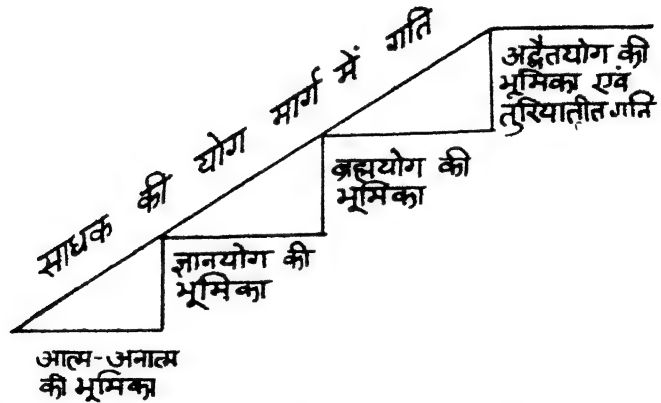
कवि ने आत्म-अनात्म के भेद का वर्णन करने के अनन्तर ज्ञान योग को "या आतमा विश्व नहिं न्यारा। ज्ञान योग का यहै विचारा।" लिख कर ब्रह्म को सकल ब्रह्मांडों का मूलकारण बताया है। ब्रह्मयोग का मुख्य विचार "अहं ब्रह्मोऽस्मि" को कवि ने "ब्रह्म-योग ब्रह्महि भया दुविध्या रही न कोई" शब्दों में व्यक्त किया है। तदनन्तर अद्वैतयोग का स्थान है जो ब्रह्म का उपरोक्त ज्ञान और 'असंप्रज्ञात समाधि' का ही दूसरा नाम है "न तहाँ जाग्रत स्वप्न न धरिया। न तहाँ सुषुप्ति न तहाँ तुरिया", "ज्ञे ज्ञाता नहि ज्ञान तहँ

ध्येय ध्याता नहि ध्यान। कहनहार सुन्दर नहीं यह अद्वैत बखानि।" तुरीया अवस्था में साधक को अद्वैत ज्ञान की अपरोक्षानुभूति होती है और 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' महावाक्य सिद्ध हो जाता है। तदनन्तर चतुर्थ अवस्था से भी निवृत्ति होकर स्वात्माराम पद की प्राप्ति हो जाती है। यही 'मोक्ष' का रूप है। यही वह स्थिति अथवा भूमिका है जब उस निर्विकल्प समाधि में ज्ञाता एवं ज्ञेय, ध्याता एवं ध्येय, आराधक और आराध्य, उपासक एवं उपास्य की भिन्न सत्ता विनष्ट हो जाती है और दोनों में एकात्मकता स्थापित हो जाती है। यही परम अद्वैत ज्ञान की सिद्धि है। इसी अवस्था का वर्णन कवि ने अपने 'ज्ञान समुद्र' में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है।

दोहा

तुरिया साधन ब्रह्म को, अहं ब्रह्म यौं होइ।
तुरियातीत हि अनुभवै, हूँ तूँ रहै न कोइ ॥७॥

इंदव

जाग्रत तौ नहि मेरे विषै कछु स्वप्न सु तौ नहिं मेरे विषै है।
नाहि सुषोपति मेरे विषै पुनि विश्वहु तैजस प्राज्ञ पषै है ॥
मेरे विषै तुरिया नहिं दीसत याहि ते मेरो स्वरूप अषै है।
दूर ते दूर परै ते परै अति सुन्दर कोउ न मोहि लषै है ॥

अन्तिम छन्द में 'स्वात्माराम' पद की अवस्था का ही वर्णन हुआ है :

ब्रह्म निराकार, निर्विकार, निरंकार, अभेद, अमध्य, अनाम तथा अनादि है। वह गुण और निर्गुण से परे है। वह माया से रहित है उस ब्रह्म में द्वैत की कल्पना माया के कारण या द्वारा होती है। अथवा एक ब्रह्म में अनेकता की प्रतीति का मुख्य कारण माया ही है। इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के प्रस्तुत मंत्र से भी होती है :

रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ॥
(ऋ० अष्ट० ४ अ० ७ व० ३३ मं० १८)

ब्रह्म सर्वव्यापक एवं चिद्रूप है। वह प्रत्येक शरीरस्थ बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीवभाव को प्राप्त करता है अर्थात् घट में स्थित जल में आकाश [illegible] की भाँति शरीर स्थित बुद्धि में चिदाभास का नाम जीव है और जीव कर्मवश त्रि[illegible] शरीरों में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार से भोगों का उपयोग करता है। गीता के सप्तम [illegible]ाय (श्लोक ८-११) में श्रीकृष्ण जी ने अपने को रस, पुण्य, गंधादि रूप बतलाया [illegible] और नवम् अध्याय (१६-१६ श्लोकों) में ऋतु, यज्ञ, अग्नि, होमादि के रूप में आत्म-दर्शन कराया है। दशम् अध्याय में आदित्य आदि समस्त उत्कृष्ट पदार्थों में अपने आनन्दघन स्वरूप का वर्णन

किया है। ये सभी दृष्टांत ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप के प्रतिष्ठापक हैं। गीता के १८वें अध्याय में भगवान ने कहा भी है कि हे अर्जुन परस्पर भिन्न सर्वभूतों में जिसके द्वारा अभिन्न निर्विकार ब्रह्मसत्ता के दर्शन हों, तू उसी अद्वैत दर्शन को सात्विक समझ :

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

इसी अद्वैत ब्रह्म का ध्यान, साधना और प्राप्ति अथवा दर्शन जिन साधनों से की जाय या की जा सके, वे ही विशिष्ट साधन अद्वैत योग हैं। अद्वैत योग का कोई शास्त्रोक्त अथवा सैद्धांतिक पक्ष नहीं उपलब्ध होता है। सुन्दरदास के अनुसार ज्ञे, ज्ञाता और और ज्ञान तथा ध्ये, ध्याता और ध्यान का भेद वा अन्तर समाप्त हो जाना ही अद्वैत भाव है।[1] साधक के मन से 'ममत्वं', 'परत्वं' प्रपंच के भाव का विनष्ट हो जाना ही 'अद्वैत' है। सृष्टि और सृजक, प्रकृति एव पुरुष, शून्य एवं अशून्य, सूक्ष्म एवं स्थूल, तत्व और अतत्व, वस्तु एवं विवस्तु, वर्ण एवं विवर्ण, रूप एवं अरूप, व्यापक एवं व्याप्य, रूप एवं रेखा, ज्योति एवं अज्योति, द्वैत एवं अद्वैत, आदि एवं अंत, प्रतिपालक एवं हन्ता, जन्म एवं मृत्यु, कर्म एवं करतार, स्वर्ग एवं नरक, धर्म एवं अधर्म, पाप एवं पुण्य, ज्ञानी एवं अज्ञानी, सगुण एवं निर्गुण आदि का एकत्व और अभेद ही अद्वैत का स्थापक है। द्वैत का भाव विनष्ट हो जाना है 'अद्वैत' का विकास होना। अद्वैतयोग के क्षेत्र में समस्त विरोध, एवं समता, असमानता एवं समानता, अन्तर एवं साम्य के भावों का समाप्त हो जाना ही अद्वैत योग है :[2]

न यस्य केनापि समं विरोधः
समन्वितान्यन्मतानि यस्मिन् ।
अद्वैतवेदान्तपथं प्रशस्तं
ज्ञान प्रधानं विवृणोमि किंचित् ॥

अद्वैत मानव ही नहीं वरन् समस्त संसार के जीवों एवं पदार्थों को एक सूत्र में पिरो देता है। उसका मूल सिद्धान्त मूल तत्व है 'एक जीववाद' 'एकात्मवाद' जो विश्व को शांति

[1] ज्ञे ज्ञाता नहि ज्ञान तहँ ध्ये ध्याता नहिं ध्यान ।
कहनहार सुन्दर नहीं यह अद्वैत बषानि ॥५०॥

[2] अब अद्वैत सुनहुँ जु प्रकासा ।
नाहं नां त्वं ना यहु भासा ॥
नहि प्रपंच तहाँ नहीं पसारा ।
न तहाँ सृष्टि न सिरजन हारा ॥३७॥

एवं कल्याणप्रद है। इस अद्वैतवाद की शिक्षा है जो समस्त जीवों का दर्शन स्वात्मा में करता है और समस्त जीवों में अपनी आत्मा का आभास पाता है, उसके अन्दर किसी के प्रति जुगुप्सा, निन्दा, द्वेष प्रभृति का भाव नहीं उदय होता है। जिस ज्ञानी अद्वैतात्मवादी मानव के लिए समस्त संसार आत्मस्वरूप हो जाता है उसको न किसी से भय है, न किसी से मोह, न किसी के लिए शोक। वह सर्वत्र आत्मतत्व का दर्शन करता है :

न तहाँ प्रकृति पुरुष नहिं इच्छा।
न तहाँ काल कर्म नहिं बंछा।
न तहाँ शून्य अशून्य न मूला।
न तहाँ सूक्ष्म नहीं सथूला ॥३८॥

न तहाँ तत्व अतत्व विभेदा।
न तहाँ वस्तु विवस्तु न वेदा।
न तहाँ वर्ण विवर्ण विताना।
न तहाँ रूप अरूप सथाना ॥३९॥

न तहाँ व्यापक व्याप्य विशेषा
न तहाँ रूप नहीं तहाँ रेषा।
न तहाँ जोति अजोति न कोई।
न तहाँ एक नहीं तहाँ दोई ॥४०॥

न तहाँ आदि न मध्य न अंता।
नहि प्रतिपाल नहीं तहाँ हंता।
न तहाँ शक्ति नहीं तहाँ शीवा।
न तहाँ जन्म नहीं तहाँ जीवा ॥४१॥

न तहाँ लेष न लेषन हारा।
न तहाँ कर्म नहीं करतारा।
न तहाँ स्वर्ग न नरक निवासा।
न तहाँ त्रासक न तहाँ त्रासा ॥४२॥

न तहाँ धर्म अधर्म न करता।
न तहाँ पाप न पुण्य न धरता।
न तहाँ पंडित मूरष कौना।
न तहाँ वाद विवाद न मौना ॥४३॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अद्वैतयोग में शुद्ध सच्चिदानन्द की स्थिति है। उसके अतिरिक्त न कोई कल्पना है न कोई द्वैत भाव। वह अद्वैत धर्मों के वाह्याडम्बरों से परे और पृथक है। सुन्दरदास के शब्दों में :

न तहाँ शास्तर वेद पुराना।
न तहाँ होम न यज्ञ विधाना।
न तहाँ संध्या सूत्र न शाषा।
न तहाँ देव मनुष्य न भाषा॥ ४४॥
न तहाँ भाव नहीं तहाँ भक्ती।
न तहाँ मोक्ष नहीं तहाँ मुक्ती।
न तहाँ जाप्य नहीं तहाँ जापी।
न तहाँ मंत्र नहीं लय थापी॥ ४६॥
न तहाँ साधक सिद्ध समाधी।
न तहाँ योग न युक्त्याराधी।
न तहाँ मुद्रा बंधन लागे।
न तहाँ कुंडलिनी नहीं जागे॥ ४७॥
न तहाँ चक्र न नाड़ि प्रचारा।
न तहाँ वेध न वेधन हारा।
न तहाँ लिंग अलिंग न नाशा।
न तहाँ मन बुधि चित्त प्रकाशा॥ ४८॥

ब्रह्म (अद्वैत) रज, तम, सत गुणातीत है। वह इन्द्रिय से रहित है। वह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति से परे है। वह तुरीया के परे है :

न तहाँ सत रज तम गुन तीना।
न तहाँ इन्द्रिय द्वार न कीना।
न तहाँ जाग्रत स्वप्न धरिया।
न तहाँ सुषुप्ति न तहाँ तुरिया॥ ४९॥

ब्रह्मयोग के अन्तर्गत साधक और अद्वैत ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता। 'अहँ ब्रह्मोऽस्मि' का मंत्र हृदयंगम कर लेता है। वह अपने से ब्रह्म को किसी भी भाँति

भिन्न नहीं पाता है। वस्तुतः 'अहम् ब्रह्मोऽस्मि' मूल मंत्र है। यही संसार रूपी भयंकर सर्प के विष का विनाशक है :

अहँ ब्रह्मोस्मि मंत्रोऽयं ज्ञानानन्द-प्रयन्छति।
सप्त कोटि महामंत्र जन्मकोटि शत प्रदम्॥
सर्वमंत्रान् समुत्सृज्य एतं मंत्रं समभ्यसेत।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नास्ति सन्देहमण्वपि॥

(तेजोविन्दूपनिषद् श्लोक ७३-७४)

समन्वय

कवि द्वारा उल्लिखित विभिन्न योगों का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में हुआ है। पाठकों को आश्चर्य हो सकता है कि इतने योगों का उल्लेख कवि ने क्यों किया है। इतने भिन्न-भिन्न योगों के उल्लेख का क्या यह अर्थ है कि कवि का साधना सम्बन्धी अपना कोई निश्चित मत नहीं है? वस्तुतः तथ्य यह है कि कवि विभिन्न योगों को एक ही ब्रह्म तक पहुँचने के पृथक-पृथक मार्ग मानता है। साधक स्वेच्छानुसार किसी भी मार्ग का आश्रय लेकर साधना-पथ पर अग्रसर हो सकता है। कवि के शब्दों में ही :

– हठयोग धरौ तन जात मिथा हरि नाम बिना मुख धूरि परै।
शठ सोग हरौ छुन गात किया चरि चांम दिना भुष पूरि जरै॥
मठ भोग परौ गन षात धिया अरि काम किना सुख भूरि मरै।
मठ रोग करौ घन घात हिया परि राम तिना दुख दूरि करै॥

(सु० ग्र० २।४०७)

अर्थात् हठयोग साधना से शरीर निरोग तथा मन नियंत्रिय होता है पर योग साधन पर्याप्त नहीं है। भगवान की भक्ति और भजन भी आवश्यक है।

इसी प्रकार सांख्य और योग में एकत्व और अभेद प्रदर्शित करते हुए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है :

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एक मप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ गीता ५।४

अर्थात् सांख्य तथा योग में भेद करना मूर्खों, अज्ञानियों का कार्य है। कारण कि दोनों में से एक में भी सम्यक प्रकार से स्थित मानव दोनों के फल रूप ब्रह्म को प्राप्त करता है।

इस प्रकार सुन्दरदास वर्णित विभिन्न योगों के लक्ष्य में अन्तर नहीं है। समस्त योग साधनाओं का केन्द्र परब्रह्म ही है।

• तृतीय अध्याय

सुन्दरदास के राम

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि सुन्दरदास के जन्मकाल में अकबर की धार्मिक नीति कितनी उदार थी[1] और उसके पश्चात् अन्य मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति किस प्रकार उत्तरोत्तर संकीर्ण होती गई। धार्मिक संकीर्णता का जो विकास जहाँगीर के समय में प्रारम्भ हुआ था उसका चरम उत्कर्ष औरंगजेब के राज्यकाल में परिलक्षित होता है। धार्मिक विरोध के कारण हिन्दुओं के सहस्रों मंदिर नष्ट कर दिए गए। इस वैषम्य के कारण हिन्दू धर्मावलम्बियों पर विभिन्न कर लगाए गए और उन पर अमानुषिक अत्याचार किए गए। संस्कृति और ज्ञान के विकास में सहायक पुस्तकालयों की होलियाँ जलीं। इस समस्त मत-वैषम्यों का कारण जाति-भेद नहीं था, वरन् दो संस्कृतियों का संघर्ष था। हिन्दू मूर्तिपूजक थे और मुसलमान मूर्तिभंजक। हिन्दू बहुदेवोपासक थे और मुसलमानों की दृष्टि में एक अल्लाह एवं उनके रसूल मुहम्मद के

---

[1]गोस्वामी श्री हरिराय जी के निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है कि अकबर के समय में न केवल हिन्दू और उनकी हिन्दू पटरानियों को धार्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त था वरन् मुसलमान बेगमें भी स्वेच्छा से किसी भी धर्म में श्रद्धा एवं आस्था रख सकती थीं। निम्नलिखित उद्धरण में बेगम बीबी ताज का श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ श्री गिरिराज की तरहटी में जाने का उल्लेख हुआ है—

"एक अलीखाँ पठान की बेटी बीबी ताज जाकी धमार है—'निरख न आवत ताज को प्रभू गावत होरी गोत' सो अकबर बादशाह की बेगम हती और श्री गुसांई जी की सेवा की हती......और एक दिन देशाधिपति ने श्री गिरिराज की तरहटी में डेरा किये तब वाकी बेगम ताज श्री जी के दर्शन कूं आई वाकू श्री नाथ जी साक्षात् दर्शन दिये और सैंन दिये तब वाकों अत्यन्त आरति बाढ़ी सो श्री नाथ जी सों मिलिबे को दौड़ी और ऐसे बोली मैं श्रीनाथ जी से मिलूंगी तब वृन्दावन जेवरी हते तिनकी बेटी ताज के संग खेलती सो राय वृन्दावन दास की बेटी थांम राखी और बाँह पकड़ि के नीचे लै आई तब तरहटी में आपके वाके लौकिक देह छूटि गये......"

'श्री गोवर्द्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता,' ले० श्री गोस्वामी हरिराय जी महाराज, पृ० ३६-३७

अतिरिक्त अन्य किसी भी शक्ति की उपासना करना 'कुफ्र' था। आचार, विचार एवं अनेक सैद्धांतिक कारणों से दोनों जातियों में द्वेष एवं वैमनस्य का विस्तृत एवं गंम्भीर सागर लहराता था, जिसको पाटने का भगीरथ प्रयत्न हिन्दी के सन्त कवियों ने किया और उन्हीं सन्तों में सुन्दरदास एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी थे।

एकेश्वरवादी मुसलमान एवं बहुदेवतावादी हिन्दुओं के मध्यस्थ विरोधी तत्वों एवं भावनाओं के उपशमन के हेतु सुन्दरदास ने भी एक ही ब्रह्म की मान्यता एवं प्रतिष्ठा का उपदेश दिया। मुसलमानों की असहिष्णुता ने सुन्दरदास की अद्वैत ब्रह्म की भावना का उपदेश सहन कर लिया और दूसरी ओर हिन्दूओं के लिए भी एकेश्वरवाद कोई नवीन सिद्धांत नहीं था। उन्हें ज्ञात था कि वेदांत में जिस ब्रह्म का चित्रण हुआ है वह स्वतः पूर्ण सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप होते हुए भी अद्वैत है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्म की यह धारणा दोनों जातियों में से किसी को भी असहनीय न प्रतीत हुई। सुन्दरदास से पूर्व कबीर, रैदास, दादू, नानक एवं मलूकदास ने इस राग को अलाप कर दोनों जातियों में एकता एवं सद्भावना के भाव उत्पन्न किये थे। इन सभी सन्तों ने एक स्वर से कहा कि 'ब्रह्म' एक है। हिन्दू और मुसलमान दोनों उसी अद्वैत शक्ति की कृति हैं दोनों में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर दृष्टिगत होता है, वह निःसार और भ्रममूलक है। ब्रह्म में भेद-भाव की प्रवृत्ति नहीं है। वह सार्वभौमिक है। अतः उसे मंदिर और मस्जिद की सीमाओं में सीमित कर देना असंगत है।[1] इन उदार सन्तों ने जनता की ब्रह्म विषयक अनुदार भावनाओं को समूल समाप्त करने के लिए वेदांत एवं कुरान के ब्रह्म की ओर संकेत किया। दोनों ग्रन्थों में उस ब्रह्म की कल्पना की गई है जो अनादि, अनन्त, अमध्य, अनाम, निर्विकार, निराकार, निरंजन, अलेख, अनन्त, सत् चित् एवं आनन्द है, फिर दोनों में भेद एवं विवाद के लिए स्थान कहाँ है? कबीरदास ने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में कहा—"ब्रह्म विषयक भेद-भाव को समाप्त करके एक ब्रह्म का ध्यान करो।" वस्तुतः जब दोनों ही उसी शक्ति की कृति हैं तो कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान?[2] इसी प्रकार सुन्दरदास ने ब्रह्म विषयक ऐक्य प्रदर्शित करके सैद्धांतिक दृष्टि से एक दूसरे के भेद-भाव एवं वैमनस्य को समूल नष्ट करने के लिए प्रयत्न किया। सुन्दरदास ने बारम्बार तत्कालीन जनता को ध्यान दिलाया कि ब्रह्म का द्वैत भाव मानव सर्जित है। जाति, धर्म एवं वर्ग की भावनाएँ उस ब्रह्म में शून्य हैं। उस सर्वव्यापी की अनन्त सत्ता की प्रतिद्वन्द्वी शक्ति ब्रह्मांड

---

[1] तुरुक मसीह देहुरै हिन्दू दुहुठाँ राम खुदाई।
जहाँ मसीहि देहुरा नाहीं तहँ काकी ठकुराई॥
क० ग० पृ० १०६।५८

[2] हिन्दू तुरुक का कर्ता एकै ताकी गति लखी न जाई। क० ग्र० पृ० १०६।५८

में एक भी नहीं है। फिर भेद-भाव का आधार असत्य है, माया है। वेदांतों एवं उपनिषदों के चरम सत्य एवं प्रस्तुत अद्वैत भाव की अभिव्यंजना सुन्दरदास ने अत्यन्त सरल शब्दों तथा स्पष्ट शैली में की है—

(१) ईश्वर एक और नहि कोई।
ईश शीश पर राषहु सोई॥
(सु० ग्र० भाग १, पृ० २१६)
(२) तामें जाति वर्ण है नांही।
द्वैत भाव फिर कहाँ समांही॥
(३) प्रीतम मेरा एक है सुन्दर और न कोई।
(स० वा० सं० १, ११०-४)

सुन्दरदास का ब्रह्म (राम) अद्वैत है। वही एक ब्रह्म संसार का अधिपति है। उसी के द्वारा संसार की प्रत्येक वस्तु संचालित होती है। *संसार के जड़ अथवा अनात्म पदार्थों से शून्य है। चेतना* ही कारण है एवं चेतन ही कार्य है। यथा सागर में अनेक उर्मियों को देखकर अज्ञानी मानव उन्हें सागर से भिन्न प्रतीत करता है, एक ही शरीर के अनेक अंग शरीर से पृथक देखता है, शिला पर अंकित चित्र शिला से भिन्न प्रतीत होता है तथैव ब्रह्म अद्वैत होता हुआ माया के आवरण से आवृत अज्ञानी मानव अपनी बुद्धि से उसको विभिन्न रूपों में ग्रहण करता है जो सत्य के विरुद्ध है।[1] वन में अनेक प्रकार के द्रुम होते हुए भी उनमें भेद नहीं, वापी कूप, तड़ाग एवं नदी के जल भिन्न-भिन्न हैं पर फिर भी वे जल ही हैं, पावक विविध रूपों में प्रज्वलित होते हुए भी भेदरहित है, इसी प्रकार विश्व की अखिल वस्तुओं में उद्भासित होते हुए ब्रह्म में अन्तर नहीं वह निश्चय ही अद्वैत है।[2] ब्रह्म निरीह, निरामय, निर्गुण, नित्य, निरंजन, अद्वैत और

[1]एक शरीर मैं अंग भये बहु एक धरा पर धाम अनेका।
एक शिला महिं कारि किये सबचित्र बनाइ धरे ठिक ठेका॥
एक समुद्र तरंग अनेकनि कैसे के कीजिये भिन्न विवेका।
द्वैत कछू नहिं देषिये सुन्दर ब्रह्म अखंडित एक कौ एका॥
(सु० ग्र० २, ६४६।५)

[2]ज्यौं बन एक अनेक भये द्रुम नाम-अनंतनि जाति हु न्यारी।
बापि तड़ागरु कूप नदी सब है जल एक सौ देषौ निहारी॥
पावक एक प्रकाश बहू विधि दीप चिराक मसाल हु वारी।
सुन्दर ब्रह्म विलास अखंडित भेद की बुद्धि सु टारी॥
(सु० ग्र० २, ६४६।४)

अखंडित है ।[1] इसी निर्गुण अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कबीर ने कहा कि—

दुइ जगदीस कहाँ ते आये कहु कौन भरमाया ।
अल्ला राम करीमा केसौ हरि हजरत नाम धराया ।।
गहना एक कनक ते गहना ता में भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुई करि थापे एक नमाज एक पूजा ।।

सुन्दरदास की अद्वैत ब्रह्म विषयक धारणा का धरनीदास[2], चरनदास[3], नानक[4] आदि सन्तों से साम्य है । ऋग्वेद की निम्नलिखित पंक्तियों में भी ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है—

ॐ । इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

अर्थात् वह ब्रह्म अद्वैत है पर बुद्धिमान उसे विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं । वह सर्वत्र रमता है । वह सब लोकों का रक्षक है । वह शक्तिशाली है ।

सन्तों का उपास्य अद्वैत होते हुए भी नित्य, निराकार, निरंजन और निरंकार है । उस पर ब्रह्म की सत्ता सगुण एवं निर्गुण से उच्च एवं महान् है । सुन्दरदास का ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण की सीमा से परे है । कवि ने गुणधारी ब्रह्म को माया का प्रतीक माना है । जो ब्रह्म कभी गुण धारण करता है और कभी निर्गुणत्व को, वह माया से आच्छादित है । कवि का ब्रह्म रूप आकार, नाम सीमादि से रहित है । सुन्दरदास के काव्य में ब्रह्म विषयक यह धारणा बड़े ही स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है । उनका ब्रह्म ज्ञानमय है । ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ शक्ति है अतः उसके लिए अवतार एवं गुण ग्रहण करना अत्यन्त हीन बात है । जन्म ग्रहण करना और विनष्ट होना उसका कार्य नहीं है । जिस ब्रह्म की इच्छा के विरुद्ध संसार का एक तृण भी नहीं गतिमान होता है उस ब्रह्म को अत्याचारी के विनाश एवं धर्मसंस्थापन के हेतु अवतार धारण करने की आवश्यकता ही क्या है ? वह भाँति-भाँति की लीला नहीं करता । जो ब्रह्म गुणों आदि को धारण करता है वह कवि के शब्द में माया से प्रभावित है—

---

[1] ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै ।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध वाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै ।।
(सु० ग्र० २, ६५१।२०)

[2] एक पिया मोरे मन मान्यौ । धरनीदास की वानी पृ० १

[3] पति की ओर निहारिये औरन सूं क्या काम ।
सबै देवता छोड़िके जपिये हरि का नाम ।। चरनदास की वानी पृ० ४७

[4] ॐ सति नामु करता पुरुख्य निरभै निरवैर मूरति अजूनि संभै गुरु प्रसादि

जो उपजै विनसै गुन धारत सो यह जानहुँ अंजन माया ।
आवै जाइ मरै नहि जीवत अच्युत एक निरंजन राया ॥
ज्यौं तरु तत्व रहै रस एकहि आवत जात फिरै यह छाया ।
सो परब्रह्म सदा सिर ऊपर सुन्दर ता प्रभु सौं मन लाया ॥

तथा, जौ उपज्यौ कछु आइ जहाँ लग सो सब नास निरंतर होई ।
रूप धर्‍यौ सु रहै नहि निश्चल तीनिहु लोक गनै कहा कोई ॥
राजस तामस सात्विक जो गुन देषत काल ग्रसै पुनि वोई ।
आपुहि एक रहै जु निरंतर सुन्दर के मन भावत सोई ।

(सु० ग्र० भाग २, पृ० ४७४)

कबीर ने भी अवतारी ब्रह्म को माया माना है :

सन्तो आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुँ गया न आया ।
वे कर्ता न बराह कहावै धरणि धरै नहि भारा ।
ई सब काम साहेब के नाही झूठ कहे संसार ॥
सिरजनहार न व्याही सीता जल पखान नहि बंधा ।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ॥
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा ।
कहै कबीर सुनो हो संतों उपजै खपै सो दूजा ॥

गुलाब साहब ने भी ब्रह्म को अवतारवाद, जन्म-मरण आदि से रहित माना है।[1] ब्रह्म के जिस गुणातीत एवं अवताररहित स्वरूप का चित्रण सुन्दरदास, कबीरदास, तथा गुलाब साहब ने किया है वही आगे सहजोबाई[2] गरीबदास[3], धनीधर्मदास आदि संत कवियों द्वारा भी प्रतिपादित हुआ है ।

---

[1]ना वह उपजै ना वह बिनसै ना भरमै चौरासी ।
है सतगुरु सतपुरुष अकेला अजर अमर अनिवासी ॥
ना वाके बाप नहीं वाके माता वाके मोह न माया ।
ना वाके जोग भोग वाके नाही ना कहूँ न आया ॥
गुलाब साहब की वानी ३।५

[2]मात पिता वाके नहीं नहीं कुटुम्ब को साज ।
सहजो वाहि न रंकता न काहू को राज ॥ स० वा० स० १, १६४।६
जाके किरिया करम ना षट दर्सन को भेस ।
गुन औगुन ना सहजिया ऐसो पुरुष अलेस ॥ (स० वा० स० १, १६४।६)

वह गुणातीत निराकार संसार में सर्वत्र विद्यमान है। विश्व की प्रत्येक वस्तु में वह रमा हुआ है और समस्त विश्व उस दिव्य ज्योति में समाहित है। जगत और जगदीश्वर में भेद नहीं है। दोनों नितांत एक हैं। मृत्तिका विनिर्मित पात्र मृत्तिका से भिन्न प्रतीत होते हैं पर ज्ञानी के हेतु दोनों भेद-रहित हैं। उसी प्रकार जल एवं तरंग, ईख और तज्जनित माधुर्य, दुग्ध एवं घृत में तत्ववेत्ता भेद नहीं मानते हैं। यह ब्रह्म संसार की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है और संसार ब्रह्म में भासित है। सुन्दरदास ने 'अद्वैत ज्ञान को अंग'[1] प्रकरण में अपने विचारों को इसी विषय पर केन्द्रित किया है। यहाँ कवि की कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत करने से विषय में स्पष्टता हो सकेगी :

१ तोही मैं जगत यह तूं ही है जगत मांहि
तौ मैं अरु जगत मैं भिन्नता कहाँ रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक भाँति नाम रूप
भाजन विचारि देषैं उहै एक है मही॥
जल ते तरंग भई फेन बुद्बुदा अनेक
सोऊ तौ विचारें एक वहै जल है सही॥
महापुरुष जेत हैं सब कौ सिद्धांत एक।
सुन्दर खल्विदं ब्रह्म अन्त वेद है कही॥

२ जैसे इक्षु रस की मिठाई भाँति भाँति भई।
फेरि करि गारै ईक्षुरस हि लहत है॥
जैसे घृत थीज़ि कै डार सौ बाँधि जात पुनि।
फेरि पिघरे ते वह घृत ई रहत है॥
जैसे पानी जमि के पषान हू सौ देषियत।
सो पषान फेरि करि पानी ह्वै बहत है॥
तैसे हि सुन्दर यह जगत है ब्रह्ममय।
ब्रह्म सौ जगतमय वेद यौं कहत है॥

---

[3]रूप नाम गुन सू रहित पाँच तत्त सूं दूर॥ स० बा० स० १, १६४।१०
अल्लह अविगत राम है निरबानी निरबन्द (गरीबदास की वानी पृ० २०)

[4]मैं निरगुनिया गुन नहिं जाना।
एक धनी के हाथ विकाना॥ (धर्मदास की वानी पृ० १६)
करता केवल आपहि आप।
करता के कोउ माय न बाप॥ (धर्मदास की वानी, पृ० ६६)

[1]सु० ग्र० भा२, ६४५-६५३

सगुण से तात्पर्य है—रज, तम एवं सत से पूर्ण वा युक्त। इसके विपरीत निर्गुण का अर्थ है उपर्युक्त तीनों गुणों से रहित। परन्तु जन साधारण में निर्गुण एवं सगुण शब्द क्रमशः निराकार एवं साकार के रूप में ग्रहीत होता है। तुलसीदास के अनुसार हृदय के विश्वास के लिए निर्गुण ब्रह्म, नेत्रों के हेतु दर्शनार्थ सगुण रूप एवं जिह्वा के हेतु राम नाम रत्न ग्रहणीय है :

हिय निर्गुण नयनहि सगुण रसना नाम सुनाम।
मनौ पुरट सम्पुट लसे तुलसी ललित ललाम॥

इसी प्रकार कबीर के मत्यानुसार सेवा के लिए सगुण अच्छा है तथा ज्ञान के लिए निर्गुण ब्रह्म। परन्तु यथार्थ में ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण से परे है। ब्रह्म निर्गुण और सगुण आदि सीमाओं में नहीं बँधा हुआ है :

सरगुण की सेवा करो निर्गुण का करु ज्ञान।
निर्गुण सर्गुण के परे तहाँ हमारा ध्यान॥

कबीर की भाँति सुन्दरदास भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण की सीमित परिभाषा से ऊपर मानते हैं। कवि के शब्दों में :

(क) कोई वार कहै कोई पार कहै उसका कहूँ वार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै उसके कहूँ मूल न डार है रे॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै वह सून्य हूँ थूल निराल है रे।
कोई एक कहै कोई दोइ कहै नहि सुन्दर द्वन्द्व लगार है रे॥
(सु० ग्र० १।२६८)

(ख) एक कि दोइ न एक न दोइ उहीं कि इहीं न उहीं न इहीं है।
शून्य कि थूल न शून्य न थूल जहीं कि तहीं न जहीं न तहीं है॥
मूल कि डाल न मूल न डाल वहीं कि महीं न वही न मही है।
जीव कि ब्रह्म न जीव न ब्रह्म तौ है किनही कछु है न नहीं है॥
(सु० ग्र० २।६१६)

प्रथम उद्धरण की तृतीय पंक्ति और द्वितीय उद्धरण की द्वितीय पंक्ति विशेष रूप से विचारणीय है। इन दोनों उद्धरणों में कवि ने ब्रह्म को स्थूल एवं शून्य की सीमा से परे माना है। वह ब्रह्म "अस्ति" एवं "नास्ति" की सीमा से भी ऊपर है। कवि की इन पंक्तियों का कबीर के "निरगुण सरगुण के परे तहाँ हमारा ध्यान" का पूर्ण साम्य है।

परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। विश्व की प्रत्येक वस्तु उसकी महत्ता से पूर्ण है उसका सर्वव्यापी व्यक्तित्व निर्विवाद है। अथर्ववेद के अनुसार वह ब्रह्म प्रत्येक मानव और स्थान में रम रहा है :

यस्तिष्ठति चरित यश्च वचंतियो निलायं चरति यः प्रतंकम् ।
द्वौ सन्निवद्य मन्मंत्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

यजुर्वेद में भी उसका सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित हुआ है :

वनेस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत् यत्र विश्वं भवत्येकनीऽम् ।
तस्मिन्निदं संच-विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु ॥

बेदों एवं उपनिषदों द्वारा प्रचारित ब्रह्म का यही स्वरूप संतों के काव्य में अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट शैली में व्यक्त हुआ है। कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत कथन का समर्थन करती हैं :

१. खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई ।
२. जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार ॥ स० वा० स० १।३३

इसी प्रकार अन्य संतों में भी प्रस्तुत भावना मुखरित हुई है। इन सन्तों में भीखा[1] दादू[2], मलूकदास[3] तथा सुन्दरदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सुन्दरदास का परब्रह्म राम भी सर्वत्र व्याप्त है। उसके अस्तित्व से शून्य कोई तत्व नहीं है। कवि के शब्दों में हीः

व्यापिन व्यापिक व्यापि हु व्यापक आतम एक अखंडित जांनौ ।
ज्यौं पृथवी नहिं व्यापिन व्यापक भाजन व्यापि हु व्यापक मांनौ ॥
कंचन व्यापि न व्यापक दीसत भूषन व्यापि हु व्यापक ठांनौ ।
सुन्दर कारण व्यापि न व्यापक कारण व्यापि हु व्यापक आनौ ॥
(सु० ग्र० २।६५२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस दृष्टिकोण से भी सुन्दरदास की ब्रह्म विषयक धारणा अन्य संतों से साम्य रखती है।

---

[1] व्यापक ब्रह्म चहूँ जुगपूरन है सब में सब तामे ॥
(भीखा साहब की बानी पृ० २)

[2] तनमन नाही मैं नही नहि माया नहि जीव ।
दादू एकै देखिये दस दिस मेरा पीव ॥
नाहीं रे हम नाही रे सत्ति राम सब माहीं रे ।
घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर ॥
दादू निरंतरन पिउ पाइया तीनि लोक भर पूरि ।
सब में जो साँई बसै लोग बतावै दूरि ॥

[3] खलक-खलक माँ रमि रहा प्रीतम निर्गुन राम ।
(शब्द संग्रह)

सुंदरदास का ब्रह्म सर्वव्यापक एवं निर्गुण होते हुए भी सर्वशक्ति-सम्पन्न तथा सर्व-सामर्थ्यवान है। वह पर्वत को राई एवं राई को पर्वत बना देता है,[1] वह रंक से राजा और राजा से रंक बना देता है,[2] वह गर्भ में भी बालक का पोषण करता है,[3] ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश उसके आज्ञाकारी हैं[4] रिद्धि सिद्ध आदि उसकी चेरी हैं[5]। आकाश, विद्युत, मेघ, सूर्य एवं चन्द्रादि का सर्जन उसकी शक्ति के प्रतीक हैं।[6] इसी प्रकार समस्त असम्भवित कार्यों को सम्भव और कार्यान्वित करने के हेतु उसके संकेत पर्याप्त हैं। वह ब्रह्मांड की सर्वश्रेष्ठ महानतम् शक्ति है। उसकी समता और उपमा के योग्य और कोई शक्ति नहीं है। वह स्वतः पूर्ण और सर्व सामर्थ्य-युक्त है।

कवि का गुणातीत ब्रह्म सर्व व्यापक होते हुए भी निःकलंक एवं निर्लिप्त है। जिसमें गुणों का स्पर्श भी असम्भव है वह कलंक की कालिमा से न तो आक्रांत हो सकता है और न माया के मोहपाश में बँध ही सकता है। 'शून्य' होते हुए भी वह माया मोहादि से शून्य है। संसार में व्याप्त होते हुए भी वह निर्लिप्त है। सर्वत्र रमता हुआ भी वह किसी में नितांत प्रवृत्त नहीं है। कवि ने निम्नलिखित छन्दों में ब्रह्म की इसी विशिष्टता को व्यक्त किया है—

जैसे जल जनु जल ही मैं उतपन्न होहिं
जल ही मैं विचरत जल के आधार है।
जल ही मैं क्रीड़त विविधि विवहार होत
काम क्रोध लोभ मोह जल मैं संहार है॥
जल कौ न लागे कछु जीवन कै राग दोष
उनही के क्रिया कर्म उन ही की लार है।

---

[1]सुंदर समरथ राम कौ करत न लागै वार।
पर्वत सौ राई करै राई करै पहार॥ स० ग्र० २।७६२

[2]सुंदर सिरजनहार कौं करतै कैसी शंक।
रंकहि लै राजा करै राजा कौ लै रंक॥ स० ग्र० २।७६२

[3]सुंदर सिरजनहार की सबही अद्भुत बात।
गर्भ माँहि पोषत रहे जहाँ गम्य नहि मात॥ स० ग्र० ६।७६२

[4]जाकी आज्ञा में रहे ब्रह्मा विष्णु महेस।
सुंदर अवनि अनादि की धारि रहे सिर सेस॥ स० ग्र० २।७६४

[5]रिद्धि सिद्धि लौंडी सदा आज्ञा मेहै नाहि।
सुंदर मानै भास अति प्रभु भेजै तन जाहि॥ स० ग्र० २।७६४

[6]सु० ग्र० २।७६३

तैसें ही सुंदर यह ब्रह्म मैं जगत सब
ब्रह्म कौं न लागै कछु जगत विकार है ।।
(सु० ग्र० २।६१४)

(ख) स्वेदज जरा युज अंडज उद्भिज पुनि
चारि षांनि तिन के चौरासी लक्ष जंत है।
जलचर थलचर व्योमचर भिन्न भिन्न
देह पंच भूतन की उपजि षपंत है।
शीत घाम पवनं गगन में चलत आइ
गगन अलिप्त जामैं मेघ हूं अनन्त है।
तैसे ही सुंदर यह सृष्टि एक ब्रह्म माहिं
ब्रह्म कि:कलंक सदा जानत महंत है ।।
(सु० ग्र० २।६१५)

उपर्युक्त उद्धरणों की अंतिम पंक्तियाँ विशेष विचारणीय हैं। इन पंक्तियों में ब्रह्म निर्लिप्तता एवं निर्विकारता का उल्लेख हुआ है। प्रथम उद्धरण में कवि ने उपमा के द्वारा भाव को अधिक स्पष्टता प्रदान करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार कवि ने 'ब्रह्म निःकलंक को अंग' प्रकरण में दर्पण[1] एवं सूर्य[2] के दृष्टांत देकर विषय को

---

[1]एक कोऊ दाता गाइ ब्रह्मण को देत दान
एक कोऊ दयाहीन मारत निशंक है।
एक कोऊ तपस्वी माहिं सावधान
एक कोऊ कामी क्रीड़ै कामिनी कै अंक है ।।
एक कोऊ रूपवंत अधिक विरजमान
एक कोऊ कोढी कोढ चूवत करंक है।
आरसी मैं प्रतिविम्ब सब ही कौ देषियत
सुन्दर कहत ऐसे ब्रह्म निःकलंक है ।। (सु० ग्र० २।६१३)

[2]रवि कै प्रकाश तै प्रकाश होत नेत्रनि कौ
सब कोऊ सुभासुभ कर्म कौ करत है।
कोऊ यज्ञ दान जप तप जम नेम व्रत
कोऊ इन्द्री बसि करि ध्यान कौ परत है ।।
कोऊ परदारा परधन को तकत जाइ।
कोऊ हिंसा करिकैं उदर कौं भरत है।

अधिक स्पष्ट एवं रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार वह ब्रह्म, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार, शब्द, श्रोत, त्वचा, स्पर्श आदि से भी रहित है।[3]

सुन्दरदास का ब्रह्म निराकार होते हुए भी नित्यस्वरूप है। वह अचल है, अभेद्य है, न कर्ता है न कारण, न आभास है न प्रतिभास। वह अव्यक्त और अगम है। वह आदि, अंत एवं मध्य रहित है। वह बुद्धिगोचर नहीं है। वह वर्णनातीत है। प्रस्तुत भाव कवि की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

निराकार है नित्य स्वरूपं।
अचल अभेद्य छाहं नहिं धूपं॥
अव्यक्त पुरुष अगम अपारा।
कैसे कै करिये निर्द्धारा॥
आदि अंत कछु जाइ न जानी।
मध्य चरित्र सु अकथ कहानी॥
(सु० ग्र० १-६६ १००)

सहजोबाई की निम्नलिखित साखी में यही भाव व्यक्त हुआ है। भाव-साम्य की दृष्टि से प्रस्तुत साखी पठनीय है—

सुन्दर कहत ब्रह्म साक्षी रूप एकरस
वाही मैं उपजि करि वाही मैं मरत है॥ (सु० ग्र० २।६१४)

[3](क) इन्द्री नहि जांनि सकै अल्प ज्ञान इन्द्रीन कौ
प्रान हूँ न जानि सकै स्वासा आवै जाइहै।
मन हूँ न जानि सकै संकल्प विकल्प करै
बुद्धिहूँ न जानि सकै सुन्यौ न बताइहै॥
चित्त अहंकार पुनि एऊ नहिं जानि सकै
शब्द हूँ न जानि सकै अनुमान पाइहै।
सुन्दर कहत ताहि कोऊ नहिं जानि सकै
दीवा करि देखिये सु ऐसी नहिं लाइहै॥ (सु० ग्र० २।६१८)

(ख) श्रोत्र न जानत चक्षु न जानत जानत नांहि जु सूंघत घ्रानै।
ताहि सपर्श तुचा न सकै पुनि जानत नांहि न जीभ बषानै॥
नां मन जानत बुद्धि न जानत चित अहंकहि क्यौं पहिचानै।
शब्द हु सुन्दर जानि सकै नहिं आतम आपु कौ आपुहि जानै॥
(सु० ग्र० २।६१८)

आदि अंत ताके नहीं मध्य नहीं तेहि माहि।
वार पार नहि सहजिया लघू दीर्घ भी नाहि ॥
(स० बा० स० १-१६४)

सुन्दरदास का ब्रह्म रूप वर्णरहित है, वह न शेष, है न अशेष है, उसकी न छाया दृष्टिगत होती है न वह माया के बन्धन में निबद्ध होता है, जागरण, स्वप्न, वृद्धत्व, रमणीयता, असौंदर्य से उसका लेशमात्र लगाव नहीं है। वह बन्धन, मुक्ति, मौनत्व, वाणी, प्रसन्नता, रुष्टता आदि मनोविकारों से परे हैं। कवि के इस ब्रह्म का आभास निम्नलिखित पंक्तियों से उपलब्ध हो जाता है—

अडोलं अतोलं अमोलं अमानं। अदेहं अछेहं अनेहं निधानं ॥
अजापं अथापं अपापं अतापं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अमापं ॥
नशेषं अशेषं न रेषं न रूपं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अनूपं ॥
न छाया न माया न देशो न कालो। न जाग्रन्न स्वप्नं न वृद्धो न वालो ॥
न ह्रस्वं न दीर्घं न रम्यं अरम्यं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अगम्यं ॥
न वद्धं न मुक्तं न मौनं न वक्तं। न धूम्रं न तेजो न यामीन वक्तं ॥
न युक्तं अयुक्तं न रक्तं विरक्तं। नमस्ते नमस्ते नमस्ते अशक्तं ॥
न रुष्टं न तुष्टं न इष्टं अनिष्टं। न ज्येष्ठं कनिष्टं न मिष्टं अमिष्ठं ॥
न वक्त्रं न घ्राणं न कर्णं न अक्षं। न हस्तं न पादं न सीसं न लक्षं ॥
(सु० ग्र० २।२७६-२८०)

सुन्दरदास ने जिस ब्रह्म का उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख किया है वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। तथ्य तो यह है कि उसका चित्रण अथवा वर्णन असम्भव है और उसका अनुभव करना और भी कठिन है। परन्तु कवि का विचार है कि उस ब्रह्म का अनुभव नित्य प्रति सत्य नियमों एवं हठयोग की साधना से सम्भव है। सुन्दरदास का ब्रह्म अनुभव-गम्य है, इंद्रियगम्य नहीं। उसके दिव्य स्वरूप के दर्शन प्राप्त करने के हेतु सुप्त कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत करके अष्ट कमलों एवं षट चक्रों द्वारा सहस्रदल कमल पर ब्रह्म का साक्षात्कार अत्यंत आवश्यक है। इन हठयोग क्रियाओं के साथ ही सहज अनुभव आवश्यक है। इसके अतिरिक्त हठयोग की दुरूह साधना को अशिक्षित जनता के लिए भी सुलभ बनाने के हेतु कवि ने बारम्बार 'सहज' साधना पर जोर दिया है। सहज समाधि का कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में उल्लेख किया है :

सहजै नाम निरंजन लीजै।
और उपाय कछू नहि कीजै ॥

सहजै ब्रह्म अगनि पर जारी।
सहज समाधि उनमनी तारी।
सहजै सहज राम धुनि होई।
सहजहि मांहि समावै सोई॥
(स० ग्र० १-३०४)

कवि का ब्रह्म निराकार एवं निरंजन है परन्तु फिर भी कहीं उसके ब्रह्म की शक्ति, उसके तेज और उसके देश का वर्णन किया है। कवि का यह वर्णन अलौकिक एवं कल्पना प्रधान है। इस अलौकिक वर्णन में कवि ने यत्र तत्र अपनी विरहानुभूति का भी वर्णन किया है।[1]

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ में 'विरहानुभूति' शीर्षक

नाम

नामै निःचल निरमल, अनंत लोक में गाज।
निरगुन सरगुन क्या कहै, प्रगटा संतों काज ॥
गरीबदास

सन्त साहित्य में 'नाम' का बड़ा गुणगान हुआ है। सन्त साहित्य देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सन्तगुरु बन्दना की भाँति 'नाम' गुणगान की भी अपनी एक परम्परा चिर-काल से चली आई है। निर्गुण धारा के सबसे उज्ज्वल रत्न कबीर से लेकर छोटे से छोटे सन्त ने 'नाम' के प्रति अपने विचार और श्रद्धा प्रकट की है। कबीर[1], दरिया देव[2], दूलनदास[3], सहजोबाई[4], गरीबदास[5], पलटू साहब[6], सुन्दरदास आदि ने भाँति-भाँति से अपनी नाम-प्रियता का परिचय दिया है। इस प्रवृत्ति का परिचय हमें सगुणवादी कवियों में भी उपलब्ध होता है। सगुणवादी साधकों के लिए तो नाम और रूप दोनों महत्त्व के हैं। सगुण धारा के सबसे बड़े माँझी महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'मानस' में 'नाम' की बड़ी प्रशंसा और माहात्म्य का उल्लेख किया है।[7] गोस्वामी जी के अनुसार 'नाम' ही संसार की समस्त कामनाओं और मुक्ति को प्रदान करनेवाला है।[8] 'नाम' निर्गुण और सगुण ब्रह्म से भी बड़ा है।[9] राम ने केवल एक तापस तिय अहिल्या का उद्धार किया परन्तु 'नाम' ने

---

[1]सन्तबानी संग्रह भाग १, पृ० ४६
[2] " " " पृ० १२१-१२२
[3] " " " पृ० १३४-१३६
[4] " " " पृ० १५५-१५६
[5] " " " पृ० १८४-१८६
" " " पृ० २१४
[7]रामचरित मानस गुटका, गीताप्रेस दशम संस्करण, पृ० १५-१६
[8] " " " " " " पृ० १७-१६
[9]अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूते। मानस पृ० १७

"कोटि खल कुमति सुधारी ।" 'नाम' ही के प्रसाद तथा प्रताप से अमांगलिक वस्तुओं से युक्त शंकरजी मांगलिक तथा अविनासी बन गए। सुक, सनकादि, नारद, प्रह्लाद, ध्रुव, पवनसुत, अजामिल आदि 'नाम' के प्रताप से ही स्मरणीय वन गये हैं ।[१] नाम की प्रशंसा और महत्ता का गुणगान करते-करते जब गोस्वामी जी थक जाते हैं तो यहाँ तक कह देते हैं "कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ।[२]" सुन्दरदास ने नाम जप को समस्त कर्मकांड तथा धर्मों में श्रेष्ठ माना है :

नाम बराबर तोलिया तुलै न कोऊ धर्म ।

भक्त चरनदास ने भी गोस्वामी जी तथा सुन्दरदास जी की भाँति नाम को समस्त धर्मों से श्रेष्ठ माना है[३] और इसीलिए सहजोबाई ने हर प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए भी 'नाम' जप का उपदेश दिया है ।[४]

सुन्दरदास का ब्रह्म नाम, रूप, जाति और वर्ण अगोचर है । उसकी शक्ति एवं स्वरूप मानव के अनुमान तथा विचार से भी उच्च तथा विस्तृत है। संसार की अपूर्ण भाषा तथा अल्पबुद्धि मानव उसका पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता है। इस प्रकार की धारणा रखते हुए भी सुन्दरदास ने ब्रह्म को प्राकृत गुणधारी बताया है । कवि ने परब्रह्म को अकथ, अनीह, अवस्त, गुरु, गोविन्द, ततसार, प्रभु, ब्रह्म, श्रीपति, राम, अन्तर्यामी, अविनासी, मंगलरूप, तत्वसार, कृष्ण, भगवान, नाथ, करुणामय, निराकार, जगन्नाथ, नारायण, ठाकुर, दीनदयाल, साहब, राजाराम, हरि, निरंजन, धनी, प्राणनाथ, बाजीगर, खुदा, करीम, पैगम्बर, रहीम, हजरत, रहमान, काजी, सिरजनहार, साँई, अगोचर, दीनबन्धु, पुरुषोत्तम, भक्तवत्सल, गुनसागर, कलानिधान आदि नामों के सम्बोधित किया है । ये नाम बार-बार उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं । परब्रह्म के इन उपर्युक्त विभिन्न नामों में से कवि ने निरंजन, राम, अविगत, अगम, अगोचर आदि का अधिक प्रयोग किया है । इनमें से अविगत, नाम, अगम, अगोचर, अन्तर्यामी, अलेख आदि कुछ नाम परब्रह्म

---

[१]मानस १६-२६
[२] " १६-२६
[३]सकल सिरोमनि नाम है सब धरमन के मांहि ।
अनन्य भक्ति वह जानिये सुमिरन भूलै नांहि ।।
(स० वा० स० भाग १, पृ० १४४।१)
[४]मेंह सहै सहजो कहै सहै सीत औ घाम ।
पर्वत बैठो तप करे तो भी अधिको नाम ।।
(स० वा० स० १, १५५।४)

के प्रमुख लक्षणों के द्योतक हैं। दीनानाथ, दीनदयाल, धनी, गुनसागर आदि ब्रह्म के गुणों के प्रकाशक हैं। सन्तों ने परब्रह्म को रहमान, रहीम, करीम, खुदा, हजरत, कादिर तथा काजी आदि नामों से भी सम्बोधित किया है। इनका प्रयोग हिन्दू और मुसलमान-हृदयों में परब्रह्म का एकत्व स्थापित करने के लिए किया है। अन्य सन्तों की भाँति सुन्दरदास ने भी अपने सम्प्रदायों के अन्तर्गत ब्रह्म के नामों को ही परमात्मा का प्रतीक माना है। सन्तों द्वारा चलाये गए प्रायः सभी सम्प्रदायों में नाम का बड़ा समादर है। भवसागर को पार करने के लिए राम के नाम का वही महत्त्व है, जो सागर पार करने के लिए पोत या जलयान का होता है।

कबीरदास के अनुसार नाम ही आदि और मूल वस्तु है। समस्त वेद और मन्त्र उसी से उत्पन्न हुए हैं और बिना नाम का ध्यान किए हुए सांसारिक भव-जल में डूबकर नष्ट हो गए[1]। नाम को न जानते हुए राम-राम का जप व्यर्थ है। 'नाम' के अभ्यास से ही सतगुरु ईश्वर के दर्शन होते हैं।[2] नाम अग्नि के सदृश समस्त जीवों में व्याप्त है।[3] गोस्वामी तुलसीदास ने नाम को जिह्वा पर स्थित मणिमय दीपक माना है जिसका प्रकाश भीतर और बाहर, हृदय और शरीर दोनों ही में आलोकित है।[4] सुन्दरदास के मतानुसार रामनाम वह मधुर वस्तु है जिसको पान करते ही शरीरस्थ समस्त विकार दूर हो जाते हैं।[5] जिसके हृदय में नाम वर्तमान है उसके प्रति सभी लोग सम्मान प्रकट करते हैं। वह सभी

---

[1]आदि नाम सब मूल है और मंत्र सब डार।
कहैं कबीर निज नाम बिनु बूड़ि मुआ संसार॥
(स० ब० स० ४।२)

[2]राम नाम सब कोई कहै नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्ह सतगुरु मिले नाम कहावे सोय॥
(स० वा० ४।४)

[3]पावक रूपी नाम है सब घट रहा समाय
(अ० वा० स० ६।२०)

[4]राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार॥
(स० पा० १, १७।१)

[5]राम नाम मिसरी पीये दूरि जाहिं सब रोग
(स० वा० स० १, १०८।४)

के लिए सम्मान्य एवं आदरणीय होता है।[1] नाम के सदृश संसार में अन्य कोई पदार्थ वा तत्व नहीं है। ब्रह्म का तादात्म्य प्राप्त करने के हेतु ही समस्त दर्शन शास्त्र से नाम को खोज निकाला है। जिस प्रकार दूध, दही आदि का सार घी है उसी प्रकार समस्त दर्शनों का सारतत्व 'नाम' है—

सुन्दर सबही संत मिलि सार लियो हरि नाम।
तक्र तजी घृत काढि के और क्रिया निह काम॥

गरीबदास ने राम नाम को अविगत, अगम, अनन्त, अनादि, अमूल्य, अचल माना है।[2] कवि मलूकदास ने नाम को वह महौषधि माना है • जिसके प्रयोग से संकटरूपी समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। राम-नाम भवसागर की समस्त व्याधियों के लिए महौषधि है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी सन्तों ने नाम को भव-व्याधि दूर करने का एक महान् साधन एवं अलौकिक शक्ति-सम्पन्न वस्तु माना है जिसके स्पर्श-मात्र से सभी कष्ट दूर हो जाते हैं। ऐसी अमूल्य वस्तु का प्रयोग शांतिपूर्वक करना चाहिए, यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। कबीरदास के मत्यानुसार यदि हृदय में लगन है तो नाम न रटने से कोई हानि नहीं है। पतिव्रता नारी पति की सर्वथा सेवा करती हुई भी उसका नाम नहीं लेती है।[4] मलूक ने कबीर से भी अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली शब्दों में इसी बात का प्रतिपादन किया है। मलूक प्रेम को गोपनीय रखने में ही उसकी पवित्रता एवं महत्ता

---

[1] राम नाम जाके हिये ताहि नवै सब कोय।
ज्यों राजा की संक ते सुन्दर अति डर होय॥
(स० वा० स० १, १०८।५)

[2] ऐसा अविगत नाम है आदि अंत नहिं कोय।
बार बार कीमत नहीं अचल निरन्तर सोय॥
(सं० वा० स० १, १८४।२)

[3] राम नाम औषध करो हिरदे राखो याद।
सकठ में लौ लाइये दूरि करे सब व्याध॥
(मलूकदास की बानी पृ० ३३)

[4] नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत।
पतिवरता पति को भजे मुख से नाम न लेत॥
(स० वा० स० १, ४१।११)

समझते हैं।[1] मलूक के "होंठ न फरकत देखिए" शब्दों को सहजोबाई के "होंठ-होंठ सू नाहिले" में ज्यों का त्यों पाते हैं।[2] इस विषय पर चरनदास के विचार मलूक एवं सहजो से साम्य रखते हैं।[3] सुन्दरदास की निम्नलिखित साखी में मलूक, कबीर, सहजो और चरनदास के उपर्युक्त विचार लहरें ले रहे हैं।

काहू कौ न दिषाइये राम नाम की वस्तु।
सुन्दर बहुत कलाप करि आई तेरे हस्त॥
हृदय में हरि सुमिरिये अन्तरजामी राइ।
सुन्दर नीके जतन सौं अपनी बित्त छिपाइ॥

जिस प्रकार निराकार होते हुए भी ब्रह्म संसार में सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार नाम प्रत्येक घट में, सर्वत्र तथा सर्वदा व्याप्त है। मलूक के शब्दों में प्रत्येक घट और मानव के अन्तर्गत ब्रह्म और नाम का उसी प्रकार निवास है जिस प्रकार दुग्ध में घृत, तिल में तेल, पुष्प में सुवास, पृथ्वी में जल, दर्पण में प्रतिबिम्ब वर्तमान रहता है।[4] गरीबदास के अनुसार—

अगम अनाहद भूमि है जहाँ नाम का दीप।
एक पलक बिछुरे नहीं रहता नैनों बीच॥[5]

---

[1]सुमिरन ऐसा कीजिए दूजा लखे न कोय।
होठ न फरकत देखिये प्रेम राखिये गोय॥
(स० बा० स० १, १००।१)

[2]सहजो सुमिरन कीजिए हिरदे माहिं दुराय।
होठ होठ सूं ना हिले सके न कोई पाय॥
(स० बा० स० १, १५६।२)

[3]मन ही मन में जाप करु दरपन उज्ज्वल होय।
दरसन होवे राम का तिमिर जाय सब धोय॥
(स० बा० स० १, १४४।२)

[4]राम नाम दोउ बसे सरीरा। जैसे घृत रहे मध्य छीरा॥
जैसे रहै तिल में तेला। तैसे राम सकल घट खेला॥
जैसे सुमन मां रहे खुसबोई। तैसे राम सकल घट पोई॥
जैसे धरती के बिच पानी। तैसे नाम सकल घट जानी॥
(मलूक कृत भक्ति विवेक)

[5]स० बा० स० १, १८४।७

इसी प्रकार सुन्दरदास ने "राम नाम तिहु लोक में........." लिख कर उसकी व्यापकता सिद्ध की है। संतों के अनुसार राम की भाँति नाम भी सर्वत्र विद्यमान है।

नाम का बड़ा व्यापक प्रभाव है। सुन्दरदास के अनुसार नाम-स्मरण ब्रह्म की आराधना का सर्वोत्तम साधन है। ध्यान करते ही ध्याता ध्येय के समान हो जाता है। भवसागर उल्लंघन के लिए दिव्य साधन है। नाम के समान न कोई धर्म है और न कोई कर्म—

नांव निरंतर लीजिये अन्तर परै न कोइ।
सुन्दर सुमिरन सुरति सौं अन्तर हरि हरि होइ॥
राम नाम संतनि धर्यौ राम मिलन कै काज।
सुन्दर पल में पार ह्वै बैठे नामु जिहाज॥
नाम बराबर तोलियो तुलै न कोऊ धर्म॥
सुन्दर ऐसौ नाम का लहै न मूरख मर्म॥

नाम के स्पर्श-मात्र से मन रूपी लोहे का मैल दूर हो जाता है और वह स्वर्णवत चमकने लगता है।[1] मलूक के अनुसार राम नाम के उच्चारण से मानव का शरीर, हृदय, आकाश सभी ज्ञान के प्रकाश से उसी प्रकार प्रकाशमान हो जाते हैं जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य के प्रकाश से संसार आलोकित हो जाता है।[2] राम-नाम के स्मरण-मात्र से सभी भेद-भाव विनष्ट होकर सांसारिक वस्तुएँ निःसार प्रतीत होने लगती हैं।[3] सुन्दरदास ने अनेक साखियों में नाम-भजन को भव-भय भगाने का साधन माना है।[4] विहार वाले दरिया साहब के शब्दों में नाम एक दिव्य पूंजी है जो कभी भी क्षय को नहीं प्राप्त होती है और इसके

---

[1] आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोहा।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोहा॥
(स० वा० स० १, ४।१)

[2] रवि जिमि बसै अकाश ज्योति परै वाकी भुवन में।
तैसे नाम प्रकाश अन्दर बाहर सुन्न में॥
(भक्ति विवेक)

[3] सकल वस्तु के भेद मिटाना।
कंचन काँचु भै एक समाना॥
भक्ति विवेक

[4] स० वा० स० १, १०८।८

पास में रहने से यम की बाधा तक नहीं पास आती है।[1] मारवाड़ के दरियासाहब ने नाम के प्रभाव का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने नाम को सूर्य के समान प्रकाशवान माना है। नाम भ्रमों का विनाशक है।[2] नाम के प्रभाव से आवागमन विनष्ट हो जाते हैं।[3] शरीर निरोग रहता है।[4] वह एक दिव्य रसायन है।[5] दूलनदास का मत है कि नाम के प्रभाव से संसार में गरम वायु (कष्टों) का स्पर्श नहीं होता और आठों पहर आनन्द छाया रहता है।[6]

नाम की अलौकिक शक्ति का वर्णन सुन्दरदास ने भाँति-भाँति से किया है। शरीर रूपी लोहे को कंचन बनाने वाला यह नाम ही है (स० वा० स० १, १०८।६) सुन्दरदास की भाँति कबीर[7] तथा मलूक[8] ने भी नाम की शक्ति का वर्णन किया है। उनके अनुसार नाम यद्यपि देखने में छोटा (लघु) है पर उसकी शक्ति निस्सीम है। लघु होते हुए भी वह मानव-पापों के कोटिशः पर्वतों को नष्ट करनेवाला है। भव-सागर की समस्त व्याधियों को हरनेवाला है। नानक के अनुसार ही—

साचा नामु आराधिया जमलै भन्ना जाहि।
नानक करनी सार है गुरुमुख घड़िया राहि ॥[9]

दादू ने इसे कोटि-कोटि विकारों का विनाशक माना है।[10] गरीबदास ने नाम को शरीर के लिए निर्मली माना है जो सदैव "निर्मल करै शरीर"।[11]

[1] जाके पूँजी नाम है कबहुँ न होवे हानि।
नाम बिहूना मानवा जम के हाथ बिकानि ॥
(स० वा० स० १, १२२।२)

[2] स० वा० स० १, १२७।१

[3] स० वा० स० १, १२७,५

[4] स० वा० स० १, १२७।६

[5] स० वा० स० १, १२७।७

[6] स० वा० स० १, १३५।८

[7] नाम जो रत्ती एक है पाप जो रत्ती हजार।
आध रत्ती घट संचरै जारि करै सब छार ॥

[8] राम नाम एकै रत्ती पाप के कोटि पहार।
ऐसी महिमा नाम की जारि करै सब छार ॥
(मलूकदास की बानी पृ० ३३)

[9] स० वा० स० भा० १, पृ० ६७।१

[10] राम नाम निज औषधि काटै कोटि विकार, सं० बा० स० भाग १, पृ० ७७।७

[11] ऐसा निर्मल नाम है निर्मल करै शरीर ... ... पृ० १८४।८

सन्त कवियों ने नाम को संसार में सारवस्तु माना है। नाम ही मानव को कल्याण दिलाने वाला है इसीलिये उन्होंने बारम्बार निःसार वस्तु को छोड़ कर सारवस्तु ग्रहण करने का उपदेश दिया है। सुन्दरदास ने नाम को तक्र (मठा) से निकले हुए घी के समान माना है जिसको सन्तों ने संसार से खोज निकाला है।[1] दरिया साहब (बिहार वाले) के शब्दों में—

संत नाम निजु सार है, अमर लोक के जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै संसय सकल मिटाय ॥[2]

और दयाबाई के अनुसार इस जग में सारवस्तु नाम ही है जिसके भजन से मनुष्य स्वयं ही हरि के समान हो जाता है—

दया दास हरि नाम लै या जग में यह सार।
हरि भजते हरि ही भये पायो भेद अपार ॥[3]

गरीबदास के शब्दों में—

नाम सरोवर सार है, सोहं सुरत लगाय।
ज्ञान गलीचे बैठ करि सुन्न सरोवर न्हाय ॥[4]

सन्तों ने नाम को पारस की संज्ञा भी दी है। पारस वह पदार्थ है जिसके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। यहाँ पर नाम पारस और मानव को साधारण तत्व होने की कल्पना की गई है। कबीर[5], दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[6] दूलनदास[7] सहजोबाई[8]

[1] स० वा० १, १०८।६
[2] स० वा० १, १२१।१
[3] ... ... १६८।२
[4] ... ... १८६।२३

[5] आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भयो छूटा बन्धन मोह ॥

[6] लोह पलट कंचन भया करि पारस का संग।
दरिया परसै नाम को सहजहि पलटै अंग ॥
दरिया सुमिरै नाम को आतम को आधार।
काया काची काँच सी कंचन होत न बार ॥

[7] दूलन नाम पारस परसि भयो लोह से सोन।
कुन्दन होइ कि रेशम बहुरि न लोहा होन ॥

[8] पारस नाम अमोल है धनवन्ते घर होय।
परख नहीं कंगाल के सहजो डारै खोय ॥

गरीबदास जी[1], पलटू[2] तथा सुन्दरदास (सं० वा० स० १, पृ० १०८) आदि सन्तों ने बारम्बार इस बात का उल्लेख किया है कि नाम रूपी पारस के स्पर्श-मात्र से काया स्वर्णवत हो जाती है। काया दोष रहित होकर निर्मल बन जाती है। 'नाम' के स्पर्श-मात्र से काया के स्वर्णवत हो जाने की कल्पना, नाम की शक्ति तथा व्यापक प्रभाव का द्योतक है। नीचे दिए उद्धरणों से प्रकट होता है कि सन्त दूलनदास 'नाम' के इस प्रभाव से बहुत परिचित थे। उनका कथन है कि नाम के स्पर्श-मात्र से लोहा रूपी शरीर सोनावत अथवा कुन्दन अथवा रेशमवत निर्मल कोमल बन जाता है परन्तु यह निश्चय है कि उन्होंने फिर कभी भी लोहा के समान मलीन और अनादृत नहीं माना है। इसी मत से साम्य रखनेवाले हैं कबीर, सहजोबाई, गरीबदास आदि।

कवियों की उक्तियाँ बड़ी मनोरंजक और स्वाभाविक हुआ करती हैं। किसी ने संसार को भवसागर, किसी ने ईश्वर को कर्णधार, कष्टों को झंझावात और शरीर को जर्जर नौका की उपमा दी है। सन्तों ने भी सांसारिक घात—प्रतिघातों, संघर्षों तथा द्वन्द्वों को भव-जल-भँवर की उपमा दी है और उन (भंवरों) में डूबते हुए जीव के लिए नामरूपी पोत या जहाज की आशा का उल्लेख किया है। ईश्वर-नाम को जहाज मानना बड़ा ही मनोरंजक और स्वाभाविक है। सुन्दरदास ने भव-सागर पार करने के लिए नाम को जहाज और नाव की संज्ञा प्रदान की है। (सुन्दर ग्रन्थावली भाग २, पृ० ६७६)। सहजोबाई के साखियों से एक शब्द-चित्र पठनीय है। अथाह भवसागर बह रहा है चारों ओर घोर अन्धकार का साम्राज्य है। क्षितिज पर काले-काले मेघ मंडला रहे हैं। वर्षा हो रही है जीव इन विषम परिस्थितियों में भी उस पार सकुशल जाने का आकांक्षी है। बिना नामरूपी जहाज के यह यात्रा कैसे संभव हो सकती है[3]। दयाबाई ने भी नाम को नाव, हरि को केवट और संसार को भवसागर माना है।[4] और पलटू साहब के शब्दों में—

---

[1]पारस नाम तुम्हार है लोहा हमरी जात।
जड़ सेती जड़ पलटिया तुम कूँ केतिक बात ॥ सं० वा० स० १८४

[2]जरि बूटी के खोजते गई सुध्याई खोय।
पलटू पारस नाम का मनै रसायन होय ॥ वही पृ० २१४

[3]सहजो भवसागर बहै तिमिर बरस घन घोर।
तामे नाम जहाज है पार उतारे तोर ॥ वही १५५

[4]दया नाव हरि नाम की सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि तिरत न लागै बार ॥ वही १६८

पलटू जपतप के किहे सरै न एकौ काज।
भवसागर के तरन को सतगुरु नाम जहाज ॥[1]

गोस्वामी तुलसीदास की भाँति संत कवि मलूकदास भी राम-नाम के बड़े समर्थक हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में केवल वही माता पुत्रवती है जिसका पुत्र राम का भक्त है।[2] मलूकदास के अनुसार भी वहीं पुत्र सुपूत है जो राम का भक्त है और वही माता सुन्दरी है जिसका पुत्र राम-नाम से प्रेम रखता है।[3] राम-नाम सर्वशक्तिमान है क्योंकि नाम का उच्चारण करता हुआ व्यक्ति देवेन्द्र को भी तुच्छ समझता है।[4]

सन्तों ने अपने काव्य में नाम लेनेवाले भक्तों के पाँव की पनही बनने तक की कामना प्रकट की है। यह भक्ति की परम सीमा है। कबीर अपने शरीर की चाम से उस व्यक्ति की पैतरी बनने की कामना करते हैं जिसके मुँह से भूल से भी नाम निकल जाता है।[5] पलटू साहब नाम जप करने वाले सन्तों की पनही की धूर तक बनने के आकांक्षी हैं—

राम नाम जेहि उच्चरैं, तेहि मुख देहुँ कपूर।
पलटू तिनके नफर की पनही का मैं धूर ॥

कबीर और पलटू साहब के विचारों से साम्य रखने वाले गोस्वामी जी के निम्नलिखित वाक्य पठनीय हैं—

तुलसी जाके मुखन तें धोखेहु निकरहि राम।
ताके पग री पैतरी मेरे तन को चाम।

[1] स० बा० संग्रह १, २१४।२
[2] पुत्रवती युवती जग सोई।
रघुबर भक्त जासु सुत होई ॥
[3] सोई पूत सपूत है जाहि नाम सो हेत।
तथाः—राम नाम जिन जानिया तेई बड़े सपूत।
एक राम के नाम बिन कागा फिरै कुपूत ॥
(मलूक दास की बानी, पृ० ३५)
[4] गांठी सत्त कुवीन में सदा फिरै निःसंक।
नाम अमल राता रहै गिनै इन्द्र कोटंक ॥
(मलूकदास की बानी पृ० ३३)
[5] सपनेहु में बर्राइ धोखेहु निकरै नाम।
वाके पगरी पैतरी मेरे तन को चाम ॥

कबीर, पलटू और तुलसीदास के समान ही सुन्दरदास ने अपने साखियों में अनेक अवसरों पर सप्रेम नाम लेने वालों का दास बनने की कामना प्रकट की है।

सुन्दरदास के अनुसार नाम स्मरण ही ब्रह्म की उपासना का सर्वोत्तम साधन है। जप, तप, तीर्थ, नियम, दान, व्रत आदि 'नाम' जप की तुलना में निःसार और तत्व-रहित हैं। मिथ्या साधनों को त्याग कर कवि ने बार-बार नाम जप का उपदेश दिया है :

राम नाम बिन लैनु कौं और वस्तु कहि कौन।
सुन्दर जप तप दान व्रत लागे खारे लौन॥
नाम लिया तिन सब किया सुन्दर जप तप नेम।
तीरथ अटन सनान व्रत तुला बैठि दत्त हेय॥
नाम बराबर तौलियां तुलै न कोऊ धर्म।
सुन्दर ऐसे नाम का लहै न मूरष मर्म॥

'नाम' स्मरण साधना का सरलतम तथा सर्वश्रेष्ठ साधन है। कष्टों को सहन करके, काया को कष्ट देकर, तप साधना करना भी नाम स्मरण की तुलना में महत्त्वहीन है—

राम भजन परिश्रम बिना करिये सहज सुभाइ।
सुन्दर कष्ट कलेस तजि मन की प्रीति लगाइ॥

इसी प्रकार सुन्दरदास ने नाम जप की भौतिक जीवन और व्यावहारिक जीवन में समान रूप से उपयोगिता निम्नलिखित साखी में व्यक्त किया है—

राम नाम भोजन करै राम नाम जल पान।
राम नाम सौं मिलि रहै सुन्दर राम समान॥

सद्गुरु

गुरु का स्तवन एवं वन्दन भारतीय संस्कृति और परम्परा का प्रधान अंग रहा है। भारतीय समाज में चिरकाल से गुरु का स्थान बड़ा उच्च, महान् एवं समादरित रहा है। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि प्राचीन भारतीय समाज में उसका व्यक्तित्व अद्वितीय रहा है। वह धर्म एवं समाज का नियामक रहा है। राजनीतिक समस्याओं का हल भी वही उपस्थित करता था। रामायण काल में वशिष्ट का क्या स्थान रहा है, यह सभी जानते हैं। संस्कृत साहित्य में इसी कारण गुरु की महिमा का बड़ा गान हुआ है। घेरंड संहिता के तृतीयोपदेश में गुरु की महत्ता के विषय में कतिपय श्लोकों का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य है कि केवल वही ज्ञान उपयोगी और शक्ति-सम्पन्न है जो गुरु ने अपने होठों से दिया है, नहीं तो वह ज्ञान निरर्थक, अशक्त और दुखदायक हो जाता है।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुरु ही माता है, पिता है और यहाँ तक कि वही ईश्वर भी है। उसकी सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा होनी अपेक्षित है। गुरु की ही कृपा से समस्त शुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इसी कारण गुरु की सेवा नित्य होनी चाहिए। अन्यथा कोई भी मांगलिक कार्य सिद्ध होने की सम्भावना नहीं है।[2] बोधसार में गुरु को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में ईश्वर से भी महान् व्यक्त किया गया है।[3] गुरु के अनुग्रह से ही, ईश्वर

---

[1]भवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फल हीनास्यान्निर्वीर्याप्यति दुःखदा॥
घेरंड संहिता तृतीयोपदेश श्लोक ॥१०॥

[2]गुरु पिता गुरुर्माता गुरुरेव न संशयः
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥१३॥

गुरु प्रसादतः सर्वं लभ्यन्ते शुभमात्मनः।
तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत ॥
घेरंड संहित तृतीयोपदेश ॥१४॥

तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः।
काश्यामप्यीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः ॥

के दर्शन होते हैं और ईश्वर की कृपा से ही गुरु की प्राप्ति होती है।[1] गुरु-कृपा के अभाव में काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है।[2] संस्कृत के कवियों ने गुरु की उपमाएँ सूर्य, कमल, चन्द्र, स्वर्ण आदि लौकिक एवं नैसर्गिक तत्वों से दी है। यह सब उसकी महत्ता का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के आदि काल से ही 'नाथ सम्प्रदाय' के उदय तक साहित्य के अंतर्गत गुरु के गुणगान के केवल कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सिद्ध और जैन कवियों के काव्य के अंतर्गत गुरु की महिमा का गान हुआ है। उन्होंने गुरु को पथ-प्रदर्शक, ज्ञान का सागर आदि विशेषताओं से अलंकृत किया है। सिद्धों के पश्चात् वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान आदि बौद्ध धर्म के कई एक विभाग हो गये। मन्त्रयान में मंत्रों की सिद्धि के लिए गुरु की आवश्यकता महत्ता और उसके पथ-प्रदर्शन की अनिवार्यता पर बारम्बार प्रकाश डाला गया है।[3] बौद्ध धर्म के इन 'यानों' के क्षीण हो जाने के पश्चात् 'नाथ सम्प्रदाय' के योगियों का विकास हुआ। इनकी साधना में योग की प्रधानता थी। अलख को इन्होंने योग की आँखों से लखने का प्रयत्न किया। अलख को लखने के लिए तथा योग मार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक को पथ-प्रदर्शक की बड़ी आवश्यकता होती है। इसीलिए सद्गुरु की शरण अपेक्षित हुई। अविद्या माया के तामसिक आवरण को हटाने के लिए गुरु का गुरुतम मंत्र आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। तथ्य भी यही है कि प्राणायाम, षट-कर्म, अष्टांगयोग, मुद्रा, श्वास-प्रश्वास का संचालन और नियंत्रण, समाधि नादानुसंधान आदि का मार्ग इतना दुर्गम है कि बिना गुरु के पथ-प्रदर्शन के साधक इनकी साधना कर भी नहीं सकता। इनकी सिद्धि योगी को मार्गच्युत कर सकती है, अतएव इनसे सावधान रहना आवश्यक है। इतना गोरखधन्धा—और सच पूछिये तो यह गोरखनाथ का योग ही गोरखधन्धा शब्द की उत्पत्ति का कारण है—पोथी पढ़कर नहीं हो सकता, मनन चिन्तन और निदिध्यासन से भी नहीं हो सकता। इसे तो करके दिखाना पड़ता है। इसीलिए इस जटिल कर्म पद्धति के लिए सद्गुरु की बड़ी ज़बरदस्त आवश्यकता होती है। नाथपंथी योगियों, सहज और बज्रयानियों, तान्त्रिकों और परवर्ती संतों में इसीलिए सद्गुरु की महिमा इतनी अधिक गाई गयी है। सद्गुरु

---

[1] गुरोरनुग्रहादीशः ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः।
श्री गुरोर्दर्शन हेतुः परंत्वीश्वरदर्शन ॥ (बोधसार ४-१२)

[2] विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः क्वित।
विमुक्तिर्यत्र कुत्रापि न काश्यां गुरुणा विना ॥ (बोधसार ४-१४)

[3] हिन्दी काव्यधारा, श्री राहुल सांकृत्यायन

के बिना जगत् के चाहे, और सभी व्यापार हो जावें पर यह जटिल साधना पद्धति नहीं हो सकती है।"[१]

कालान्तर में सद्गुरु की शक्ति के प्रति कुछ अन्धविश्वास का प्रचलन हो गया है। यह सामान्य विश्वास का विषय बन गया कि सद्गुरु ही समस्त सिद्धियों का दाता है। उसके स्पर्श-मात्र से ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। गुरु की कृपा-कोर के अभाव में हठयोग तो कठिन साधना है, सरलतम भक्ति भी सम्भव नहीं है। अन्ध विश्वास यहाँ तक फैला कि यदि सद्गुरु अपनी अंगुली से आज्ञा-चक्र का स्पर्श-मात्र कर दें तो किसी भी 'टंटे' और साधना की आवश्यकता नहीं है, सिद्धि स्वतः उपलब्ध हो जाती है। एक समय वह आया जब गुरु की कृपा की खोज में ही सब साधक फिरने लगे। उनकी शक्ति गुरु की खोज में अधिक खपी, साधना में अत्यन्त कम। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का कथन विचारणीय है। "जब हठयोग की पद्धति क्रिया की बहुलता रही होगी उस समय इस पद्धति का साधक विरल होना नितान्त स्वाभाविक है, पर जब गुरु की कृपा पर सब कुछ निर्भर किया जाने लगा होगा तो स्वभावतः ही अधिकाधिक लोग सद्गुरु की खोज में लगे रहते होंगे। उनमें से सैकड़ों गुरु के निकट दीक्षित होने की आशा से निरन्तर उम्मीदवारी करने में रत होंगे। यह बात तो निश्चय ही उन दिनों भी असम्भव ही रही होगी कि हजारों की संख्या में लोग सिद्ध योगी हो जायँ। पर साधारण जनता को सद्गुरु की कृपा के नाम पर आतंकित करनेवाले और उन पर रोब जमाने वाले छोटे-मोटे योगियों की एक विराट बाहिनी जरूर तैयार हो गई होगी। ऐसा सचमुच ही हुआ था। ऐसे अलख जगाने वाले योगियों से सचमुच ही सारा देश भर गया था।"[२]

उपर्युक्त उद्धरणों को पढ़ जाने के पश्चात् हमारे समक्ष दो बातें आती हैं। प्रथम यह कि सद्गुरु की महत्ता के विषय में अन्धविश्वास प्रचारित हो गया था तथा द्वितीय बात यह है कि ये सद्गुरु अपनी चमत्कारी शक्ति का प्रदर्शन करके जनता को आतंकित कर रहे थे और सद्गुरु बाह्याडम्बर बनाये हुए शतशः व्यक्तियों और जनता को धोखा देते फिर रहे थे। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि हठयोगियों और इन तन्त्रसाधक• गुरुपाद और गुरुपरम्परा का जो पवित्र रूप अपने देश में चिरकाल से प्रचलित था उसे विकृत कर दिया, उसे कलुषित कर दिया। पर गुरु परम्परा की निर्मल धारा के अबाध प्रवाह में जो अवरोध उपस्थित होकर सठांध आ गयी उससे यह धारा यहीं समाप्ति नहीं हो गयी। संतों की बानियाँ सद्गुरु के स्तवन और यशोगान से भरी-पूरी हैं। उन्होंने बारम्बार उसके शरण में

---

[१]हिन्दी साहित्यकी भूमिका पृष्ठ ६५
[२]हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६६

जाने के लिए उपदेश दिया है। सद्गुरु की महत्ता का गान उन्होंने बार-बार किया है और फिर भी जैसे वे उससे थकते ही नहीं हैं। उन्होंने उसे गोविन्द से भी बड़ा माना है। कबीर के समक्ष एक दिन बड़ी विकट समस्या आ उठी। बात यह थी कि एक दिन कबीर को रामानन्द और गोविन्द दोनों ही के एक साथ दर्शन हुए। बेचारे कबीर के मन में संकल्प-विकल्प कीं लहरें हिलोरें मारने लगीं। वे चिंतित हो उठे। किसकी बंदना की जाय पहले। अंत में हृदय और मस्तिष्क ने रामानन्द के पक्ष में निर्णय दिया। कारण कि रामानन्द की ही कृपा से गोविन्द के वास्तविक स्वरूप के दर्शन उन्हें हुए नहीं तो यह कैसे सम्भव होता। फलतः गोविन्द के चरण को छोड़ कर कबीर गुरु के चरणों पर गिर पड़े।

गुरु और गोविन्द में बड़ा अन्तर है। एक स्वतः पूर्ण, स्वतः प्रकाशित, स्वतः अनादि, अनाम, अभेद्य और अनन्त है दूसरा अपूर्ण को पूर्ण बनानेवाला, सर्वात्मा का रहस्य बताने वाला, ब्रह्म के तत्वों को प्रकाशित करने वाला है। एक रहस्य है तो दूसरा उस रहस्य का उद्घाटक। फिर दोनों में क्या अन्तर है? कौन बड़ा है? रहस्य की अपेक्षा उसका भेद खोलनेवाला ही महान् है, कारण कि वह रहस्य के अंतर्गत गति रखता है, वह उसके आंतरिक स्वरूप से परिचित है। यही महान् शक्ति कबीर ने रामानन्द में पायी। वे ऐसा गुरु पाकर कृतकृत्य हो गये। मोह का अंधकार छूट गया। ज्ञान का प्रकाश चतुर्दिक छिटक पड़ा। जिस दिन ऊषा बेला में रामानन्द के पैरों से ठोकर खा कर कबीर उठे, उसी समय मोह-निशा का अवसान हुआ और अज्ञान अंधकार तिरोभूत हुआ। तम पर ज्ञान के प्रकाश की विजय हुई। कबीर राम और उसके रहस्य से परिचित हो गये। द्वैत का भ्रम अवगत हो गया। पारस के स्पर्श-मात्र से लोहा भी स्वर्ण बन गया। इसीलिए कबीर ने उस गुरु देव को महान्, ब्रह्म से भी महान् एवं उच्च माना है।[1] [illegible] बड़े दूरदर्शी थे। वे जानते थे कि हरि के न प्रसन्न होने पर, दर्शन न होने पर सद्गुरु अन्य मार्ग द्वारा मुक्ति दिला सकते हैं पर गुरु के तटस्थ हो जाने पर किसका सहारा ग्रहण किया जाय? कौन उस संकटपूर्ण स्थिति में सहायक हो सकता है?[2] इसीलिए वे बारम्बार एक ही बात को दोहराते हैं। "गुरु बड़े गोविन्दते मन में देखु विचार"।[3] कारण कि, हरि सुमिरै सो बार

---

[1] गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लाँगू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियौ बताय॥

[2] कबीर ते नर अंध है गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

[3] संत वानी संग्रह, भाग १, पृ० २-१३

है, गुरु सुमिरै सो पार।"कबीर की भाँति ही संत कवि सुन्दरदास ने भी अनुभव किया कि "गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द ते"—

गोविन्द के किये जीव जात है रसातल कौं
गुरु उपदेशे सुतौ छूटै जम फंदते।
गोविन्द के किये जीव बस परे कर्मनि कैं
गुरु के निवाजे सो फिरत हैं स्वच्छन्दते॥
गोविन्द के किये जीव बूड़त भौसागर में
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व ते।
और ऊ कहाँ लौं कछु मुख तें कहें बनाइ
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द ते॥

सुन्दरदास को गुरु गोविन्द से इसलिए बड़ा, महान् प्रतीत हुआ कि वह अलख खजाना को सुन्दरदास जैसे दरिद्र तथा निर्धन (आध्यात्मिक जगत्) के समक्ष उद्घाटित कर दिया।[1] इतना ही नहीं उस सतगुरु ने समस्त भ्रम और सन्देहों का विनाश कर के सुन्दरदास को स्थिर मति और अद्वैत भावना का स्पष्ट रूप प्रदान किया—

राग द्वेष उपजै नहीं द्वैत भाव को त्याग।
मनसा वाचा कर्मना सुन्दर यहु वैराग॥

संसार की दृष्टि में सद्गुरु और ब्रह्म भले ही भिन्न और दो प्रतीत होते हों पर कबीर की भाँति सुन्दरदास को उनमें कोई भेद नहीं उपलब्ध हुआ। यही नहीं सुन्दरदास के मत में सभी समझदारों, तत्वज्ञों और स्थिरमतिवालों के लिए दोनों में एकत्व है, भिन्नत्व नहीं—

सुन्दर समुझै एक है अन समझै कौ इति।
उभै रहित सद्गुरु कहै सो है बचनातीत॥
स्वयं ब्रह्म सद्गुरु सदा अभी शिष्य बहु संति।
दान दियौ उपदेश जिनि दूरि कियौ भ्रम हंति॥

उसी गुरु ने सुन्दरदास को मनुष्य से ब्रह्मत्व के पद पर आसीन कर दिया, उसी ने सुन्दरदास में सोऽहं की भावना जाग्रत कर दी—

हम जांण्यॉं था आप थे दूरि परै है कोइ।
सुन्दर जब सद्गुरु मिल्या सोहं सोहं होइ॥

---

[1]सुन्दर सद्गुरु आपुतें अलष षजाना षोल।
दुख दरिद्र जाते रहे दीया रत्न अमोल॥

सुन्दरदास ने सतगुरु दादू में दिव्य शक्ति का अनुभव किया। जिस प्रकार कबीर ने रामानन्द में लोहे को स्वर्ण में परिणत कर देने की शक्ति का अनुभव किया उसी प्रकार सुन्दरदास ने सतगुरु दादू में उसी दिव्य शक्ति को पाया। उस सतगुरु का कितना उच्च स्थान है, कितनी महान् शक्ति जो मिट्टी से सोना, निःसार से सार तत्व-पूर्ण-वस्तु का सर्जन कर देता है। निश्चय ही वह सर्वथा अभिनन्दनीय और प्रशंसनीय है—

सुन्दर गुरु सु रसाइनी बहु विधि करय उपाय।
सद्गुरु पारस परसतें लोह हेम ह्वै जाय ॥ सु० ग्र० २।६७१

सुन्दरदास ने उस परब्रह्म के विरह में जीवन यापन कर दिया। उनकी आत्मा ने जीवन पर्यन्त अंधकारपूर्ण रात्रियों का अनुभव किया। जीवन में कुछ भी सरस, सुखद और सार-पूर्ण न प्रतीत हुआ। सुख दुख हो गए, पुष्प शूल बन गए, निजत्व परत्व में परिणत होगया[1]; पर धन्य है वह सतगुरु जिसने सुन्दरदास की विरहिणी आत्मा को प्रियतम परब्रह्म से मिला दिया। दो को हटाकर, मिटाकर एक कर दिया। संयोग ने वियोग, सुख ने दुख, एकत्व ने भिन्नत्व का स्थान ग्रहण कर लिया और कवि की आत्मा आनन्द-विभोर हो उठी, उसका मन-मयूर नृत्य कर उठा—

परमातम सौं आतमा जुदे रहे बहु काल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल ॥

दूलनदास ने ईश्वर की अपेक्षा गुरु का भजन करने के लिए ही उपदेश दिया है, कारण कि गुरु ही ब्रह्मा है, वही विष्णु है और वही शंकर है। उस एक गुरु में ही तीनों शक्तियाँ विद्यमान हैं।[2] चरनदास ने दूलनदास की अपेक्षा गुरु के पद की और भी उच्च कल्पना की है। उनके अनुसार तीन लोक में कोई भी शक्ति सद्गुरु की समता करने में असमर्थ है। उस सतगुरु की बड़ी महत्ता है। उसका नाम लेने मात्र से पातक विनष्ट हो जाते हैं और ध्यान करने से ध्याता स्वयं हरि के समान हो जाता है।[3] सतगुरु ही की कृपा से मनुष्य चौरासी बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[4] दयाबाई के मत से भी सतगुरु को मनुष्य

[1] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का विरहानुभूति शीर्षक

[2] गुरु ब्रह्मा गुरु विस्नु हैं गुरु संकर गुरु साध।
दूलन गुरु गोविन्द भजु गुरुमत अगम अपार ॥ स० बा० स० १।१३३

[3] गुरु समान तिहुँ लोक में और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय ॥ वही १४२।१

[4] सतगुरु के मारे मुये बहुरि न उपजै आय।
चौरासी बन्धन छुटे हरि पद पहुँचे जाय ॥

समझना भूल है। कारण कि वह ब्रह्म-स्वरूप है।[1] अन्य सन्तों के सदृश गरीब दास ने भी गुरु को पूर्ण ब्रह्म, अलेख, रमताराम आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[2] पलटू साहब ने सतगुरु को "सब देवन् को देव" माना है और उसी की अनन्य भाव से उपासना करने के लिए उपदेश दिया है।[3] चरनदास के अनुसार हरि की सेवा सौ वर्ष की जाय और गुरु की सेवा केवल चार पल तो भी चार पल की सेवा ही महान है।[4]

ब्रह्ममय या ब्रह्म से भी महान उच्च और अधिक् शक्तिवान गुरु की महत्ता भी उसी के पद के समान है। वह पत्थर को पारस, मिट्टी को स्वर्ण बना देता है। उसकी समानता इस संसार में कौन कर सकता है। जो शक्ति साधारण साधक को भी ब्रह्ममय, या ब्रह्म के समान ही बना देती है निस्सन्देह उसकी शक्ति महान है, उसकी महत्ता असाधारण है उसका गौरव गान करने के योग्य है। सन्तों ने गुरु की महत्ता का बड़ा विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। वे गुरु की महत्ता गाते हुए जैसे अघाते ही नहीं, थकते ही नहीं हैं। सुन्दरदास तो अपनी लेखनी और जिह्वा को गुरु गौरव-गान करने में असमर्थ और असफल पाते हैं। कारण की उस अनन्त गुणोंवाले गुरु के गौरव का जो कुछ भी वर्णन होगा वह अपर्याप्त ही होगा—

सदगुरु महिमा कहन कौं रसना हुई न कोरि।
सुन्दर क्यों करि बरनिये जो बरनिये सु थोरि॥
ना कछु हुवा न होइगा सदगुरु सब सिरमौर।
सुन्दर देष्या सोधि सब तोलें तुलत न और॥ सु० ग्र० २।६७४

सुन्दरदास के समान ही कबीर भी उस गुरु को उच्च से उच्च और महान से महान शब्दों से अभिनन्दित करना चाहते हैं पर फिर भी कुछ न कुछ कहने के लिए रह ही जाता है। कबीर स्वप्न देखते हैं कि यदि समस्त पृथ्वी को साफ करके कागज़ के समान ही लिखने

---

[1] सतगुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत जान।
देसभाव मानै दया ते हैं प्रभू समान॥ वही १६८।१२

[2] सतगुरु पूरन ब्रह्म है सतगुरु आप अलेख।
सतगुरु रमता राम है यामें मीन न मेख॥ वही १८३।२५

[3] वहि देवा को पूजिये सब देवन कै देउ।
पलटू चाहै भक्ति जो सतगुरु अपना सेव॥ वही २१४।४

[4] हरि सेवा कृत सौं बरस गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी बेदन कियो विचार॥
चरनदास की बानी, पृ० ८

योग्य बना दिया जाय, सभी पेड़ों को काट कर लेखनी बना दिया जाय और सभी सागरों में स्याही घोल दी जाय इसके पश्चात "मसि कागज़ छूयौ नहीं" शपथ लेने वाले कबीर को यदि लिखने का अवसर प्रदान किया जाता तो भी वे उस गुरु की महत्ता का वर्णन करने में समर्थ न होते। कबीर के गुरु का कितना महान व्यक्तित्व है, कितनी महान आत्मा है कि संसार में उसका कोई मूल्यांकन ही नहीं कर सकता है—

धरती सब कागद करूँ लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय॥ स० वा० स० १।२।२

इस साखी को पढ़ जाने के अनन्तर पाठकों को गुरु-माहात्म्य के विषय में और क्या पढ़ने के लिए रह जाता है और कबीर को भी यहीं पर गुरु-स्तवन इति कर देना चाहिये था, पर कबीर को शांति नहीं, कारण कि गुरु के लिए वे अपना शीश काट कर फेंक देना भी सस्ता सौदा समझते हैं।[1] कष्ट-साध्य भक्ति और दुर्लभ मुक्ति का भंडार साधक पर निछावर कर देने वाला यदि कोई है तो वह सद्गुरु और इसी कारण दादू उसके पीछे लगे रहने में ही जीवन की सार्थकता आंकते हैं।[2] गुरु के प्रताप से मलूक दास ने माया मोह का निवारण करके इस संसार में बाजी जीत ली है।[3] संसार के तापों से संतप्त सुन्दरदास के सभी दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को गुरुदेव ने ही 'सबद' औषधि देकर नष्ट किया। इस अचूक औषधि ने अपना पूरा प्रभाव दिखाया। जब निदान ठीक हो तो औषधि कैसे प्रभाव न करती? फल वही हुआ जो होना था। 'सबद' औषधि के प्रयोग ने सुन्दरदास को शैतल्य प्रदान किया और वे कृतकृत्य हो गए।

सुन्दर सतगुरु बंदिये सोई बन्दन जोग।
औषध सबद पियाइ करि दूर कियो सब रोग॥ वही १०६।२

इस विशाल संसार में सुन्दरदास को सतगुरु के समान उदार व्यक्ति कोई न मिला। क्योंकि उसने बड़ी ही उदारता पूर्वक अपने ज्ञान कोष को खोल दिया और शिष्य उससे लाभान्वित हुए।[4] सुन्दरदास की चिर-वियोगिनी आत्मा को प्रियतम से मिलाने का

---

[1] यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलैं तौ भी सस्ता जान॥ वही ३।१६

[2] सतगुरु मिलै तो पाइये भक्ति मुक्ति भंडार।
दादू सहजैं देखिये साहिब का दीदार॥ वही ५७।८

[3] जीती बाजी गुरु प्रताप तें माया मोह निवार।
कह मलूक गुरु कृपा ते उतरा भव जल पार॥ वही ६६।१

[4] सं० वा० स० भाग १, १०६।५

श्रेय भी उसी सद्गुरु को ही है।[१] धरनीदास ने सतगुरु का ध्यान जिस दिन से किया उस दिन उसके प्रभाव से कुदिन भी सुदिन बन गया, अशुभ शुभ बन गया और अशुभ मांगलिक बन गया।[२] (मारवाड़-वाले) दरिया साहब ने आजीवन अपने को आश्रयहीन और अनाथ अनुभव किया पर जिस दिन से गुरुदेव ने उनके मस्तक पर हाथ रखा और सबद सुनाया उसी दिन से वे सनाथ हो गये और अपने को धन्य प्रतीत करने लगे।[३] इतना ही नहीं सतगुरु ने उनकी संतप्त आत्मा को शीतलता प्रदान की और सुप्तावस्था से जाग्रत किया।[४] सुन्दरदास और कबीर की भाँति ही चरनदास ने भी सतगुरु का स्थान अद्वितीय माना है। संसार क्या त्रिलोक में भी उसकी समता करनेवाला उन्हें कोई नहीं दीख पड़ा।[५] इसी प्रकार सहजोबाई ने अनुभव किया कि उनकी काग के समान ही मलीन आत्मा को हंस के समान निर्मल करनेवाला केवल सद्गुरु ही है।[६] इतना ही नहीं उन्होंने सहजो का प्रवेश उस प्रदेश में करा दिया जहाँ चींटी जैसे छोटे जीव को स्थान नहीं है और सरसों जैसी सूक्ष्म वस्तु के लिए ठहराव नहीं है। फिर भी यदि सहजो वहाँ पहुँच गई तो यह गुरुदेव की ही असीम कृपा का फल है।[७] माया से आवृत अंधे कुयें में पड़ी हुई दयाबाई का गुरु देव ने ही उद्धार किया था। उसके ज्ञान ने भव-सागर में डूबती हुई दयाबाई को बचाया और पार लगाया।[८] इसी प्रकार धनी धर्मदास[९], भीखा[१०], बुल्ला

[१] सं० वा० सं० भाग १, १०७।६

[२] धरनी सब दिन सुदिन है कबहुँ कुदिन है नाहि।
लाभ चहूँ दिसि चौगुनो जो गुरु सुमिरन हिय माहि॥ वही ११२।४

[३] दरिया सदगुरु भेटिया जा दिन जनम सनाथ।
स्रवना सबद सुनाइ के मस्तक दीन्हा हाथ॥ वही १२६।१

[४] सं० वा० सं०, भाग १, पृ० १२६-७

[५] गुरु समान तिहुँ लोक मे और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय॥ वही १४२।१

[६] सहजो सतगुरु के मिले भये और सूँ और।
काग पलट गति हंस ह्वै पाई भूली ठौर॥ वही १५५।८

[७] चिंउटी जहाँ न चढ़ि सकै सरसो न ठहराय।
सहजो कूँ वा देस मे सतगुरु दई बसाय॥ वही १५५।६

[८] अंध कूप जग में पड़ी दया करम बस आय।
बूड़त लई निकास करि गुरु गुन ज्ञान गहाय॥ वही १६७।५

[९] सं० वा० सं० भाग २, पृ० ३४

[१०] सं० वा० सं० भाग २, पृ० २०७

साहब[1], केशवदास[2], तुलसीसाहब[3], गुलाब साहब[4] रैदास[5] आदि सन्तों ने बड़े विस्तार के साथ अपने-अपने गुरुदेव की महत्ता और यश का गान किया है।

हृदय के जिन सरलतम शब्दों में सन्तों ने गुरु के महत्त्व को व्यक्त किया है, उसकी झलक विगत पृष्ठों से प्राप्त हो जायगी। इन सन्तों ने सतगुरु के सम्मान में बड़े सुन्दर-सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है, उन्होंने अनेक विशेषणों से उसे अलंकृत किया है। कबीर ने सतगुरु को कुम्हार[6], अमृत की खान[7] तथा सूरमा[8] की उपाधि से अलंकृत किया है। सुन्दरदास ने स्वर्णकार एवं ब्रह्म[9], दरिया साहब (बिहारवाले) ने जहाज[10] तथा केवट[11] मारवाड़ वाले दरिया साहब ने तैराक[12], दूलनदास ने चन्द्रमा[13], चरनदास ने सूरमा[14] शिवकारी[15]

---

[1]बुल्लासाहब की बानी

[2]स० बा० स०, भाग २, पृ० २३६

[3]स० बा० स०, भाग २, पृ० २०३।४

[4]स० बा० स०, भाग २, पृ० २०१

[5]स० बा० स०, भाग २, पृ० ३२।३५

[6]गुरु कुम्हार सिख कुम्भ है गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै बाहर बाहै चोट ॥ वही २।६

[7]यह तन विष की बेलरी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिलैं तो भी सस्ता जान ॥ वही ३।१६

[8]सतगुरु साचा सूरमा नख सिख मारा पूर।
बाहर घाव न दीसई भीतर चकनाचूर ॥ वही ३।२१

[9]सुन्दर काटै सोधिकरि सतगुरु सोना होइ।
सिष सुवरन निर्मल करै टांका रहै न कोइ ॥ वही १०७।१४

[10]दरिया भवजल अगम है सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढ़ाइ कै जाय करहु सुखराज ॥ वही १२१।१

[11]सुकृत पिरेमहि हितु करहु सतबोहित पतवार।
खेवट सतगुरु ज्ञान है उतरि जाय भौ पार ॥ वही १२१।५

[12]दरिया गुरु तैरू मिला कर दिया पैले पार ॥ वही १२६।३

[13]संतवानी संग्रह भाग १, पृ० १३४।५

[14] ... ... पृ० १४३।१०

[15] ... ... पृ० १४३।१२

एवं नावक[1], सहजोबाई ने रंगरेज़[2], गरीबदास ने केवट [3], तथा पारस[4] आदि शब्दों का प्रयोग सतगुरु के लिए किया है। अन्य सन्तों ने उसके हेतु हंस, परमात्मा, सत्त पुरुष, आदि सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। सतगुरु के लिए प्रयुक्त इन सम्मान सूचक शब्दों में कतिपय शब्द उसके स्वभाव के द्योतक हैं, कुछ उसके महत्त्व के सूचक हैं, कुछ उसके सामर्थ्य को प्रकट करनेवाले हैं तथा कुछ शब्दों से उसकी उपयोगिता प्रकट होती है। प्रयुक्त सभी शब्दों में सूरमा, जहाज एवं केवट शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। सम्भवतः ये शब्द उसकी उद्धारक शक्ति के परिचायक हैं।

सतगुरु की कृपा का फल बड़ा कल्याणकारी होता है। इसके विषय में वही अधिकारी के रूप में लिख सकता है जिसने इस तथ्य का अनुभव किया हो। कम से कम इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन संतों को सतगुरु की कृपा प्राप्त थी और वे उसकी कृपा से लाभान्वित हुए। उन्हें तो गुरु की कृपा से ज्ञान मिला, संत समागम मिला, प्रेम मिला, दया मिली, भक्ति मिली और सबसे महत्त्वपूर्ण प्राप्ति थी विश्वास की। उसकी कृपा प्राप्त होते ही कबीर के तन मन का ताप मिट गया और माया के बन्धन शिथिल पड़ गए।[5] चरनदास भी उसकी कृपा से जगत की व्याधि से अवकाश पा गए, रागद्वेष की भावनाएँ मिट गईं।[6] कौड़ी मोल के योग्य उनका शरीर सद्गुरु की कृपा से ही अमोल हो गया[7] और क्षण मात्र में उसके प्रभाव से जीव ब्रह्म बन गया।[8] जिस चमत्कारी प्रभाव का अनुभव चरनदास ने किया था वही तुलसी साहब की भी अनुभूति बनी। तुलसी साहब ने अनुभव किया कि वास्तव में गुरु देव ही उनको भाग्य रेखा के परिवर्तक हैं। इन सन्तों की भाँति सुन्दरदास ने भी अनुभव किया कि सतगुरु की ही कृपा से वे संसार-सागर में डूबने से बचे।[9] सतगुरु

---

[1] ... ... पृ० १४३।१४

[2] ... ... पृ० १५५।१०

[3] ... ... पृ० १८३।१६

[4] ... ... पृ० १८३।१८

[5] ज्ञान समागम प्रेम सुख दया भक्ति विस्वास।
गुरु सेवातें पाइये सतगुरु चरन निवास ॥ वही २।११

[6] संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १४२।२

[7] ... ... पृ० १४२।५

[8] ... ... पृ० १४२।८

[9] सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६६५।१

की कृपा से उनके समस्त रोग, विकार एवं संताप दूर हुए[1] सन्देह नष्ट हुआ[2], मोह-निशा का अवसान हुआ[3], और ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ[4]।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'नाथ' सम्प्रदाय के अवसान काल तक हठयोगियों एवं तंत्रवादियों ने देश में गुरुवाद का बहुत ही विकृत रूप प्रचारित किया। समस्त देश अलख जगानेवाले गुरुओं से भर गया था। उनकी एक विराट वाहिनी अवश्य ही तैयार होगई होगी जो समय-समय पर जनता को आतंकित करती रहती होगी इसीलिए सन्त कवियों ने जहाँ एक ओर सद्‌गुरु की शरण में जाने के लिए उपदेश दिया है, वहाँ उसके साथ ही उसकी पहचान पर ज़ोर भी दिया है। उन्होंने ढोंगी गुरुओं से बचने के लिए चेतावनी भी दी है। सुन्दरदास ने ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाने के लिए उपदेश दिया है जो समदृष्टि-वान हो, गम्भीर हो, जो सांसारिकों से भिन्न गति एवं मति रखता हो और जिसमें इतनी शक्ति हो, इतनी साधना हो कि पल-मात्र में शिष्य या साधक को निहाल कर दे—

समदृष्टी सीतल सदा अद्‌भुत जाकी चाल।
ऐसा सतगुरु कीजिए पल पल करै निहाल॥

गरीबदास ने तो स्पष्ट शब्दों में गुरु के लक्षणों का उल्लेख भी कर दिया है—

सतगुरु के लच्छन कहूँ अचल विहंगम चाल।
हमे अमरपुर लेगया ज्ञान सबद के नाल॥

झूठे गुरु से कबीर बहुत ही चिढ़े और रुष्ट प्रतीत होते हैं। निम्नलिखित साखियों से उन झूठे कनफुका गुरु की रूप-रेखा निर्धारित की जा सकती है—

१ कनफूका गुरु हद्द का बेहद का गुरु और।
बेहद का गुरु जब मिलै तब लहै ठिकाना ठौर॥

२ पूरा सतगुरु ना मिला सुनी अधूरी सीख।
स्वाँग जती का पहिरि के घर घर माँगै भीख॥

३ गुरू गुरू में भेद है गुरू गुरू में भाव।
सोई गुरू नित्य बंदिये जो सबद बतावै दाँव॥

४ झूठे गुरू के पच्छ को तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै सबद का भटकै बारम्बार॥

---

१ ... ... पृ० ६६६।७
२ ... ... पृ० ६६६।६
३ ... ... पृ० ६६६।११
४ ... ... पृ० ६६७।१६

झूठे गुरु के विषय सहजोबाई का कथन पठनीय है—

सहजो गुरु बहुतक फिरै ज्ञान ध्यान सुधि नांहि।
तार सकैं नहिं एक कूं गहैं बहुत सी बांह॥

झूठे ही काव्य तथा साखियों की रचना करके जनता पर गुरुडम का प्रभाव जमाने वाले गुरुओं के विषय में गरीबदास कहते हैं—

अंधे गूंगे गुरु घने लँगड़े लोभी लाख।
साहब से परचै नहीं काव्य बनावै साख॥

चरनदास जी कनफूंका और सद्‌गुरु में अंतर दिखाते हुए कहते हैं कि वे द्रव्य कमाने के हेतु घर-घर कंठी बाँटते फिरते हैं। कनफूका कहते हैं "कछू लाय मोहि देहु" और इसके विपरीत सतुगुरु कहते हैं कि "मुझ से नाम धनी का लेहु"। दोनों के सिद्धांतों में आधारभूत अंतर है। सुन्दरदास ने भी 'सुन्दर-विलास' ग्रन्थ में इन कनफूका गुरुओं के विषय में कई एक सवैया की रचना की है। इन छन्दों में से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कोउ विभूत जहा नख धारि कहैं यह भेष हमारौ हि आदू।
कोउक काँन फराइ फिरै पुनि कोउक सींग बजावत नादू॥
कोउक केश लुचाइ करै ब्रत कोउक जंगम कै शिव बादू।
ये सब भूलि परे जित ही तित सुन्दर कै उरहै गुरु दादू॥ स० ग्र० २।३८५

सुन्दरदास के अनुसार "सद्य शिष्य पलटै सु सत्य गुरु जानिये"—

लोह कौ ज्यौं पारस पषान हूँ पलटि लेत।
कंचन छुवत होइ जग मैं प्रवांनिये॥
द्रुम कौं ज्यौं चन्दन हू पलटि लगाइ बास।
आपुके समान ताके शीतलता आनिये॥
कीट कौं ज्यौं भृंग हू पलटि कै करत भृंग।
सोउ उड़ि जाइ ताकौ अचिरज़ मांनिये॥
सुन्दर कहत यह सगरै प्रसिद्ध बात।
"सद्य शिष्य पलटै सु सत्य गुरु जानिये" ॥ सु० ग्रं भा० २।३८८

सोऽहं

'सोऽहम्' का अर्थ है 'वही (परब्रह्म) मैं हूँ।' 'सोऽहम्' का मुख्य सिद्धांत है ब्रह्म और जीव की अभिन्नता एवं एकता। 'सोऽहम्' ब्रह्म-रूप के चिन्तन का दृढ़ आधार और उच्च-सोपान है। सन्तों ने इसी आधार का आश्रय ग्रहण करके साधना के क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। हिन्दी के सन्त कवियों के काव्य-साहित्य में 'सोऽहम्' अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर एवं सुन्दरदास ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में अपने को ब्रह्म-मय अथवा "वही ब्रह्म में हूँ" उद्घोषित किया है। 'सोऽहम्' में साधक की अनुभूति की गहनता और गम्भीरता दृष्टिगत होती है। वेदों से लेकर सन्तों के साहित्य तक 'सोऽहम्' का महत्त्व और विशेषता वर्णित है। 'सोऽहमवाद' की इस महान् परम्परा में सन्तों के साहित्य का विशेष स्थान है। कारण कि भारतीय धर्म और दशा के महान् संक्रांति काल में भी सन्तों ने इस सिद्धांत को सजीव रखा। भेद भाव के आधार पर निर्मित समाज में इन सन्तों ने ही प्रत्येक वर्ग एवं वर्ण के व्यक्तियों को समानरूप से 'सोऽहम्' की अनुभूति का अवसर प्रदान किया। 'सोऽहम्' विषयक सुन्दरदास के विचारों का अध्ययन करने के पूर्व 'सोऽहम्वाद' के सिद्धांतों का विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सांख्ययोग प्रकरण में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि सांख्ययोग के अन्तर्गत पुरुष एवं प्रकृति को नित्य पदार्थ माना है। इन दोनों ही में सांख्ययोग के आचार्यों ने पुरुष को उदासीन एवं प्रकृति को समस्त भ्रमों का मूल स्रोत प्रधान उद्गम एवं कर्मशीला माना है। इसी कारण सांख्ययोग ने ज्ञान द्वारा कष्टों के निवारण का मार्ग प्रदर्शित किया है। *कुछ समय के अनन्तर* कतिपय विचारकों ने सांख्य के इन दो तत्वों पुरुष एवं प्रकृति में एक और तत्व ईश्वर को जोड़ दिया। सांख्य में विचार विषयक इस विकास के अनन्तर कतिपय सुधारवादी विचारकों ने सांख्य के इन तत्वों और लक्ष्यों को स्वीकार करते हुए भी उसमें अनुभूत के अभाव को दूर करने का प्रयास किया। उन विचारकों ने "ईश्वरासिद्धेः" की अपेक्षा 'सोऽहम्' सिद्धांत को स्वीकार किया। "ईश्वरासिद्धेः" के स्थान पर 'सोऽहम्' की प्रतिष्ठा करके उन्होंने सांख्य दर्शन को अधिक रुचिकर एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया। 'सोऽहंवाद' के प्रस्तुत विकास से ईश्वर निरीश्वर के विवाद को प्राधान्य न देकर समस्त मानव को ब्रह्म का स्वरूप देकर अथवा ब्रह्म के रूप में मानकर उसे एक समान शक्तियों से सम्पन्न, एक ही आदर्श, एक ही लक्ष्य की ओर गतिमान किया। 'सोऽहंवाद' के सिद्धांतों के प्रचार एवं प्रसार से ऐक्य संस्थापना हुई एवं पारस्परिक अन्तर भी दूर हो गया।

'सोऽहं' के दार्शनिक सिद्धांतों में जीव एवं ब्रह्म में पूर्ण साम्य है, उनमें भेद एवं अन्तर के हेतु कोई स्थान नहीं है। जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता ही 'सोऽहम्वाद' का प्रधान लक्ष्य है। 'सोऽहंवाद' और सांख्य में विचारधारा एवं आदर्श विषयक प्रायः सब प्रकार का साम्य है। सांख्य में ब्रह्म-प्राप्ति का भाव मान्यता नहीं प्राप्त कर सका तो 'सोऽहंवाद' में ब्रह्म की प्राप्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है कारण कि जीव और ब्रह्म में नितांत अभिन्नता है। सांख्य में पुरुष एवं प्रकृति तत्व मान्य हुए हैं तो सांख्य में ब्रह्म एवं प्रकृति। सांख्य में क्लेशों का दोष और मूलकारण भ्रांति माना गया है, तो 'सोऽहंवाद' में क्लेशों का दोष अविद्या मान्य हुआ है। सांख्य में अपवर्ग प्राप्ति का साधन ज्ञान है, 'सोऽहं' में भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान साधन माना गया है। सांख्य में यह दृश्य जगत् अनित्य एवं मायिक है, तो 'सोऽहं' में भी संसार मायिक, क्षणिक और मिथ्या माना गया है। पर 'सोऽहं' के प्रचारकों को सांख्य की यह विचारधारा शुष्क और अप्रिय प्रतीत हुई इसलिए उन्होंने योग के ब्रह्म और सांख्य के पुरुष का समन्वय कर 'सोऽहं' द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रह्म एवं जीव के मध्य दृष्टिगत होने वाला भेद ही 'माया' है। सोऽहंवादियों ने जीव को न केवल ब्रह्म से अभिन्न माना वरन् उन्होंने ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप बता कर जीव को भी सच्चिदानन्द ही उद्घोषित किया। इस दृष्टिकोण से 'पंचदशी' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है—

अवेद्योऽप्यपरोक्षोतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्॥
(पंचदशी ३।२८)

वेदांत का प्रारम्भिक एवं पुरातन रूप 'सोऽहम्वाद' के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। इसका समर्थन सांख्य से हुआ और पुराणों एवं उपनिषदों में इस रूप में विद्यमान है। बाद में लिखित उपनिषदों में यह 'सोऽहं' ने ब्रह्मवाद का रूप ग्रहण कर लिया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त उस महान् पुरुष के निम्नलिखित रूप चित्रण में मानव की रूप-रेखा का साम्य परिलक्षित होता है—

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिंद्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदंतरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१५॥
(ऋग्वेद १०।६०)

अर्थात् उसके नेत्र से सूर्य, मस्तिष्क से सुधांशु मुख से इन्द्र एवं अग्नि, सांस से वायु नाभी से हवा, शिर से आकाश एवं पैर से पृथ्वी का जन्म हुआ। उस विराट पुरुष के रूप

का वर्णन अथर्ववेद में भी उपलब्ध होता है। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के उस वर्णन में पूर्णसाम्य उपलब्ध होता है। अथर्ववेद के अनुसार—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यंतस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥

अर्थात् पृथ्वी उस विश्व पुरुष का पैर है, वायु उदर है, सूर्य चन्द्र नेत्र हैं, अग्नि मुख है एवं हवा ही सांस है। ऋग्वेद में तो और भी स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं जिनके अनुसार जीव में ही ब्रह्म की व्यापकता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रमाण के लिए प्रस्तुत श्लोक भी पठनीय एवं विचारणीय है—

अनच्छये तुरगातु जीव मेजद्ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरित स्वधारभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥
(ऋग्वेद १।१६४।३१)

इस प्रकार वेदों में मानव और ब्रह्म में ऐक्य अभिन्नता स्थापित करने में बड़ी सहायता प्रदान की। वेद के पाठकों एवं अध्ययन करने वालों ने यजुर्वेद के, निम्नलिखित श्लोक के द्वारा ब्रह्म एवं जीव की एकात्म की ही सुन्दर व्याख्या पा कर सूत्र रूप में 'सोऽहम्' को मूल सिद्धांत निर्धारित किया—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्मुखम्।
योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम् ॥ ओ३म् खम्ब्रह्म ॥
(शुक्ल यजुर्वेद ४०।१७)

इस प्रकार से वेद का मूल सिद्धांत 'सोऽहं' के रूप में निर्धारित हुआ। वेदांतियों ने 'सोऽहंवाद' के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता का प्रचार किया। जनता के लिए 'सोऽहंवाद' बड़ा ही आकर्षक सिद्धांत प्रतीत हुआ। साधकों को इस मूल सिद्धांत एवं मंत्र से साधना में बल मिला। 'वही मैं हूँ' के भाव ने साधकों में आत्मिक बल की प्रतिष्ठा की। उसके समान उच्च एवं महान् बनने के लिए साधकों को प्रेरणा मिली। इस प्रकार कालान्तर में 'सोऽहम्वाद' के समर्थक बढ़े। ईश्वरोपनिषद[1], बृहदारण्यकोपनिषद्[2], श्वेताश्वतर[3] में

[1] वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त थं शरीरम् (ईशोपनिषद १७)

[2] बृहदारण्यकोपनिषद ३।२।१३ तथा

स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्त्तिंश्लोके विन्दते य एवं वेद।
बृहदारण्यकोपनिषद १।४-७

[3] श्वेताश्वतर २-१५

इस सूत्र का उल्लेख बार-बार हुआ है। बृहदारिण्यकोपनिषद में एक स्थान पर ब्रह्म को आत्मा में ही प्राप्य बताया गया है। इसी भाव का समर्थन छान्दोग्य[1], तैत्तिरीय[2] एवं मैत्री[3] द्वारा अनेक बार अनेक स्थलों पर हुआ है। 'सोऽहंवाद' की भावना के विकास में छन्दोग्य उपनिषद एवं बृहदारण्यकउपनिषद् का विशेष हाथ रहा। बृहदारण्यक उपनिषद् का निम्नलिखित उद्धरण 'सोऽहं' के भाव को कितने स्पष्ट, निकट और सत्य रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित करता है—

योऽसा वसौ पुरुषः सोऽहमस्मि
(५-१५-१)

मानव और ब्रह्म की एकात्मकता का एक और उद्धरण ईशोपनिषद् से उद्धृत किया जाता है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य आजायत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोहऽमस्मि।

ईशोपनिषद १६

सोऽहम्वादी प्राप्ति, सिद्धि और मुक्ति के लिए व्यर्थ ही साधना नहीं करता फिरता है। 'सोऽहं' के सिद्धान्त को हृदयंगम कर लेने के पश्चात् उसके लिए सिद्धि निःसार, प्रयोजन-रहित और आकर्षणरहित सिद्ध हो जाती है। वह जानता है कि उससे परे, कुछ भी नहीं है, वही सर्वत्र व्याप्त है और वह स्वयंही 'वह' है 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' पद पर स्थापित होने के अनन्तर उसमें अभिलाषाएँ नहीं उत्पन्न होतीं, कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, लोकाचार

---

[1]समान उ एवायं चासौ चोष्णौऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीतममाचक्षते स्वरइति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममभुं चोद्गीथमुपासीत

छान्दोग्य० १-३-२

एवं:—अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सेवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यै तस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नान तन्नाम। छान्दोग्य० १-७-५

[2]स य श्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। तैत्तिरीय २-८

[3]यश्चैषोऽग्नौ पश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये
स एष एका इत्येकस्य हैकत्वमेति य एवं वेद।

मैत्री ६ १७

से घृणा हो जाती है, समाज विनिर्मित नियमो की वह परवाह नही करता है, ससार उसे प्रतिकूल मार्ग पर अग्रसर दीख पडने लगता है। इसीलिए वह अपने ससार मे विचरण करता रहता है। उसके ससार में न दुख हैं, न सुख है, न हर्ष है, न विषाद है, न प्रलोभन है, न पुरस्कार है, न उच्च है, न नीच है। उसके ससार मे केवल वही है, वह विश्वात्मा के रूप मे अपने को कण-कण मे व्याप्त देखता है। माया उसका स्पर्श तक नही कर पाती है। शाति, सरलता, निष्पक्षता, और निर्लिप्तता उसकी प्रकृति के विशेष गुण बन जाते हैं। वह मानव-मानव मे भेद की भावना विसर जाता है। इसी स्तर पर पहुँचकर ईसा ने कहा था "I and my Father are one"

ईसा की उपर्युक्त उक्ति से स्पष्ट है कि 'सोऽह' की अनुभूति के अनन्तर मानव अन्य मनुष्यो से अपना भेद नहीं समझता अथवा कहिये कि उसकी समस्त भेद-बुद्धि विलीन हो जाती है और उसके हृदय एव मस्तिष्क मे 'सोऽह' भावना विद्यमान होने के कारण समता एव अभिन्नता की भावना अकुरित एव पुष्पित हो उठती है। मानव-मानव मे अभिन्नता है, मानव 'वही ब्रह्म' स्वय है। 'सोऽह' की यह भावना हिन्दी के सन्त कवियों मे अत्यधिक उपलब्ध होती है। कबीर दास, सुन्दरदास, पलटू साहब, गुलाल साहब, गरीबदास, दयाबाई, बुल्लेशाह, मलूकदास आदि के साहित्य मे उनकी 'सोऽह' की अनुभूति समान रूप से अभिव्यक्त मिलती है।

सत कवि भीखा 'सोऽह' को 'आत्मा' देखने का एक बहुमूल्य साधन मानते हैं जिसकी अनुभूति युक्तिपूर्वक योगाभ्यास से ही सम्भव है।[1] दयाबाई के अनुसार 'सोऽह' वह अजपाजप है जिसकी साधना के द्वारा मनुष्य पाताल से आकाश मे गति प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि 'सोऽह' की साधना मे मानव ब्रह्ममय हो जाता है।[2] सन्त कवि मलूकदास ने बारम्बार 'सोऽह' साधना का उपदेश दिया है, कारण कि 'सोऽह' साधना मात्र से जीव ब्रह्ममय हो जाता है और भव-बाधाओ से ऊपर हो जाता है। ससार के त्रय तापों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।[3] गुलाल साहब[4] और कबीरदास[5] ने 'सोऽह' को

---

[1]जोग जुक्ति अभ्यास करि सोह सबद समाय।
भीखा गुरु परताप ते निज आतम दरसाय॥
स० वा० सा० भाग १, पृ० २१०

[2]अजपा सोह जाप है परम गम्य निज सार। स० वा० स० भाग १ पृ० १६९

[3]सन्तो सोहं साधन कीजै।
सोह साधन ते ताप मिटत है, जीव ब्रह्म होइ जाये।
शब्द सग्रह (अप्रकाशित)

[4]स० वा० स० भाग २, पृ० २०५

[5] " " पृ० ७

ब्रह्म तक पहुँचने की डोरी माना है। इसी प्रकार बुल्ला साहब की निम्नलिखित पंक्तियाँ बड़ी रोचक प्रतीत होती हैं—

सोहं हंसा लागलि डोर
सुरति निरति चढ़ु मनवाँ मोर ॥१॥
झिलिमिलि झिलिमिलि त्रिकुटी ध्यान
जगमग जगमग गगन तान ॥२॥
गह गह गह अनहद निसान।
प्रान-पुरुष तहँ रहत जान ॥३॥
लहरि लहरि उठि पछिव घाट
फहरि फहरि चल उतार वाट ॥४॥
सेत बरन तह आवै आप
कह बुल्ला सोइ माइ बाप ॥५॥[1]

गरीबदास जी ने 'सोऽहं' को ही ब्रह्म माना है—

तुमही सोहं सुरत हौ तुमही मन अरु पौन।
इसमें दूसर कौन है आवै जाय सो कौन ॥
स० वा० स० भाग १ पृ० १६२

इन सन्तों की तुलना में से सुन्दरदास के काव्य में 'सोऽहं' का भाव बड़े ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत कथन की समर्थक हैं—

सब संसार आप मैं दिषै। पूरण आपु जगत महिं पैषै।
आपुहि करता आपुहि हरता। आपुहि दाता आपुहि भरता ॥
आप ब्रह्म कुछ भेद न आनैं। अहं ब्रह्म ऐसै करि जानैं।
अहं परात्पर अहं अखंडा। व्यापक अहं सकल ब्रह्मंडा ॥
अहं निरंजन अहं अपारा। अहं निरामय अरु निरकारा।
अहं निलेप अहं निज रूपं। निर्गुण अहं अहं सु अनूपं।
अहं सुख रूप अहं सुख राशी। अहं सु अजर अमर अविनाशी।
अहं अनन्त अहं अद्वीता। अहं सु अज अव्ययं अभीता।
अहं अभेद्य अछेद्य अलेषा। अहं अगाध सु अकल अदेषा।
अहं सदोदित सदा प्रकाशा। साक्षी अहं सर्व महिं बासा।
अहं शुद्ध साक्षात सुन्यारा। कर्ता अहं सकल संसारा।
अहं सीव सूक्ष्म सब सृष्टा। अहं सर्वज्ञ अहं सब दृष्टा।

---

[1] स० वा० स० भाग २, पृ० १७१

अहं जगन्नाथ अहं जगदीशा। अहं जगपति अहं जगईशा।
अहं गोविंद अहं गोपालं। अहं ज्ञान धन अहं निरालं॥
(सु० ग्र० भाग १, पृ० ११२-११३)

तथा :

सोहं सोहं सोहं हंसो। सोहं सोहं सोहं अंसो।
स्वासो स्वासं सोहं जापं। सोहं सोहं आपै आपं॥
(सु० ग्र० भाग १, पृ० ४७)

इन पंक्तियाँ से कवि की 'सोऽहं' विषयक धारणा स्पष्ट हो जाती है। "अहं जगन्नाथ अहं जगदीशा।" "अहं जगपति अहं जगईशा।" "अहं गोविंद अहं गोपालं।" आदि पंक्तियों से 'सोऽहं' की भावना स्पष्ट रूप में प्रकट होती है।

स्फुट काव्य में एक स्थान पर कवि ने 'सोऽहं' को अद्वितीय जाप माना है। कवि के शब्दों में ही—

प्रीति सी न पाती कोऊ प्रेम से न फूल और,
चित्त सों न चन्दन सनेह सों न सेहरा॥
हृदय सों न आसन सहज सों न सिंहासन,
भाव सी न सेज और सून्य सों न गेहरा॥
सील सों न स्नान अरु ध्यान सों न धूप और,
ज्ञान सों न दीपक अज्ञान तम केहरा॥
मन सी न माला कोऊ सोहं सो न जाप और,
आतम सों देव नाहि देहं सों न देहरा॥
(स० वा० स० २, पृ० १२५)

रेखांकित पंक्ति में कवि ने 'सोऽहं' को जप, ध्यान और साधना का श्रेष्ठ साधन माना है।

शून्य

'शून्य' शब्द का अर्थ है 'अभाव' वा 'नास्ति'। जिसका अस्तित्व नहीं है, जो वर्तमान नहीं है, वही 'शून्य' है। जिसका अस्तित्व असार है अथवा मूल्यहीन है वह 'शून्य' है। सन्तो ने ससार मे 'राम' और 'नाम' के अतिरिक्त सभी कुछ शून्य कहा है। तात्विक दृष्टि से *उनका तात्पर्य यही था कि ससार में सभी वस्तुए अविद्या माया से आवृत है। माया विनाशशील है इसीलिए उससे आवृत वस्तु या व्यक्ति विनाशशील है।* जिस दृष्टिकोण से उन्हाने ससार को देखा था वह प्रत्येक वस्तु मे अस्थायित्व देखता था, प्रत्येक व्यक्ति मे विनाश के तत्व देखता था। वस्तुत इसी कारण उन्होने इस समस्त ससार को 'शून्य' कहा। समक्ष भवन खड़ा है, प्रासाद वर्तमान है, उस पर चित्रकारी अकित है, आवश्यक सामग्री से सुसज्जित है, पायलो के मधुर सगीत की ध्वनि से भरा हुआ है पर सन्तों ने उसे भी 'शून्य' कहा। यही नही पर्वत जिन्हे हम अचल कहते हैं, अटल समझते हैं, उन्हे भी 'असार' और 'शून्य' कहा गया है। सन्तो मे से प्राय सभी ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है और एक विशिष्ट अर्थ मे।

सन्तों का आविर्भाव बौद्धों की परम्परा मे हुआ। सन्तो की विचारधारा पर बौद्धो की धार्मिक विचारधारा एव चिन्तन की छाया स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होती है। सन्तो ने बौद्धों की अनेक विचार धाराओ को यथातथ्य ग्रहण कर लिया है। उसी प्रकार उन्होने बौद्धो के परम्परा मे प्रयुक्त अनेकानेक शब्दो को भी यथातथ्य हू-ब-हू अपना लिया है। 'शून्य' शब्द भी उन्ही अनेक शब्दो मे है जिसका जन्म बौद्धो के द्वारा होकर सन्तो के शात साहित्य तक जीवित दृष्टिगत होता है। 'शू' तथा 'न्य' अक्षरों से विनिर्मित शून्य अपने बाह्य रूप मे प्राय सभी द्वारा ग्रहीत हुआ पर उसकी आत्मा को प्रत्येक धारा अपनी इच्छा-नुसार अपने अभिप्राय के अनुकूल अपने वेग मे बहा ले गई। "शून्य मितिइण ससार" सिद्धान्त को तो सभी ने स्वीकार किया पर 'शून्य' किस प्रकार हुआ और किस प्रकार मान्य है इसमे वाद-विवाद और मतभेद है। 'शून्य' के वाह्यावरण पर मतैक्य रहा पर मतातर पड़ा जाकर "केन प्रकारेण" पर।

'शून्य' शब्द हमारे धार्मिक साहित्य के लिए क्या सर्वथा अभिनव है? नहीं। वह भाषा में अन्य शब्दों के साथ बना और प्रयुक्त हुआ। अन्तर यहाँ केवल प्रयोग मे है। वैदिक साहित्य में 'शून्य' का जिस दिशा से प्रयोग हुआ है उससे कुछ भिन्न ही अर्थ मे प्रयोग हुआ बौद्ध धर्म में। फिर महायान सम्प्रदाय मे जाकर शून्य शब्द एक 'वाद' का वाहक बना

और एक सिद्धान्त का जन्मदाता। महायान सम्प्रदाय में स्वतः 'शून्य' के नामकरण पर विद्वानों और विचारकों का मत-वैषम्य है। सिद्ध सम्प्रदायावलम्बी साधकों ने इसका प्रयोग किया, नाथ सम्प्रदायवालों ने भी किया पर दोनों के प्रयोगों में कुछ अन्तर रहा। *वास्तव में 'शून्य' शब्द भारतीय साहित्य के अत्यधिक मनोरंजक शब्दों में से एक है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में क्यों किया, इसका उत्तर तो कोई भाषा शास्त्री ही दे सकेगा।*

भगवान गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों का पूर्ण परिपाक माध्यमिक मत के अन्तर्गत माना जाता है। इसी मत में बुद्ध की शिक्षाओं के सिद्धान्तों की आत्मा झलकती है। नागार्जुन महायान सम्प्रदाय के अनन्य प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने माध्यमिक मत की तार्किक विवेचना की। इस मत के जिन सिद्धांतों की व्याख्या 'प्रज्ञापारमित सूत्रों' में हो चुकी थी, नागार्जुन ने उन्हीं को विवेचना और प्रसार के लिए 'माध्यमिक कारिका' की रचना की। बुद्ध ने जीवन की दो चरम सीमाओं-अखंड तापस एवं भोग विलास का त्याग कर मध्यस्थ मार्ग की शरण ग्रहण की। इसी कारण इस सिद्धान्त का नामकरण "मध्यम मार्ग" हुआ। तत्व विवेचन में शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के दोनों एकांगी मतों का परिहार कर आपने 'मध्यम मत' को ग्रहण किया। बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त को विकसित कर 'शून्यवाद' की प्रतिष्ठा की गई। अतः बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित 'मध्यम मार्ग' के दृढ़ पक्षपाती होने के कारण यह माध्यमिक संज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा 'शून्य' को परमार्थ मानने से 'शून्यवादी' कहा जाता है। 'माध्यमिक' मार्ग के प्रचार एवं प्रसार में नागार्जुन का बड़ा हाथ रहा। 'माध्यमिक कारिका' की रचना करके जहाँ एक ओर उन्होंने अपनी तार्किक प्रतिभा, असाधारण पांडित्य का उदाहरण प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी ओर जगत की सम्पूर्ण धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निःसार उद्घोषित किया। विक्रम की द्वितीय शती में इन्हीं के विचारों को अधिक स्पष्ट करने के हेतु इन्हीं के शिष्य आर्यदेव ने एक ग्रन्थ की रचना की। तृतीय एवं चतुर्थ शताब्दी (विक्रमीय) में कोई बड़ा विद्वान नहीं हुआ, जो इस दिशा में (शून्यवाद के लिए) कुछ लिखता। पाँचवीं शताब्दी में महायान सम्प्रदाय की विचारधारा के दूसरे अंग 'विज्ञानवाद' का प्राबल्य रहा। छठीं शताब्दी में 'शून्यवाद' का पुनः विकास हुआ, पर वह हुआ दक्षिण में। आचार्य भव्य ने उड़ीसा प्रान्त तथा आचार्य बुद्धपालित ने बलमीर (गुजरात) प्रदेश में इसका प्रचार किया। यद्यपि ये दोनों ही आचार्य 'शून्यवाद' के ही प्रचारक थे, पर दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर था। बुद्धपालित के मतानुसार 'शून्यता' के व्याख्यार्थ समस्त तर्क व्यर्थ हैं। ये 'शून्यता' के ज्ञान का प्रसाधन प्रतिभा चक्षु ही मानते थे। इसी कारण इनके द्वारा सम्पादित सम्प्रदाय

'माध्यमिक प्रासंगिक' नाम से विख्यात हुआ। आचार्य भव्य ने नागार्जुन प्रतिपादित विचार-धारा 'माध्यमिक मत' को जनता में समझाने के लिए स्वतंत्र एवं नवीन तर्कों की सहायता ली। फलतः इनके सम्प्रदाय का नाम हुआ 'माध्यमिक स्वातन्त्रिक'। जनता पर इस प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा। सप्तम शताब्दी (विक्रमीय) में आचार्य चन्द्रकीर्ति के द्वारा 'शून्यवाद' के सिद्धान्तों का चरम विकास हुआ। इन्होंने अपने तर्कों के द्वारा आचार्य भव्य के तर्कों को निर्मूल सिद्ध कर दिया और इस प्रकार चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि में 'शून्यवाद' के सिद्धान्तों के साथ ही अपनी ख्याति को स्थायित्व प्रदान किया। आचार्य चन्द्रकीर्ति के पश्चात् शान्तिदेव का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने भी 'शून्यवाद' के प्रचार के लिए तीन ग्रन्थों की रचना की। तिब्बत प्रदेश में वे अपनी ख्याति से आज भी जीवित हैं, यद्यपि उनके भौतिक शरीर को सप्तम शताब्दी में ही निर्वाण प्राप्त हो गया था। अष्टम शताब्दी में 'माध्यमिक स्वतंत्र' सम्प्रदाय के आचार्य शान्तिरक्षित स्मरणीय हैं। इनका निर्वाण काल सन् ७६२ ई० मान्य है। सन् ७४६ ई० में तिब्बत के राजा के निमन्त्रण पर वहाँ जाकर इन्होंने वहाँ पर बड़ी लगन के साथ जनता में भगवान् के सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस प्रकार से अष्टम शतक तक बौद्ध धर्म में 'शून्यवादी' विचार कई धाराओं में प्रवाहित हुआ। निम्नांकित स्केच से इसका सम्यक् परिचय प्राप्त हो जाता है—
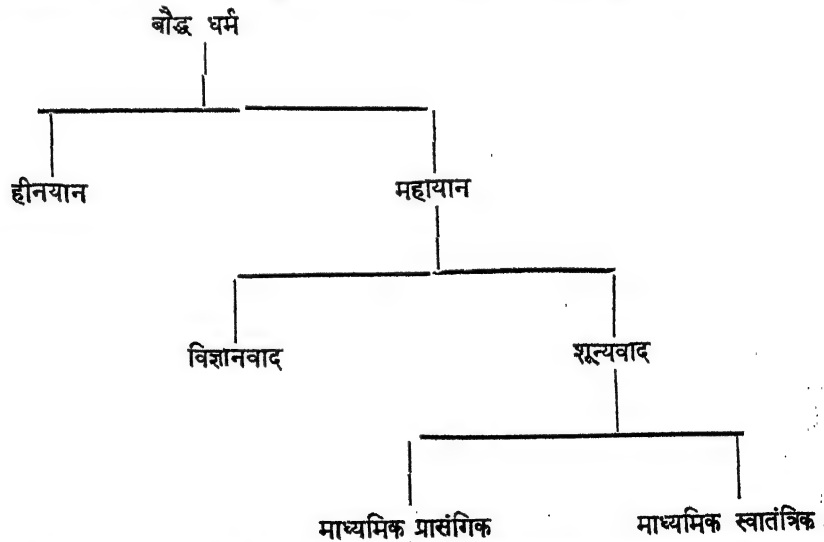
सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से 'शून्यवाद' के सिद्धान्तों को कई विद्वानों एवं प्रचारकों ने जनता में प्रचारित किया। इन सिद्धान्तों की सूची अगले पृष्ठ पर दी गई है—

क्रम संख्या	सिद्धान्त
१.	ज्ञान मीमांसा
२.	सत्ता परीक्षा
३.	कारणवाद
४.	स्वभाव परीक्षा
५.	द्रव्य परीक्षा
६.	जाति
७.	संसर्ग विचार
८.	गति परीक्षा
९.	आत्म परीक्षा
१०.	कर्मफल परीक्षा
११.	ज्ञान परीक्षा
१२.	सत्ता मीमांसा
१३.	परमार्थ सत्य
१४.	व्यवहार की उपयोगिता

'शून्य' शब्द तथा 'शून्यवाद' को समझने के लिए इनका अत्यंत संक्षिप्त विवरण आवश्यक प्रतीत होता है।

ज्ञान मीमांसा—सर्वप्रथम सिद्धान्त है 'ज्ञान मीमांसा' का। नागार्जुन ने अपनी तर्क-प्रतिभा के आधार पर यह सिद्ध किया कि यह जगत मायिक है। स्वप्न जगत के पदार्थों की भाँति संसार भी निःसार, निराधार और क्षणिक है। संसार असिद्ध सम्बन्धों का संग्रह मात्र है। इस संसार में सुख, दुख, गति, विराम, बन्ध और मोक्ष आदि समस्त धारणाएँ स्वप्नवत् शून्य एवं कल्पना उद्भूत हैं।

सत्ता परीक्षा—इसके अन्तर्गत 'माध्यमिक' आचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समस्त सत्ता 'शून्य' रूप है। प्रमाण एवं तर्क सत्ता को प्रमाणित करने में असमर्थ हैं। भगवान् बुद्ध का कथन "नहि चित्तं चित्तं पश्यति" इस सिद्धान्त का समर्थक है। चित्त स्वयं ही अपने को देखने में सर्वथा असमर्थ है। तीक्ष्ण असिधार दूसरी वस्तुओं को काटने में समर्थ है, स्वतः अपने को नहीं।[1] ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं। तीनों का

[1] बौद्ध दर्शन, बल्देव उपाध्याय, पृष्ठ ३१२—३१३

त्रिस्वभाव होना सम्भव नहीं है। आर्यरत्न चूड़सूत्र की उक्ति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। चित्त का विकास, उसकी उत्पत्ति आलम्बन के अभाव में सम्भव नहीं है। चित्त आलम्बन से न भिन्न है और न अभिन्न। तलवार से कहीं तलवार काटी जा सकती है?

कारणवाद—दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों का दृढ़ विश्वास है कि जगत् का संचालन कार्य-कारण नियम के आधार पर होता है, पर इस बात का श्रेय नागार्जुन को है कि उन्होंने तर्क के आधार पर इसको निःसार सिद्ध कर दिया। कार्य-कारण की स्वतन्त्र रूपेण कल्पना निराधार है। कोई भी पदार्थ कार्य एवं कारण से भिन्न नहीं माना जा सकता है। नागार्जुन ने सिद्ध किया कि पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं और न दूसरों की सहायता से उत्पन्न होते हैं।

स्वभाव परीक्षा—संसार के समस्त पदार्थ किसी हेतु से उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें स्वतंत्र सत्तावान नहीं सिद्ध किया जा सकता है। आलम्बन के हटते ही अवलम्बित पदार्थ स्वतः विनष्ट हो जाता है। अतएव संसार में किसी पदार्थ की स्वतन्त्र-सत्ता कल्पना मात्र है।

द्रव्य परीक्षा—सामान्यतया जगत में द्रव्य की सत्ता मात्र हैं पर परीक्षोपरान्त वह कल्पना मात्र रह जाती है। नागार्जुन ने द्रव्य के पारमार्थिक रूप का निषेध करके भी व्यावहारिक रूप का अपलाभ नहीं किया है।

जाति—जाति का रूप, आकार क्या है? क्या यह उन पदार्थों से पृथक् है जिनमें इसके निवास की कल्पना है? तर्कों पर नागार्जुन ने इसे शून्य सिद्ध किया। इसे सत्ताहीन और निराधार माना है।

संसर्ग विचार—संसार सम्बन्ध का समुदाय माना गया है। पर यह संसर्ग का सम्बन्ध असत्य है। अतः जगत् की कल्पना निर्मूल है।

गति परीक्षा—माध्यमिक परीक्षा के द्वितीय प्रकरण में नागार्जुन ने लोक-प्रचलित गति या गमन-क्रिया की तीव्र आलोचना की। उनके अनुसार गति और स्थिति दोनों ही मायिक हैं।

आत्म परीक्षा—उक्त ग्रन्थ के १८वें प्रकरण में लेखक ने 'आत्म-परीक्षा' पर विचार किया है। "अभी जो द्रव्य की कल्पना समझाई गई है उससे स्पष्ट होगा कि गण-समुच्चय के अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी नियम का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि मानस व्यापारों के अतिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ की पृथक् सत्ता नहीं है।" नागार्जुन की विशाल समीक्षा का सार प्रस्तुत श्लोक है—

आहमेत्यपि प्रज्ञापित मनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धै नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ॥
(मा० का० १८-६)

कर्मफल परीक्षा—कृत कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है, यह लोक-विश्वास है। पर कर्मफल के इस सिद्धान्त की नागार्जुन ने बड़ी निन्दा की है। उन्होंने कहा है कि आवश्यक नहीं है कि कर्म का फल प्राप्त ही हो। नागार्जुन के शब्दों में :

फलेऽसति न मोक्षाय न स्वर्गायोपपद्यते ।
मार्गः सर्वक्रियाणां च नैरर्थक प्रसज्जते ॥

ज्ञान परीक्षा—ज्ञान का स्वरूप बड़ा ही विवादपूर्ण है। दर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्श और मन ये ६ इन्द्रियाँ हैं। विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के साधन से होता है। पर यह सत्य नहीं है, आभास मात्र है जो निरा निराधार है। साधारण दृष्टि से चाहे वे सत्य प्रतीत हों पर तथ्य तो प्रतिकूल है। नागार्जुन की तर्क-समीक्षा का यही प्रतिफल है कि 'शून्य' ही एक मात्र सत्ता है। जगत् प्रतिबिम्बवत् क्षणिक है।

परमार्थ सत्य—वस्तु का वास्तविक स्वरूप ही सत्य है, परमार्थ है। वस्तु को यथार्थ रूप में देखने वालों का सत्य साम्वृतिक सत्य से सिद्धान्ततः भिन्न है। वास्तव में परमार्थ है समस्त धर्मों की निःस्वभावता। संसार के सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही परमार्थ का स्वरूप है। हेतु प्रत्यक्ष से समुत्पन्न होने के कारण उसका कोई विशिष्ट रूप नहीं है। निर्वाण ही परमार्थ सत्य है, परमार्थ सत्य मौन रूप है।

व्यवहार की उपयोगिता—व्यवहार के आश्रय के अभाव में परमार्थ का उपदेश सम्भव नहीं है और परमार्थ के बिना निर्वाण असम्भव है। नागार्जुन के शब्दों में—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते ।
परमार्थक नागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

इस प्रकार 'माध्यमिक प्रासंगिक' के प्रतिपादक नागार्जुन ने इन उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर तर्क के द्वारा जगत के सभी तत्वों को निःसार, शून्य निर्धारित किया। नागार्जुन द्वारा तार्किक दृष्टि से शून्य सिद्ध होने वाले इन सिद्धान्तों का चित्र इस प्रकार से होगा—
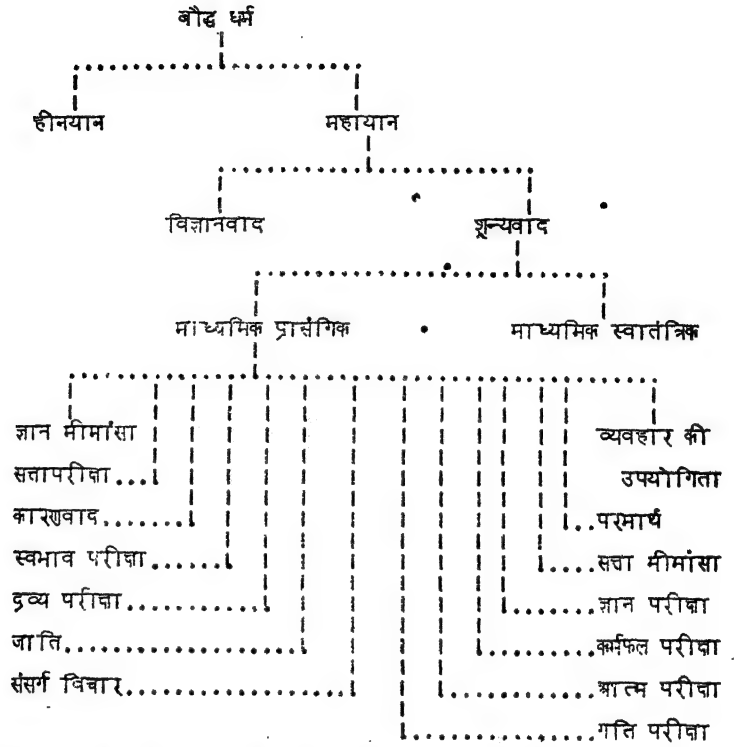
शून्यवा—यही परमार्थ सत्य ही 'शून्य' नाम से अभिहित हुआ। 'शून्य' शब्द के आधार पर इस वाद का निर्माण हुआ। 'शून्यवाद' के इस तात्विक स्वरूप के निरूपण में विचारकों का बड़ा मतवैषम्य है। हीनयानी आचार्य एवं ब्राह्मण जैन विद्वानों ने शून्य शब्द का अभिप्राय सत्ता का निषेध या अभाव किया। माध्यमिक आचार्यों के ग्रन्थों में 'शून्य' का अर्थ 'नास्ति' या 'अभाव' नहीं सिद्ध होता है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या 'शून्याशून्य' कह कर की, अर्थात् यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है फिर भी इसे शून्य भी नहीं कह सकते हैं और अशून्य भी नहीं कह सकते हैं। 'शून्य' शब्द का प्रयोग इसी भाव को ज्ञापित करने के लिए होता रहा है। नागार्जुन के शब्दों में—

शून्यमिति न वक्तव्यं शून्यमिति वा भवेत।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञाप्यर्थं तु कथ्यते॥

इस प्रकार से स्पष्ट है कि महायान सम्प्रदाय के साधना एवं चिन्तन पक्ष में शून्य

के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्द्धन और परिवर्तन हुए। वज्रयानी विचारकों की कृपा से शून्यवाद ही संसार का 'सारतत्व' निर्द्धारित हुआ। 'शून्य' शून्य न रह गया वरन् माया के अतिरिक्त संसार में जो भी है उसे 'शून्य' संज्ञा दी गई। यहाँ तक कि संसार के सभी देवी देवताओं की कल्पना विनष्ट हो गई और रह गया केवल 'शून्य'। इस सम्बन्ध में श्री क्षितिमोहन सेन का यह कथन पठनीय है :

शहायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमशः नाना भाव शूखे ओ ऐश्वर्य भारिया उठिते लागिल। क्रमें माध्यमिक मतवादे बुद्धं, धर्म, ईश्वर, शवाई शून्य होइया उठिलेन। बज्रयान योगाचार प्रभृति मतवादीएर कृपया शून्यई क्रमे होइया दांडाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छांड़ा विश्व जगत्, देव देवी प्रभृति कि छुई किछू नय शवई माया। (दादू, पृ० १७६)

इन्हीं मतवादियों की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण हिन्दी के सिद्ध कवियों के उपदेशों में एकमात्र 'शून्य' का ही गुणगान उपलब्ध होता है। 'शून्य' उस अवस्था का द्योतक है जहाँ द्वैत भावना विनष्ट हो जाती है और सत्, चित, आनन्द की अनुभूति साधक को होने लगती है। यह 'शून्य' शरीर, मन एवं प्रज्ञा की पहुँच के ऊपर है। सिद्धों में यही 'शून्य' परमतत्व है, यही परमसुख है। यही 'शून्य' उनकी साधना का चरम लक्ष्य था। बौद्धधर्म की परम्परा में होने के कारण ही इन सिद्धानीश्वरवादियों ने इस परम् सुख ब्रह्मानन्द की कल्पना नहीं की।

नाथ सम्प्रदाय में 'शून्य' शब्द का बड़ा प्रयोग हुआ है। सर्वप्रथम 'गोरख-बोध' में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ के वार्तालाप में 'शून्य' शब्द का प्रयोग देखिये—

गोरख — कुण बोलै कुण सोवै,
कुण रूप में माया जोवै,
कुण रूप में जुगजुग रहै ?
सद्गुरु होइ सो पूछै कहै।

मछंदर — शब्द बोलै सुरति सोवै।

गोरख — कुणि सूनि उत्पन्ना,
सुंमि सूनि गुरि बुझाई,
कुण सुनमें रहा समाई ?

मछन्दर — सहजेन सुनि उत्पन्ना,
संगि सुनि सतगुरु बुझाई,
अजित सुनि में रहा समाई।

स्पष्ट है कि सहज में अजित आत्मा ही 'शून्य' में लीन हो जाती है। गोरखनाथ के काव्य में 'शून्य' शब्द खूब प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नांव धरहुगे कैसा ॥
(गोरखबानी पृ० १)

संत मत में 'शून्य' विषयक धारणा में पुनः एक नवीन और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'नाथ सम्प्रदाय' में 'शून्य' का संकेत ईश्वर की ओर है, पर संत मत में इस धारणा में और भी विकास हुआ। संत मत में 'शून्य' शब्द का प्रयोग 'निर्गुण सर्वात्मा' के लिए भी हुआ है और 'सहस्र दल कमल' के लिए भी। सम्भवतः इसलिए कि ब्रह्म के निवास-स्थान की कल्पना योगियों ने सहस्र दल-कमल में की है और ब्रह्म 'शून्य' है इसलिए उसका निवास-स्थान भी शून्य ही है। ब्रह्मरन्ध्र का छिद्र शून्याकार होता है। इसी शून्याकार में कुंडलिनी का संयोग होता है। ब्रह्म का वास स्थान यहीं माना जाता है। साधक एवं योगी इस रन्ध्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसी शून्याकार के छः द्वार हैं जिन्हें कुंडलिनी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं खोल सकता है। इसी की साधना में योगी रत रहते हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने संतमत में 'शून्य' के विकास के विषय में लिखा है "इसी शून्य को कबीर ने आगे चल कर सहस्र-दल-कमल का शून्य माना है जहाँ अनहद नाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं।" (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १५३)। परन्तु सन्तों का काव्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने 'शून्य' को दोनों ही अर्थों में ग्रहण किया, केवल सहस्र-दल-कमल के अर्थ में नहीं, जैसा कि डाक्टर वर्मा का मत है। इस विषय पर संतों की कुछ बानियाँ विचारणीय एवं अध्ययनीय हैं।

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि संतों ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों 'ब्रह्म' एवं 'शतदल कमल' में किया है। इस शब्द का प्रयोग कबीर, दादू, नानक, मलूक, सुन्दरदास, गरीबदास, धरनीदास, रैदास, यारी साहब, चरनदास, दूलनदास आदि सभी संतों ने अपने काव्य में किया हैं। 'शून्य' शब्द का प्रयोग 'सहस्र दल कमल' के अर्थ में करने वालों में विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं, कबीरदास, सुन्दर, चरनदास, धरनीदास, भीखा, तुलसी साहब, रैदास और धनी धर्मदास एवं यारी साहब, गरीबदास, धरनीदास, भीखा, दयाबाई, सहजोबाई, पलटू साहब, तुलसी साहब, आदि उन संतों में उल्लेखनीय हैं, जिनके 'शून्य' शब्द से निर्गुण सर्वात्मा की ओर संकेत मिलता है। प्रथम वर्ग के इन मतवादियों ने "सुन्न गढ़," "सुन्न महल", "सुन्न मण्डल", "सुन्न बस्ती" में विचरणकरने का उल्लेख भी किया

है और इन्हीं में से कतिपय संतों ने "सुन्न सरोवर" में स्नान करने का वर्णन भी किया है।

अन्य साधकों की अपेक्षा "सुन्न सिखर" और "सुन्न गढ़" में प्रवेश पाने के लिए कबीर अधिक उत्सुक एवं व्यग्र प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कबीर को उस शिखर पर अधिकार प्राप्त था। वे उस दिव्य प्रदेश की झाँकी पा चुके थे और वहाँ के अक्षय सुख का भी अनुभव कर चुके थे। इसीलिए वे टएटे-बएटे में मस्त, बाह्याडम्बरों में संलग्न साधकों को "सुन्न गढ़" पर विजय प्राप्त करने अथवा "सुन्न मंडल" में प्रवेश करने एवं उद्योगशील होने के लिए उपदेश देते हैं।[1] "सुन्न मंडल" में प्रवेश पाते ही अनहद-नाद की माधुर्य से ओतप्रोत संगीतात्मक ध्वनि प्रतिश्रुत होने लगी। मोह और अज्ञान का प्रकाश तिरोभूत हो गया, दिव्य प्रकाश से जीवन आलोकित हो गया और दीनदयालु के दर्शन हुए।[2] इसी प्रकार स्थान-स्थान पर साखियों में कबीर ने 'सुन्न महल' में नौबत, किंगरी एवं सितार आदि वाद्यों के ध्वनित होने का और उनके अनुभव का उल्लेख किया है। गरीबदास ने "सुन्न सिखर" में "हंस" के विश्राम[3] एवं "सुन्न सरोवर" में हंस के स्नान[4] करने का वर्णन किया है। इसी प्रकार गरीबदास ने सुन्न बस्ती'[5], 'सुन्न मंडल'[6], 'सुन्न सरोवर',[7] 'सुन्न सिखर गढ़'[8] आदि का वर्णन किया है जहाँ शब्दातीत ब्रह्म का निवास-स्थान है।[9] गरीबदास ने 'सुन्न सरोवर' में स्नान करने[10] और 'सुन्न महल' में प्रवेश के लिए[11] साधन करने का अनेक बार उपदेश दिया है। कबीर एवं गरीबदास की भाँति ही 'सुन्न सरोवर', एवं 'सुन्न महल' के लिए साधकों को प्रयत्नशील रहने के लिए सचेष्ट करने वालों

---

[1]रोम रोम दीपक भया प्रकटे दीनदयाल। स० वा० स०, भाग १, पृ० ८

[2]सुन्न मंडल में घर किया बाज सबद रसाल।

[3]सुन्न महल में नौबत बाजै किंगरी बीन सितारा।

[4]सुन्न सिखर के महल में हंस कियो विश्राम। गरीबदास की बानी, १

[5]गरीबदास की बानी, पृ० १८

[6] " " पृ० २१—३२

[7] " " पृ० १६

[8] " " पृ० २५—३३

[9]गरीबदास की बानी, पृ० २६

[10]स० वा० स०, भाग १

[11] " ", २, पृ० १६६

में चरनदास[१], धरनीदास[२], भीखा[३], तुलसी साहब[४], रैदास[५], धनी धर्मदास[६], और यारी साहब[७] उल्लेखनीय हैं। धनी धर्मदास ने तो एक स्थान पर[८] 'सुन्न महल' से अमृत की वर्षा का हवाला देकर संतों को उसी में नहाने के लिए उपदेश किया है—

सुन्न महल से अमृत बरसे। प्रेम अनन्द ह्वै साध नहाय ॥
खुली किंवरिया मिटी अंधरिया। धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ॥

और यारी साहब ने सुन्न (सहस्र दल कमल) को अन्य संतों की भाँति बड़े स्पष्ट शब्दों में 'मालिक' के निवास का स्थान बताया है :

सुन्न के मुकाम में बेचनू की निसानी है।
जिकिर रूह सोई अनहद बानी है॥
(स० वा० सं०, भाग २, पृ० १४५)

'शून्य' शब्द से ब्रह्म की ओर संकेत करने वालों की सूची ऊपर दी जा चुकी है। कथन के समर्थन में कतिपय साखियाँ यहाँ उदाहरणार्थ उद्धृत की जाती हैं—

गरीबदास

सुन्न विदेसी मिल गया छत्र मुकुट है सीस।
(बानी, पृ० ११)
सुन्न सनेही रम रहा दिल अन्दर दीदार।
(बानी, पृ० २०)

धरनीदास

सर्व सुन्न कै सुन्न एकै, दूसरी जनि राख।
(बानी, पृ० ३५)

भीखा

वहंतो सुन्न निरन्तर धुधुकत, निज आतम दरसाई।
(बानी, पृ० ३२ तथा देखिये पृ० ४१, ४२,
स० वा० भाग १, पृ० २१३)

---

[१]चरनदास की बानी, पृ० ५१, १२०
[२]धरनीदास की बानी, पृ० १५
[३]भीखा साहब की बानी, पृ० १०, १७, ४१, ६४
[४]स० वा० संग्रह, पृ० २३३
[५] " " भाग २ पृ० ३३,
[६] " " भाग २, पृ० ४२
[७] " " " पृ० ११—१४५
[८] " " " पृ० ४२

सुन्दरदास ने भी अन्य सन्त कवियों की भाँति ब्रह्म को 'शून्य' माना है। कवि के अनुसार वह ब्रह्म 'शून्य' होते हुए भी 'शून्य' से रहित है। *'शून्य' होते हुए भी वह दशों दिशाओं में व्याप्त है।* प्रस्तुत उद्धरण अभिप्राय को स्पष्ट करता है—

यह रूपातीत जु शून्य ध्यान।
कछु रूप न रेष न ह्वै निदांन॥
तहाँ अष्ट प्रहर लौं चित्त लीन।
पुनि सावधान ह्वै अति प्रवीन॥
जिमि पच्छी की गति गगन मांहिं।
कहुँ जात जात दिठि परय नांहिं॥
पुनि आइ दिखाई देत सोइ।
वा योगी की गति इहै होइ॥
इहिं शून्य ध्यान सम और नांहिं।
उत्कृष्ट ध्यान सब ध्यान मांहिं॥
है शून्याकार जु ब्रह्म आपु।
दशहू दिशि पूरण अति अमापु॥

(सुन्दर ग्रन्थावली भाग १, पृ० ५४-५५)

प्रस्तुत उद्धरण में अंतिम दो पंक्तियाँ विशेष रूपेण पठनीय हैं। स्पष्ट है कि कवि ब्रह्म को 'शून्याकार' और दशों दिशाओं में परिव्याप्त मानता है। परन्तु कवि ब्रह्म को 'शून्याकार' मानता हुआ भी 'शून्य' एवं स्थूल से भिन्न मानता है—

कोई मूल कहै कोइ डार कहै उसके कहुँ मूल न डार है रे।
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै वह सून्यहुं थूल निराल है रे॥

(सु० ग्र० १, पृ० २६८)

इसी प्रकार कवि ने 'शून्य' को अनेक स्थानों पर 'ब्रह्म' के लिये प्रयुक्त किया है।[1] कवि ने 'शून्य' को सुन्न, सून, तथा सुन्य आदि शब्दों में व्यक्त किया है।

---

[1] सु० ग्र० भाग १, पृ० ११३
तथा सु० ग्र० भाग १, पृ० ६४

बन्दगी

'उर्दू-हिन्दी कोष' के अनुसार 'बन्दगी' का अर्थ है—भक्तिपूर्वक ईश्वर की बन्दगी, सेवा, ख़िदमत, आदाब, प्रणाम, सलाम। 'बन्दगी' फारसी का शब्द है परन्तु हिन्दी के सन्तों द्वारा खूब प्रयुक्त हुआ है। संतों ने बन्दगी शब्द का प्रयोग प्रणाम, श्रद्धापूर्वक सेवा, सलाम, आराधना आदि के अर्थ में किया है। सुन्दरदास ने भी बन्दगी का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। कबीर, दादू, नानक, बुल्लासाहब, मलूकदास, सहजोबाई, गरीबदास आदि संतों ने बारंबार बन्दगी करने का उपदेश दिया है। उन्होंने बार-बार कहा है कि जीवन-सरिता के जल के समान बहता हुआ अंतिम लक्ष्य की ओर अग्रसर है और वह दिन भी दूर नहीं है जब वह काल-सागर के मुख में जा गिरेगा। इसीलिए इस आवागमन से सदैव के लिए अवकाश पा जाने के लिए इस परम पिता अनादि दिव्य शक्ति की बन्दगी कर लो। जहाँ सन्तों ने एक ओर माया से सतर्क रहने के लिए चेतावनी दी है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने बन्दगी भी करने के लिए उपदेश दिया है।

सुन्दरदास ने स्फुट साखी साहित्य के अन्तर्गत 'अथ बंदगी कौ अंग' शीर्षक में बन्दगी पर ३० साखियों की रचना की है। इन साखियों में कवि ने ब्रह्म, उसकी व्यापकता, उसकी शक्तिमत्ता, उसकी दिव्य शक्ति, उसका हृदयस्थ होना, उसकी सेवा वा आराधना से त्रय ताप का मिट जाना आदि विषयों पर अपने विचारों को व्यक्त किया है।

ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह वर्तमान है। उसकी सत्ता अद्वितीय है। उसकी इच्छा के अभाव में एक तिनका भी नहीं हिलता है। वह प्रत्येक आत्मा में वर्तमान है। जैसे तिल में तेल, दूध में घी, मृगनाभि में कस्तूरी, पुष्प में सुगंध, पृथ्वी में जल वर्तमान है ठीक उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा संसार की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। वह अनादि काल से प्रत्येक वस्तु में रहा है और रहेगा। हृदयस्थ इस दिव्य-शक्ति की आराधना करने के लिए सुन्दरदास ने बारबार उपदेश दिया है, कारण कि यह कवि का विश्वास है कि बिना उसकी साधना के मुक्ति होना अत्यन्त कठिन है।

सुन्दरदास ने हृदयस्थ इस परब्रह्म की अन्तस्साधना करने का उपदेश दिया है। समस्त आराधना, साधना एवं सेवादिक बाह्याडम्बरों, बाह्याचारों एवं बहिर क्रियाओं से से रहित करके अन्तर्मुखी कर लेना ही वास्तविक भक्ति है। इसी भक्ति और सेवा का उपदेश कवि ने अगले पृष्ठ पर दी हुई साखियों में दिया है—

सुन्दर अन्दर पैसि करि दिल मैं गौता मारि।
तौ दिल ही मौं पाइये सांई सिरजन हार ।।
सुन्दर दिल मौं पैसि करि करै बन्दगी खूब।
तौ दिल मौं दीदार है दूरि नहीं महबूब ।।

महबूब हृदयस्थ है अतः उसकी सेवा के लिए अन्तःसाधना ही आवश्यक है—

बन्दा सांई का भया सांई बंदे पास।
सुन्दर दोऊ मिलि रहे ज्यौं फुल हु मैं बास ।।
उलटि करै जो बंदगी हरदम अरु हर रोज।
तौ दिल ही मैं पाइये सुन्दर उसका षोज ।।
सुन्दर बन्दा चुस्त है जो पैठे दिल माँहि।
तौ पावै उस ठौर ही बाहिर पावै नाँहि ।।

जिसका हृदय स्वच्छ है पवित्र है उसी के हृदय आसन पर उस ब्रह्म का निवास हो सकता है। हृदय को स्वच्छ, पवित्र रखने का प्रयत्न रहस्यवादी की साधना की प्रथम स्थिति है। जिस व्यक्ति का हृदय निर्मल है वही ब्रह्म के निकट है और उसी की साधना तथा बन्दगी ब्रह्म भी कबूल करता है—

जिस बन्दे का पाक दिल सो बंदा माकूल।
सुन्दर उसकी बंदगी सांई करै कबूल ।।

ब्रह्म साधक से दूर नहीं है। केवल उसे देखने और खोजने के लिए दृष्टिकोण की अपेक्षा है। मृग की कस्तूरी की भाँति ब्रह्म तो सीने के ही बीच है—

सषुन हमारा मांनिये मत षोजै कहुँ दूर।
सांई सीने बीच है सुन्दर सदा हजूर ।।
सुन्दर भूल्या क्यौं फिरै सांई है तुझ मांहि।
एक मेक ह्वै मिलि रह्या दूजा कोई नाहि ।।
सुन्दर तुझ ही मांहि है जो तेरा महबूब।
उस षूवी को जांनि तूं जिस षूवी में षूब ।।

रहस्य की बात तो यह है कि अत्यधिक निकट एवं हृदयस्थ होते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार तब तक नहीं सम्भव है जब तक कि साधक 'अहं' की भावना 'आपा' के भाव को विनष्ट न कर डाले।। 'आपा' एवं 'अहं' के नष्ट होते ही साधना द्वारा उस हृदयस्थ महबूब के दर्शन होने लग जाते हैं—

करै बंदगी बहुत करि आपा आंखैं नाहिं।
सुन्दर करी न बन्दगी यौं जावैं दिल मांहि ।।

जौ यह उसका ह्वै रहै तौ वह इसका होय।
सुन्दर बातौं ना मिलै जब लग आपन षोय॥

ब्रह्म की निरंतर भक्ति करने वाला ही सच्चा भक्त है और तो केवल कहने और कहलाने मात्र के भक्त हैं—

सुन्दर बंदा बंदगी करै दिवस अरु रात।
सो बंदा कहिये सही और बात की बात॥

ब्रह्म का साक्षात्कार एवं प्राप्ति सजग और प्रयत्नशील रहने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार सेज पर सुप्त नारी स्वप्न में अपने पति को दूर देख कर स्वप्न में ही भाँति-भाँति से मिलन के लिए विलाप करती है पर जागने पर पति को पार्श्व में ही पाती है उसी प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति मनुष्य को सजग एवं प्रयत्नशील रहने पर होती है। कवि के शब्दों में :

औरत सोई सेज पर बैठा षसम हजूर।
सुन्दर जान्या ष्वाब मौं षसम गया कहुँ दूर॥
तलब करै वहु मिलन की कब मिलसी मुझ आइ।
सुन्दर ऐसै ष्वाब मौं तलफि तलफि जिया जाइ॥
कल न परत पल एकहूँ छाड़ै सास उसास।
सुन्दर जागी ष्वाब सौ देषै तो पिय पास॥
मैं ही अति गाफिल हुई रही सेज पर सोइ।
सुन्दर तिय जागै सदा क्यौं करि मेला होइ॥
सुन्दर दिल की सेज पर औरत है अरवाह।
इसकौं जाग्या चाहिये साहिब बे परवाह॥
जौ जागै तौ पिय लहै सोये लहिये नांहि।
सुन्दर करिये बन्दगी तौ जाग्या दिल मांहि॥

सूरमा

कोष-के अनुसार 'सूरमा' का अर्थ योद्धा अथवा वीर होता है। 'सूरमा' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से वीर के अर्थ में ही किया जाता है और वही व्यक्ति वीर है जो युद्ध अथवा अन्य क्षेत्रों में अपने प्रतिस्पर्द्धी अथवा शत्रु का सामना साहस एवं धैर्यपूर्वक कर सके। हमारे साहित्य के सन्त कवियों ने भी सूरमा शब्द का प्रयोग योद्धा या वीर के अर्थ में ही किया है, परन्तु सन्तों का संसार इस सामान्य संसार से भिन्न था। उनका संसार इस संसार से परे था। सन्तों के संसार में सूरमा वही व्यक्ति है जो माया और उसके सहायकों से वीरता और धीरतापूर्वक युद्ध कर सके और उन पर विजय प्राप्त कर सके, जो अपनी साधना शक्ति के द्वारा प्रलोभनों का परित्याग कर सके, जो वासनाओं का दमन कर सके, जो दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके और जो विकारों को समाप्त कर उन पर आध्यात्मिकता का भवन खड़ा कर सके जिसमें परब्रह्म का निवास हो सके। सन्तों के साहित्य में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका कवियों ने प्रचलित रूप से भिन्न अर्थ से प्रयोग किया है।[1] ऐसे ही सूरमाओं के लिए संस्कृत के धर्म ग्रंथों में 'धीर' कहा गया है।[2] संतों के इन सूरमाओं के लक्षण अस्त्र-शस्त्र, कवच, रहन-सहनादि का सन्त कवियों ने बड़ा रोचक और सुन्दर वर्णन किया है। सुन्दरदास ने भी सूरमा या सूर शब्द का प्रयोग उपर्युक्त अर्थ में ही किया है।

सुन्दरदास ने 'सुन्दरविलास' ग्रन्थ में 'अथ सूरातन को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत विषय का विवेचन उन्नीस छन्दों में किया है और स्फुट साखी साहित्य में इस विषय पर

---

[1]उदाहरणार्थ संतों ने आत्मा को दुलहिन, परमात्मा का पति, स्वास को ऊँट, अंतः करण को कुत्ता, गुरु को हंस, देह को दीपक, प्रेम का तेल, मन को शैतान, संसार को वन, ब्रह्मरन्ध्र को त्रिवेणी कहा है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्याचार्य के 'कबीर' और डॉ० बड़थ्वाल की 'निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोयट्री' में ऐसे अनेक शब्दों के अर्थ दिए गए हैं।

[2]कांता कटाक्ष निशिख न गृणन्ति यस्य
चित्त न निर्दहति कोप कृशानुतापः।
कर्षति भूरि विषया न च लोभ भारौ
लोकत्रंय जयति कृत्स्नयिदं स धीर ॥

पचीस साखियों की रचना की है। इस प्रकार कवि ने 'सूरमा' व 'सूर' विषय पर कुल चौवालीस छन्दों की रचना की है। हिन्दी के सन्त कवियों में सूरमा पर विचार प्रकट करने वालों में कबीर,[१] दादू[२], नानक[३], दरिया साहब (बिहारवाले)[४], दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[५], दयाबाई[६], पलटू साहब[७] और मलूकदास[८], विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन्त मत के उज्वल रत्न कबीर ने सूरमा को परिभाषा बड़े हो स्पष्ट और अल्प शब्दों में व्यक्त की है। कबीर के अनुसार तीर, तलवार और बन्दूक हाथ में लेकर युद्ध करने वाला व्यक्ति सूरमा नहीं है। वास्तविक सूरमा तो वह व्यक्ति है जो माया का परित्याग कर दे। सूरमा लड़ाई के हथियार, ढाल, तलवार आदि नहीं धारण करता वह स्वयं खुल कर युद्ध करता है। समस्त बन्धनों का परित्याग करके सूरमा युद्ध स्थल में उतरता है। कबीर के शब्दों में......

तीर तुपक से जो लड़ै सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै सूर कहावै सोय॥
सूर सिलाह न पहिरई जब रन बाजा तूर।
थामा काटै धड़ लड़ै तब जानिये सूर॥
सूरा सोई सराहिये अंग न पहिरै लोह।
जूझै सब बंद खोलिकै छाड़ै तन का मोह॥

कबीर के तात्पर्य को नानक ने और भी सरल शब्दों में अंकित कर दिया है। नानक के अनुसार दलों के साथ युद्ध करने के हेतु गया हुआ व्यक्ति सूरमा नहीं है। सूरमा तो वही व्यक्ति है जिसके हृदय में हरि का निवास है—

सूरा एह न आखियन जो लड़नि दलाँ में जाय।
सूरे सोई नानका जो मंनणु हुकम रजाय॥

---

[१] संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० ३७
[२] ... ... पृ० ६०
[३] ... ... पृ० ६६
[४] ... ... पृ० १२४
[५] ... ... पृ० १२६
[६] ... ... पृ० १७८
[७] ... ... पृ० २१५
[८] मलूकदास की बानी, बेलवीडियर प्रेस, प्रयाग।

हिरदे जिनके हरि बसै से जन कहियहि सूर ।
कही न जाई नानका पूरि रह्या भरपूर ।।

दरिया साहब (मारवाड़ वाले) के शब्दों में वही व्यक्ति सूरमा है जिसके 'शब्द वाण' के लगते ही इन्द्रियाँ स्वकर्म विसर जाती हैं । आत्मविस्मृति की दशा में उसे अपना ध्यान नहीं रह जाता है । सूरमा सिंहों की भाँति वीर और शक्तिशाली होते हैं । सूरमा सिंहों की भाँति एकांत में और एकाकी विचरते हैं । समुदाय बना कर नहीं चलते हैं । फौज में सभी सूरमा नहीं होते । हज़ारों के समुदाय में कहीं एक व्यक्ति सूरमा होता है । अपनी देह को तपस्या, साधना, कष्ट-सहन के द्वारा चकनाचूर एवं नष्ट कर देने वाला व्यक्ति भी सूरमा नहीं है । काया को नष्ट न देकर भी माया, विकार, एवं दुर्बलताओं का दमन करके, आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाला साधक ही वास्तविक सूरमा है ।[1] चरनदास ने सूरमा की बड़ी विस्तृत परिभाषा और दृष्टांतों का उल्लेख किया है ।[2] चरनदास ने भी भक्ति के क्षेत्र में अचल खड़े रह कर प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले को ही वास्तविक सूरमा माना है ।[3] सुन्दरदास जी ने 'सुन्दर विलास' ग्रंथ में सूरमा की बड़ी प्रशंसा की है । उनके अनुसार वही सूरमा है जो 'शब्द' नगाड़े को सुनते ही उल्लास से युक्त हो जाता है और जिसका मुख 'शब्द' नगाड़े को सुनते ही उल्लास से दीप्त हो उठता है । 'शब्द' नगाड़े को सुनते ही जब वह अपने आध्यात्मिक अस्त्र-शस्त्रों को ग्रहण करके युद्धस्थल में अवतरित होता है उस समय कायर शत्रु उसे देखकर विकम्पित हो उठते हैं । जिस प्रकार पतंग ज्योति को देखकर उसी पर स्वप्राणों को उत्सर्ग कर देता है उसी प्रकार सूरमा वीरों को देखकर प्रोत्साहित और उल्लसित होकर उन पर टूट पड़ता है । वास्तविक सूरमा वही व्यक्ति है जो शत्रुओं

---

[1]दरिया सूरा गुरमुखी सहै सवद का घाव ।
लागत ही सुधि बीसरै भूलै आन सुभाव ।।
सबहि कटक सूरा नहीं कटक मांहि कोइ सूर ।
दरिया पड़े पतंग ज्यौं तब बाजै रन तूर ।।
दरिया सो सूरा नहीं जिन देंह करी चकचूर ।
मनको जीति खड़ा रहै मैं बलिहारी सूर ।।

[2]देखिये चरनदास की बानी पृ० ६२, ६३

[3]सोई जन सूर जो खेत में माड़ि रहै ।
भक्ति मैदान में रहै ठाढ़ा ।।
सकल लज्जा तजै महा निरभय गजै ।
पैज नीसाना जिन आय गाड़ा ।।

(इन्द्रियादिक तथा माया के सहायकों) से युद्ध में विजयी होकर परब्रह्म में अनुरक्त और संलग्न बना रहे—

सुणत नगारै चोट बिगसै कंवल मुख।
अधिक उछाह फूल्यौ म इ हूँ न तन मैं॥
फिरै जब सांगि तब कोऊ नहि धीर धरै।
कायर कंपाइमान होत देषि मन मैं॥
टूटिकै पतंग जैसे परत पावक मांहि।
ऐसैं टूटिमरै बहु सांवत के गन मैं॥
मारिं बम सांण करि सुन्दर जुहारै स्याम।
सोई सूर बीर रूपि रहै जाइ रन में॥
असन बसन बहू भूषन सकल अंग।
सम्पत्ति बिबिधि भाँति भर्यौ सब धर है॥
श्रवन नगारौ सुनि छिनक मैं छोड़ि जात।
ऐसै नहिं जानै कछु आगै मोहि मर है॥
मन मैं उछाह रन मांहि टूक टूक होइ।
निरभै निशंक वाकै रंच हूँ न डर है॥
सुन्दर कहत कोऊ देह कौ ममत्व नांहि।
'सूरमा' कै देखियत सीस बिन धर है॥

सूरमा की शक्ति, साहस और महत्त्व को भी सन्तों ने बड़े ही उचित और सुन्दर शब्दों में अंकित किया है। सूरमा की शक्ति बड़ी महान् और दिव्य है। युद्ध-कौशल में पारंगत, शूरता में प्रख्यात, साहस में अद्वितीय, वीरों में अग्रगामी, उत्साह में आदर्श व्यक्ति भी जिन शत्रुओं से पराजित हो जाते हैं उन्हें परास्त करने वाले हैं सन्तों के ये 'सूरमा' संसार रूपी युद्ध-क्षेत्र में अकेले अपनी शक्ति और व्यक्तित्व पर भरोसा करके वह शत्रु की सेना का संहार करता हुआ अग्रसर होता है। वह अपने बल से, अपनी आंतरिक शक्ति से अविद्या या असत्य माया का दमन करता है। इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को बलशाली बनने से रोकनेवाला वही संतों का सूरमा है। कंचन, कामिनी आदि प्रलोभनों को वह अपने मार्ग से हटाता चलता है।[1] क्षमा रूपी ढाल, उदारता का अस्त्र[2] सुरत तीर, हृदय-तरकस[3] प्रेम रूपी साधना का

---

[1] चरणदास की बानी, पृ० ८५
[2] ... ... पृ० ८६
[3] ... ... पृ० ८६

उपयोग करता हुआ वह शत्रुओं का हनन करता है। वह बुद्धि की कटारी तथा वचन-विलास की बरछी से युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित संकटों का सामना करता है।[1] सुन्दरदास के मत से सूरमा बड़े शक्तिवान होते हैं। सूरमा की शक्तिमत्ता के आगे काल तक अपने को निर्बल पाता है। उसी ने ज्ञान का वाण लगाकर महाबलवान मन का हनन किया है। उसने कितने ही बलवान शत्रुओं का सामना किया है। उसके समक्ष संघर्ष में अरिदल भी न ठहर पाया। सूरमा के सदृश्य वीर संसार में अन्य कोई नहीं है—

खैचि करड़ी कमांण ज्ञान कौ लगायौ वांण।
मारयौ महावली मन जग जिनि रान्यौ है॥
ताकै अगिवांणी पंच जोधा ऊ कतल कीये।
और रह्यौ पह्यौ सब अरिदल भान्यौ है॥
ऐसौ कोऊ सुभट जगत मैं न देषियत।
जाकै आगै कालहू सौ कंपि कै परान्यौं है॥
सुन्दर कहत ताकी शोभा तिहूँ लोक मांहि।
साधु सौ न सूरबीर कोऊ हम जान्यौं है॥

काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के बड़े ही प्रबल शत्रु हैं। इन शत्रुओं ने समस्त संसार को पराजित कर रखा है। ऋषि, मुनि, साधक, सिद्धादि भी इन से पराजित हुए हैं परन्तु सूरमा इतना शक्तिशाली है कि उसने काम, क्रोधादि शत्रुओं को भी हरा दिया है—

काम सौ प्रबल महाजीते जिनि तीनौं लोक।
सुतौ एक साधु कै विचार आगै हार्‌यौ है॥
क्रोध सौं कराल जाके देषत न धीर धरै।
सोउ साधु क्षमा कै हथ्यार सौं बिदारयौ है॥
लोभ सौं सुभठ साधु तोष सौं गिराइ दियौ।
मोह सौ नृपति साधु ज्ञान सौ प्रहारयौ है॥
सुन्दर कहत ऐसौ साधु कोऊ सूर बीर।
ताकि ताकि सबहि पिशुन दल मारयौ है॥

सूरमा वीरता के लिए आदर्श है। वह कथनी में नहीं वरन करनी में विश्वास रखता है। टूक-टूक होकर गिर पड़ने पर भी वह आत्म विज्ञापन में विश्वास नहीं करता है—

सुन्दर सूर न गासरणा डाकि पड़ै रण मांहिं।
घाव सहै मुख सांमहाँ पीठि फिरावै नांहिं॥

---

[1] चरणदास की बानी, पृ० ८६

मुख तैं बैंण न उच्चरै सुन्दर सूर सुजांण ।
टूक टूक जब ह्वै पड़ै सबकौ करै बषांण ।।
सुन्दर तन मन आपनौ आवै प्रभु कै काम ।
रण मैं तै भाजै नहीं करै न लौंन हराम ।।

मोह और उसके साथी अन्य शत्रुओं को मारने की शक्ति भला सूरमा के अतिरिक्ति और किस व्यक्ति में हो सकती है ?[1] युद्ध का वाद्य बजनें पर सूर तोप, तलवार आदि हथियारों को नहीं धारण करता है । कबीर के शब्दों में मस्तक विछिन्न हो जाने पर भी शक्तिमान सूरमा का धड़ युद्ध में प्रवृत्त रहता है ।[2] कवियित्री दया बाई के शब्दों में सूरमा अपने अस्तित्व का मोह त्याग करके शत्रु को नष्ट करने के लिए अग्रसर होता है और मोह के महान दल को नष्ट करके वह सत्य में संलग्न होता है ।[3] युद्ध में प्रवृत्त होने पर वह जीवन के लोभ का परित्याग कर देता है ।[4] सूरमा दृढ़प्रतिज्ञ और कर्तव्यपरायण होता है । सूरमा के दृढ़ प्रतिज्ञता की प्रशंसा सुन्दरदास ने भी भूरि-भूरि की है । सुन्दरदास ने उसे दृढ़संकल्प और स्थिरमति आदि शब्दों से सम्बोधित किया है ।[5] सूरमाओं की वीरता और सत्य निष्ठा पर सभी सन्त कवियों को विश्वास रहा है । मारवाड़ वाले दरिया साहब[6] और सुन्दरदास की रचनाएँ इस कथन का विशेष समर्थन करती हैं । चरनदास

---

[1]चरनदास की बानी, पृ० ८५

[2]संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ३६

[3] ” ” ” पृ० १७६

[4]खेत न छाडै सूरमा जूझै दो दल माहिं ।
आसा जीवन मरन की मन में आनैं नाहिं ।।

[5]हाथ लिये हथियार तीक्षण लगायौ धार ।
बार नहिं लागे सब पिशुन प्रहारि है ।।
वोट नहिं राखै कछु लोट पोट होइ जाइ ।
चोट नहिं चूकै सीस रिपु कौ उतारि है ।।
जूझिबे कौं चाव जाकै ताकि ताकि करै घाव ।
आगे धरि पग फिरि पीछै न संभारि है ।।
सुन्दर कहत ताहि नैकु नहिं सोच पाचै ।
ऐसौ सूर बीर धीर मीर जाइ मारि है ।।

[6]संतबानी संग्रह भाग १, पृ० १३०

सूरमाओं की इस प्रवृत्ति के विषय में कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होते हैं।[1] चरनदास एवं दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की विचार-धारा संत कवियित्री दयाबाई में पूर्ण रूप से लहरें ले रही है। दयाबाई के अनुसार—

जो पग धरत सो दृढ़ धरत पग पाछे नहिं देत।
अहंकार कूं मार करि राम रूप जस लेत॥
(स० वा० स० १६६।१८)

सन्तों का यहं सूरमा कोई अन्य व्यक्ति नहीं है वरन वह 'साधु' ही है।[2] यही साधु ममत्व को नष्ट कर, अहम् भाव को समूल मिटा कर, इन्द्रियजित होकर बन्धनों एवं ताप से परे होकर दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करके सूरमा कहलाता है।[3]

---

[1] या बाने को नेम यही है पग धरि फिर न उठावै।
जो कुछ होय सो आगेहि आगे-आगे ही को धावै॥
रन मे पैठि झड़ाझड़ि खेलै सन्मुख सस्तर खावै।
खेत न छोड़ै वांई जूझै तब हा सोभा पावै॥
चरनदास की बानी, पृ० ८७

[2] कियौं जिनि मन हाथ इन्द्रिनि कौं सब साथ
घेरि घेरि आपने ई नाथ सौं लगाये हैं।
और ऊ अनेक वैरी मारे सब युद्ध करि
काम क्रोध लोभ मोह षोदि कै बहाये हैं॥
किये हैं संग्राम जिनि दिये हैं भगाइ दल
ऐसै महा सुभट सुग्रन्थनि में गाये हैं।
सुन्दर कहत और सूर यौं ही षपि गये
साधु सूर बीर वैई जगत मैं आये हैं॥

[3] महामत्त हाथी मन राष्यौ है पकरि जिनि
अति ही प्रचन्ड जामें बहुत गुमान है।
काम क्रोध लोभ मोह बाँध्यौ चारौं पाव पुनि
छूटनै न पावै नैकु प्राण पीलवान है॥
कबहूँ जो करै जोर सावधान साँझ भोर
सदा एक हाथ मैं अंकुस गुरु ज्ञान है।
सुन्दर कहत और काहू कै न बसि होइ
ऐसौ कौन सूर बीर साधु के समान है॥

सन्तों ने सूरमा के एक पृथक् संसार की कल्पना की है। उस संसार में उसका निजी बातावरण है, उसके व्यक्तिगत साधन हैं, उसके अपने अस्त्र-शस्त्र हैं, उसके संसार में भिन्न वाहन है जिन पर सवार होकर वह युद्ध करता है। सूरमा का यह संसार सफलताओं का संसार है। उसमें अभाव नहीं है। उसे संसार में सभी मनोवांछित फल उपलब्ध होते हैं। कारण यह है कि वह कर्तव्य पालन करता है, धर्म पालन करता है और सत्य में विश्वास रखता है। वह क्षमा, दया, त्याग आदि सद्गुणों को ग्रहण करता है। सन्तों ने इन सूरमाओं के संसार को एक सुन्दर रूपक दिया है। कबीर दास के शब्दों में सूरमा की खड्ग ज्ञान है, घोड़ा प्रेम है, लव रूपी लगाम से वह घोड़े को संचालित करता है, प्रेम रूपी घोड़े की गति तीव्र करने के हेतु 'सबद' गुरू का 'ताजना' (कोड़ा) है—

कबीर घोड़ा प्रेम का चेतन चढ़ि असवार।
ज्ञान खडग लै काल सिर भली मचाई मार॥
चित चेतन ताजी करै लव की करै लगाम।
सबद गुरू का ताजना पहुँचै संत सुठाम॥

एक स्थान पर कबीर ने हरि घोड़ा, ब्रह्मकड़ी, चन्द्र और सूर्य पायदान (रकाब) की कल्पना की है।[1] प्रायः सभी सन्तों ने सूरमाओं के सबद घाव का उल्लेख किया है। दयाबाई ने सूरमाओं के ज्ञान को गुरज (सोंटा), शब्द को निसान माना है।[2] चरनदास ने क्षमा को ढाल, उदारता को शस्त्र, धर्म को सहायक सैनिक, सुरत को तीर, हृदय को तरकस, बुद्धि को कटारी, वचन को बरछी, अनहद नाद को तूरा माना है।[3] पलटू साहब ने प्रेम को बख्तर, सुरति को कमान, गुरुज्ञान को घोड़ा माना है।[4] सुन्दरदास ने अन्य सन्तों की ही भाँति सुरति वाण, शब्द नगाड़ा, पतंग सामंत वीर, अनहदनाद शहनाई, श्रवण नगाड़ा, मायादि शत्रु, ज्ञान कवच, ताजी हरि, ज्ञान तलवार, ज्ञान वाण, लोभ सुभट, मदमत्त मन, आदि का उल्लेल बार-बार 'अथ सूरातन कौ अंग' शीर्षक के अन्तर्गत किया है।

---

[1] हरि घोड़ा ब्रह्मा कड़ी विस्नू पीठ पलान।
चन्द सूर द्वै पायडा चढसी संत सुज़ान॥

[2] दयाबाई की बानी पृ० ५, ४, ६

[3] चरनदास की बानी, पृ० ८६
तथा स० वा० स० २१७ एवं ३७

[4] स० वा० स०, भाग १ पृ० २१६, २१७

सूरमा के प्रधान गुणों में से सन्तोष, शील, सत्य आदि का कबीर ने उल्लेख किया है।[1] सुन्दरदास ने उसकी वीरता, धीरता, साहस, कर्मठता, सत्यनिष्ठा एवं दृढ़ संकल्प का उल्लेख किया है।[2] सामान्यतया अन्य सभी सन्तों ने उसकी शूरता का उल्लेख किया है।

सुन्दरदास के मतानुसार सूरमा के प्रधान शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, माया और माया के सहायक हैं। इन्ही शत्रुओं से युद्ध करने में वह अपना जीवन व्यतीत करता है।

---

[1] स० बा० स०, भाग २, पृ० ८७

[2] सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ४८४ ४६०

मन

"मन्यते अनेन इति मनः" अथवा "मन करणे असुन" अर्थात् 'जिसके द्वारा मानने का कार्य सम्पादित हो' अथवा 'जो मानने का कारण वा साधन बने वही मन है'। मन मानव शरीरस्थ अत्यन्त सूक्ष्म और दृष्टि से परे शक्ति है। वैशेषिक शास्त्र के अन्तर्गत मन को संकल्प-विकल्प रूपी शक्ति कहा गया है। मन आत्मा से भिन्न और शरीर से पृथक् है। मन के आठ गुण हैं—संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व एवं संस्कार। मन में ज्ञान एवं कर्म दोनों ही धर्मों का समावेश है। वेदांत में यह अंतः-करण चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार—का एक अंग माना गया है। योग-शास्त्र में मन ही को चित्त की उपाधि प्रदान की गई है। बौद्ध एवं जैन धर्मों के अन्तर्गत मन को षष्ठम इन्द्रिय की उपाधि प्राप्त है। मन मानव शरीरस्थ महानशक्ति है। चतुष्टय कोशों में (अन्नमय, प्राणमय विज्ञानमय मनोमय) मन भी एक कोश मान्य हुआ है। मन में अनन्त सर्जना शक्ति है। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा की उत्पत्ति मन से और ब्रह्मा के मन से संसार की रचना हुई है। इस प्रकार सृष्टि का मूल कारण मन है। सृष्टि को मनोमय—ईश्वर के मन से उत्पन्न—माना गया है। इसी कारण वेदांत में सृष्टि को स्वप्न अथवा शून्य कहा गया है। *विवेक बुद्धि या शुद्ध बुद्धि इसी मन के गुण हैं।*

संसार का आधार संकल्प-विकल्प से है और संकल्प-विकल्पों का उद्गम मन है। इस प्रकार मन ही इस संसार की रचना और सृष्टि का महत्त्वपूर्ण कारण है। सांख्य योग के अनुसार मन एवं प्रकृति के संसर्ग से ही संसार की रचना हुई है। प्रकृति के भ्रमों और जंजालों के संपर्क से मन भाँति-भाँति की कल्पनाएँ और रचनाएँ करता रहता है। वह अविद्या माया के लिए सर्वाधिक आकर्षक तत्व है। वह अविद्या माया में ही निरंतर संलग्न रहता है। मन ही संसार के समस्त भ्रमों का कारण है। रस्सी में सांप, मरुस्थल में जल, निःसार तत्वों में सार वस्तु की कल्पना और भ्रम करने का मुख्य उत्तरदायित्व मन पर ही है। मन ही सर्जन और विनाश का प्रधान कारण है। संसार की उत्पत्ति और विनाश इसी मन के कारण है। कल्पना और भ्रम इसके प्रधान अंग हैं।

शरीर या स्थूल देह, सूक्ष्म कारण और प्रत्यक्—से मन एक शरीर या लोक का राजा या स्वयं लोक है। मन शरीर का नेता, संचालक और सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है। शरीर मन का अनुगामी है। मन की गति के अनुकूल ही शरीर आचरण करता है। मन की इच्छा के अनुसार शरीर का संचालन और गति निश्चित होती है।

मन तृष्णा का उद्गम है। कामनाएँ, इच्छाएँ आदि इसी मन से उत्पन्न होती हैं। मन की गति के अनुसार ही इच्छा, कामना और तृष्णा का भी रूप निर्धारित होता है। मन की सद्वृत्तियों के अनुसार ही इच्छाएँ और कामनाएँ भी सद्रूप धारण करती हैं और असद्वृत्तियों के उदय होते ही कुकामनाएँ हृदय में विकसित होती हैं।

काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि मन के पंच महाविकार हैं। मन ही इन विकारों का उत्पादक है। उपर्युक्त इन विकारों के आवेग में मन की स्थिति भी विचलित हो जाती है। विकारों के प्रवेग में मन की स्थिति अनियंत्रित हो जाती है। मन के विकारों का *भोक्ता* शरीर होता है। मन की गति अलख और अविश्वसनीय है। इसी कारण योग शास्त्र के अन्तर्गत, साधना के पथ पर अग्रसर मानव के लिए सर्वप्रथम मन के नियंत्रित करने का विधान हुआ है। मन को नियंत्रित करने के लिए यम, नियमादिक का उल्लेख हुआ है। योगशास्त्र में मन को मानव का सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है।

मन की दो वृत्तियाँ हैं सद् और असद्। मन और सद्वृत्ति के संसर्ग से मनुष्य में विवेक, धैर्य, क्षमा, सन्तोष, शील, श्रद्धा, वैराग्य, विचार, सत्य, ज्ञान, आर्जव, यश, सद्भावना, नियम, निःकल्प, शुद्धता, जिज्ञासा, कीर्ति, करुणा, अभ्यास आदि की उत्पत्ति होती है। मन की असद् वृत्ति से काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ, दम्भ, गर्व, अधर्म, अविद्या, रति, हिंसा, तृष्णा, निन्दा, ईर्षा, स्पर्धा, विरोध, अपयश, लालच, अविचार, लोलुपता, कुविद्या, अपकीर्ति, अश्रद्धा, अज्ञान, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप, दुर्मति आदि की उत्पत्ति होती है। सन्तकवि मलूकदास ने 'ज्ञान बोध' ग्रन्थ में मन तथा सद् तथा असद् वृत्तियों से जनित दो कुटुम्बों का सविस्तार उल्लेख किया है। उन्होंने मन को राजा और सद् और असद् वृत्तियों को रानियों की संज्ञा दी है। मन की गति और उसकी प्रकृति के विषय में सन्तों ने बहुत कुछ लिखा है। इन सन्तों ने मन की निन्दा करके उसे नियंत्रित रखने के लिए बारम्बार उपदेश दिया है। इन सन्त कवियों में कबीर[1], दादू[2], मलूकदास[3], दरियासाहब (बिहारवाले)[4], गरीबदास[5], तुलसी साहब[6] तथा सुन्दरदास[7] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

---

[1] संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५
[2] ” ” ” पृष्ठ ६६
[3] ” ” ” पृष्ठ १०४
[4] ” ” ” पृष्ठ १२४
[5] ” ” ” पृष्ठ २०७
[6] ” ” ” पृष्ठ २३५
[7] सुन्दर ग्रन्थावली भाग द्वितीय

सुन्दरदास जी ने मन के विविध पक्षों, प्रकृति तथा स्वभाव आदि विषयों पर 'सुन्दर विलास' में २६ छन्दों की रचना की है और स्फुट साखी साहित्य में कवि ने ७० छन्दों में मन के विषय में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार कवि द्वारा प्रस्तुत विषय का विवेचन ६६ छन्दों में किया गया है।

सुन्दरदास जी के मतानुसार कोटिशः प्रयत्न करने पर भी मन स्ववश नहीं रहता है। उसकी गति अत्यन्त चंचल है। प्रयत्नशील रहने पर भी मन नियंत्रण में नहीं रहता है। स्वनियंत्रण से पृथक् होकर मन सदैव विषयानुरक्त एवं विधानुरक्त रहता है। जिन पदार्थों वा तत्वों को वह स्वसुख का साधन समझता है वे ही उसे कल्याण-मार्ग से अपदस्थ करते रहते हैं। मन्दभागी, मन साधक की एकाग्रता को विनष्ट करके कष्टप्रद मार्गों पर पदार्पण कराता है। सर मार कर भाँति-भाँति से प्रयत्न करने पर भी वह वशीभूत न हुआ यह कितने आश्चर्य और खेद का विषय है।[1] सुन्दरदास की भाँति ही कबीर[2], दादू[3] और गरीबदास[4] ने भी मन की चंचलता तथा विषयानुरक्ति पर अपने अनुभवों को प्रकट किया है। कवि सुन्दरदास के मत से मन की गति बड़ी विचित्र है। वह एक ही क्षण में भाँति-भाँति की वृत्तियां को धारण करता है और द्वितीय क्षण ही वृत्तिहीन बन जाता है। उसके समान तीव्र गति वाली दूसरी कोई भी इन्द्रिय या वस्तु संसार में नहीं है। वह पल में ही अखिल ब्रह्मांड और नवों खंडों में भ्रम आता है। वह ऐसा विशाल है कि स्वप्न में या योगदृष्टि से अज्ञात पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मन किसी प्रकार भी विश्वसनीय नहीं है।[5] वस्तुतः मन मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। वह नीति, अनीति, शुभ, अशुभ,

---

[1]हटकि हटकि मन राषत जु छिन छिन
सटकि सटकि चहुँ वोर अब जात है।
लटकि लटकि ललचाइ लोल बार बार
गटकि गटकि करि विष फल षात है॥
झटकि झटकि तार तोरत करम हीन
भटकि भटकि कहुँ नैकु न अघात है।
पटकि पटकि सिरसुन्दर जु मानी हारि
फटकि फटकि जाइ सुधौं कौन बात है॥

[2]सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५६-११।१२

[3]" " " पृ० ६६-२।३

[4] " " " पृ० २०७

[5]पलु ही मैं मरि जात पलु ही मैं जीवत है
पलु ही मैं पर हाथ देषत बिकांनौ है।

कल्याण, अकल्याण कुछ भी न देख कर प्रकांड तांडव में प्रवृत्त रहता है। गुरु, साधु, लोक, वेदादि के उपदेशों एवं नियमों की ओर से विमुख होकर वह स्वेच्छानुकूल विचरण किया करता है।[1] काम के जाग्रत होते ही मन निर्लज्ज की भाँति भय और शंका से रहित होकर काम और इन्द्रियों का चेरा बन जाता है। क्रोध की उत्पत्ति होने पर मन जो दूसरे के वश नहीं होता तथा स्वतः निस्सीम होकर विचरता रहता है अपने को नहीं सँभाल पाता है। मन अविद्या माया में नित्यप्रति संलग्न रहता है लोभ भावना उत्पन्न होने पर वह उसी प्रकार का आचरण करता है और मोह के उत्पन्न होते ही वह नित्य प्रति यत्र-तत्र भ्रमता फिरता है।[2] मन बड़ा ही दगाबाज़ है। वह तुष्टि और सन्तोष नहीं जानता

पलु ही मैं फिरै नव खंडहु ब्रह्मण्ड सब
देष्यौ अनदेष्यौ सुतौ यातै नहि छानौ है॥
जातौ नहिं जानियत आवतौ न दीसै कछु
ऐसी बलाइ अब तासौं पर्‌यौ पांनौ है।
सुन्दर कहत याकी गति हूँ न लषि परै
मन की प्रतीत कोऊ करै सो दिवानौ है॥

[1]घेरिये तो घेर्‌यो हू न आवत है मेरो पूत
जोई परमोधिये सु कान न धरतु है।
नीति न अनीति देषै शुभ न अशुभ पेषै
पलु ही मैं होती अनहोनी हु करतु है॥
गुरु की न साधु की न लोक बेद हू की शंक
काहू की न मानै न तो काहू ते डरतु है॥
सुन्दर कहत ताहि धीजिये सु कौन भाँति
मन को सुभाव कछु कह्यौ न परतु है॥

[2]काम जब जागै तब गनत न कोऊ साष
जानै सब जोई करि देषत न माधी है।
क्रोध जब जागै तब नैकु न संभारि सकै
ऐसी बिधि मूल की अविद्या जिनि साधी है।
लोभ जब जागै तब त्रिपत न क्योंहूं होइ
सुन्दर कहत इनि ऐसै हि मैं षाधी है।
मोह मतवारौ निशदिन हि फिरत रहै
मन सौं न कोऊ हम देष्यौ अपराधी है॥

है। संसार के प्रलोभनों में वह सर्वाधिक रमता है। उसे घ्राण तथा भोग से तृप्ति कभी भी न हुई है और न होगी।[१] मन के सदृश जगत में और कोई रिन्द (शैतान, बदमाश) नहीं है। इस मन ने किसे नहीं पराजित किया और किसे नहीं धोखा दिया है? इसने शंकर, ब्रह्मा, इन्द्रादिक देवताओं को ठगा है। अपने स्वामी या अधिपति चन्द्रदेव की भी इसने प्रवंचना की है। योगी, जंगम सन्यासी, सिद्ध, तापस, ऋषीश्वरादि भी इसके द्वारा प्रवंचित हुए हैं।[२] अखिल संसार मन के द्वारा ही संचालित होता है और मन के संकेत पर ही उसकी गति निर्भर है। लक्षाधिपतियों को भी यह मन धन के लिए नचाता है। सम्राटों के हृदय में भूमि की लालसा को अधिकाधिक वर्द्धमान करनेवाला यही मन है। देवता, असुर, सिद्ध, पन्नग, कीट, पशु, पक्षी समस्त चर, अचर, सन्त, असन्त, मानव, पशु इसी मन के दास और अनुगामी हैं। इस विशाल ब्रह्मांड में कोई ऐसा न दृष्टिगत हुआ जो मन पर अधिकार कर पाया होता।[३] मन सदैव नीच कामों में प्रवृत्त रहता है। उसने अपने नीच कर्मों में श्वान, शृगाल, विडाल, डूम, भांड, चोर, बटमार, ठग आदि

---

[१]देषिबे कौं दौरै तो अटकि जाइ वाही वोर
सुनिबे कौं दौरै तो रसिक सिरताज है।
सूंघबे कौं दौरै तो अघाइ न सुगंध करि
षाइबे कौं दौरै तो न धापै महराज है।
भोग हूँ कौं दौरै तो नृपति नहिं क्यौं हूँ होइ
सुन्दर कहत याहि नैकहूँ न लाज है।
काहू को कह्यो न करै आपुनी ही टेक परै
मन सौं न कोऊ हम जान्यौ दगाबाज है॥

[२]जिनि ठगे शंकर बिधाता इन्द्र देव मुनि
आपनौ ऊ अधपति ठग्यौ जिमि चन्द है।
और योगी जंगम संन्यासी शेष कौन गनै
सब ही कौं ठगत ठगावै न सुछन्द है॥
तापस ऋषीश्वर सकल पचि पचि गये
काहू कै न आवै हाथ ऐसौ या बंद है।
सुन्दर कहत बसि कौन विधि कीजै ताहि
मन सौं न कोऊ या जगत मांहि रिन्द है॥

[३]रंक को नचावै अभिलाषा धन पाइबे की
निश दिन सोच करि ऐसें ही पचत हैं।
राजहिं नचावै सब भूमि ही को राज लेव

को भी लज्जित कर रखा है। इसकी गति बड़ी ही विचित्र है।[1] मन का स्वरूप परिवर्तनशील है। स्थिति और दशा के अनुकूल ही मन अपने स्वरूप का निर्माण कर लेता है। नारी को देखकर उसमें काम-वृत्ति की भावना जाग्रत होती है। क्रोध का आलम्बन पा कर उसका मन तद्रूप बन जाता है। मायादि के बन्धनों और पाशों में वद्ध हो कर उसकी आकृति तदनुकूल बन जाती है। इसीलिए सन्तों ने बारम्बार मन को ब्रह्ममय करने का उपदेश दिया है।[2] मन नित्य ही नये रूप को धारण करता है। मन में जैसे विचारों का उद्रेक होता है वैसा ही उसका स्वरूप बनता रहता है। कभी मन साधु बन जाता है कभी विचारों के आवेग में वही मन चोर बन जाता है। कभी वह राजा होता है, कभी रंक, कभी दीन, कभी गुमानी, कभी कामी, कभी विरागी, कभी निर्मल और कभी मलीन।[3] मन जो

औरउ नचावै कोइ देह सौं रचत है॥
देवता असुर सिद्ध पन्नग सकल लोक
कीट पशु पंछी कहु कैसै कै बचत है।
सुन्दर कहत काहू संत की कही न जाइ
मन कै नचाये सब जगत नचत है॥

[1]स्वान कहूँ कि शृगाल कहूँ कि बिडाल कहूँ मन की मति तैसी।
ढ़ेढ़ कहू किधौं डूम कहूँ किधौं भांड कहूँ कि भंडाइ दे जैसी॥
चौर कहूँ बटमार कहूँ ठग जार कहूँ उपमा कहुँ कैसी।
सुन्दर और कहा कहिये अब या मन की गति दीसति ऐसी॥

[2]जौ मन नारि की ओर निहारत तौ मन होत है ताहि कौ रूपा।
जौ मन काहु सौं क्रोध करै जब क्रोध मई होइ जात तद्रूपा॥
जौ मन माया हि माया रटै नित तौ मन बूड़त माया के कूपा।
सुन्दर जौ मन ब्रह्म विचारत तौ मन होत है ब्रह्मस्वरूपा॥

[3]कबहुँक साध होत कबहुँक चोर होत
कबहुँक राजा होत कबहुँक रंक सौ।
कबहुँक दीन होत कबहुँक गुमानी होत
कबहुँक सूधौ होत कबहुँक बंक सौ॥
कबहुँक कामी होत कबहुँक जती होत
कबहुँक निर्मल होत कबहुँक पंक सौ॥
मन को स्वरूप ऐसौ सुन्दर फटिक जैसो
कबहुँक सूर होत कबहुँक मयंक सौं॥

कुछ देखता, सुनता तथा ग्रहण करता है बस वह सभी कुछ भ्रम है।[1] सुन्दरदास के मत में मन आत्मा का पुत्र है। अवगुणों और विषयानुरक्त होने के कारण मन पवित्र आत्मा से उत्पन्न होने पर भी कुपुत्र कहा गया है। अवगुणों से निवृत्त होने पर, अहंकारादि से मुक्त होने पर यही मन परम् तत्व अपने पिता का अनुयायी और आज्ञावर्ती होता है। मन के परमातत्व में संलग्न होने पर ही मानव में 'अहम् ब्रह्मास्मि' की भावना का उद्रेक होता है। श्रुति के शब्दों में,

"मनो वै ब्रह्म"

अर्थात् मन ही वह ब्रह्म है। मन सकल घट व्यापक है। इसीलिए वह मन आत्म-स्वरूप और सर्वव्यापक कहा गया है। मन आकाश के समान ही सर्वव्यापी और अतिसूक्ष्म है।[2] यह संसार, यह सृष्टि, यह रज्जु का सर्प, यह मृगमरीचिका, यह रजतशुक्ति, सब कुछ मन से उत्पन्न है।[3] रज्जुसर्प, रजतशुक्ति, और मृगमरीचिका तीनों ही आध्यात्मवाद से सम्बंधित

---

[1]जोई देषै कछु सोई सोई मन आहि
जोई जोई सुनै सोई मन ही कौं भ्रम है।
जाई जोई सूंघै जोई षाई जौ सपर्श होइ
जोई जोई करै सोऊ मन ही कौं क्रम है॥
जोई जोई ग्रहै जोई त्यागै जोई अनुरागै
जहाँ जहाँ जाइ सोई मन ही को श्रम है।
जोई जोई कहै सोई सुन्दर सकल मन
जोई जोई कलपै सु मन ही को भ्रम है॥

[2]तौ सौ न कपूत कोऊ कतहूँ न देषियत
तौ सौ न सपूत कोऊ देषियत और है।
तूं ही आप भूलि महा नीच हूँ ते नीच होइ
तूं ही आपु जाने तें सकल सिर मौर है॥
तूं ही आपु भ्रमैं तब भ्रमत जगत देषै
तेरै थिर भये सब ठौर ही कौ ठौर है।
तूं ही जीव रूप तूं ही ब्रह्म है आकाशवत
सुन्दर कहत मन तेरी सब दौर है॥

[3]मन ही के भ्रम तें जगत यह देषियत
मन ही कौ भ्रम गये जगत बिलात है।
मन ही के भ्रम जेवरी मैं उपजत सांप
मन ही के विचारें साँप जेवरी समात है॥

हैं। मन के ये तीनों दृष्टांत 'वेदांत सूत्र' (अ० ३ पाद ३, ५), तथा 'शंकरभाष्य' के उपोद्धात से ग्रहीत हैं। साधना के क्षेत्र में साधक काया को भाँति-भाँति से कष्ट प्रदान करता है, भाँति-भाँति से उसे उत्पीड़ित करता है परन्तु काया का संचालक, देह को गतिमान बनानेवाले मन को कोई भी नियंत्रित नहीं करता है। मन को वशीभूत कर लेने से समस्त इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है। मन के चंचल रहने से शरीर कभी भी नियंत्रित नहीं होता है। कवि के शब्दों में—

सुन्दर साधन करत है मन जीतन कै काज।
मन जीतैं उब सबनि कौं करै आपनौ राज ॥
साधन करहि अनेक विधि देहि देह कौ दंड।
सुन्दर मन भाग्यौ फिरै सप्त दीप नौ खंड।
सुन्दर आसन मारि कै साधि रहे मुख मौंन।
तन कौ राषै पकरि कै मन गन पकरै कौन ॥
तन कौ साधन होत है मन कौ साधन नांहि।
सुन्दर साधन सब करै मन साधन मन मांहि ॥
साधत साधत मन गये करहि और की और।
सुन्दर एक विचार बिन मन नहि आवै ठौर ॥

मन में समस्त गुणों का समावेश है। उसमें सद्गुण भी हैं तथा दुर्गुण भी हैं। वही सिद्ध है, वही अवधूत है जिसका मन स्थिर और स्ववश है :

मन ही बड़ौ कपूत है मन ही महा सपूत।
सुन्दर जौ मन थिर रहै तौ मन ही अवधूत ॥

सुन्दरदास ने मन के लिए चंचल, पवन, चकोर, मीन, मोर[1], कपूत[2] सपूत राव, बघूरा[3] पीपर पत्र, बाजीगर, मृग, श्वान[4], रासभ, डूम, भाँड़, बटपार, जार, चोर, दगाबाज

मन ही के भ्रमतैं मरीचिका कौ जल कहै
मन ही के भ्रम सीप रूपौ सौ दिषात है।
सुन्दर सकल यह दीसै मन ही कौ भ्रम
मन ही कौ भ्रम गये ब्रह्म होइ जात है ॥

[1]सुन्दरग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७३१
[2] ,, ,, पृ० ७२६
[3] ,, ,, पृ० ७२८
[4] ,, ,, पृ० ७२७

रिन्द, अधम[1], कुटिल, भूत, लालची[2] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों में से कुछ उसकी चंचलता, कुछ उसके दोष तथा कुछ आकार को व्यक्त करते हैं। अन्य सन्तों में से कबीर ने मन की चंचलता को प्रकट करने के लिए उसकी तुलना समुद्र की लोल लहरों[3], और पंछी[4] से की है। दादू ने उसे आकाश में उड़ने वाली पतंग की संज्ञा प्रदान की है।[5] सन्त कवि मलूकदास ने मन की चंचलता के कारण शरीर की चंचलता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। मलूक के अनुसार मन शरीर का संचालक है। वह जो कुछ भी करता है केवल मन की प्रेरणा से। शरीर एक यंत्र की भाँति मन की इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र है। जिस प्रकार पवन के संयोग से निर्जीव वृक्ष गतिमान हो जाते हैं उसी प्रकार मन के कारण शरीर। जिस प्रकार प्रशांत गम्भीर महासागर केवल वायु के स्पर्श से अशांत हो उठाता है और उसकी उत्तुंग तरंगें आकाश का चुम्बन करने लग जाती हैं, उसी प्रकार मन की प्रेरणा मात्र से समस्त शरीर गतिशील बन जाता है। शरीर द्वारा सम्पादित कार्यों का कारण मन ही है :

(क) जो मन करै सो होइ देह कृत होवै नहीं।
(ख) जैसे पवन संजोग ते हलै वृक्ष निरजान।
तैसै मन कर देह एह जित तित फिरै सुभाये ॥
(ग) जैंव समुंदर थिर गंभीरा।
पवन संजोग ते चंचल नीरा।
तेउँ मन के बल चले सरीरा ॥
(घ) कारण सब को चित
जबलग चित तब लग जगत

(रतन खान)

---

[1]सुन्दरग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७२६
[2] ,, ,, पृ० ७२५
[3]संतबानी संग्रह भाग १, पृ० ५५-६
[4] ,, ,, ,, पृ० ५६-१२
[5] ,, ,, ,, पृ० ६६-३

जगत

जगत का सर्वप्रथम रचयिता शब्द-रूप एक निराकार पुरुष था। उससे अगम, अगोचर तथा अलख ओंकार की उत्पत्ति हुई। ओंकार से आकाश की रचना हुई और आकाश से वायु विरचित हुआ। वायु से तेज एवं तेज से जल की उत्पत्ति हुई। क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर पंच महातत्वों से पिंड (मानव के शरीर) निर्मित हुआ। क्षिति के तेज से मनुष्य के समस्त अंगों की रचना की और जल के तेज से अनंग की रचना हुई। अग्नि के तेज से जठराग्नि एवं पवन के तेज से प्राण का सर्जन हुआ। गगन के तेज से सुरति सवारी (स्मरण शक्ति) की रचना हुई। इस प्रकार इस संसार वा जगत की रचना के मूल में प्रधान तत्व शब्द-रूप निराकार परब्रह्म ही है। उसी एक बीज से सृष्टि की रचना हुई और वही ब्रह्म अखिल ब्रह्मांड की प्रत्येक वस्तु में छाया हुआ है। वही संसार का संचालक और विधायक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सांख्य-योग' प्रकरण में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि संसार की स्थिति प्रकृति एवं पुरुष के संसर्ग के समागम से है। प्रकृति नित्य ही अपने प्रपंचों द्वारा नाना प्रकार के भ्रमों का उत्पादन किया करती है और मनुष्य उन्हें सत्य, उपयोगी और कल्याणकारी मान बैठता है। फलतः वह उसी में नित्य प्रति संलग्न रहता है और जो संसार की वास्तविक स्थिति का आधार है उससे वह सर्वथा अपरिचित ही रह जाता है। प्रकृति और पुरुष के संसर्ग से उत्पन्न संसार अनित्य एवं विनाशशील है। सन्तों ने इस संसार की स्थिति की तुलना रात्रि के स्वप्न अथवा परछाँई से की है। यह संसार मिथ्या है। इसमें रहनेवाले, इसके ऐश्वर्य, इसके मापदंड, इसके विधि-व्यवहार, आदान-प्रदान, सम्बन्धादि असार हैं। इस अनित्य संसार के बंधन, उत्सव, सुख-दुख सभी क्षणिक हैं। यहाँ माता, पिता, सुत, नारी, चेरा, चेरी, हाथी, घोड़ा, धन सभी स्वप्नवत हैं। जिस प्रकार मरु प्रदेश में जल की कल्पना असत्य और दुखद है उसी प्रकार इस संसार का नाम एवं रूपादि भी असत्य है, अनित्य हैं। जिस प्रकार बादल उठते हैं और पुनः विनष्ट हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार इस संसार की स्थिति है। इसके विकास और विनाश में विलम्ब नहीं प्रतीत होता है।

इस जगत में एक अविनाशी अश्वत्थ है। इसकी जड़ क्षर और अक्षर से भी ऊपर अर्थात् उत्तम पुरुष ब्रह्म है। इसकी शाखायें हिरण्यगर्भ से लेकर कीट पतंग आदि नीचे की ओर फैली हैं। संसार वृक्ष की शाखायें सतोगुणादि रूप जल से सिंचित करके जो ऊपर और

नीचे चारों ओर फैल गई हैं। इनमें इन्द्रियों के शब्द, रूप, रसादि विषय नई कोंपलों के समान हैं और मनुष्य लोक में भी भले बुरे कर्मों के अनुसार मूल फैले हुए अर्थात् कर्मानुसार सुख-दुख का उपभोग करता है। संसार रूप वृक्ष की जड़ माया अविद्या है। यह जड़ ज्ञान और प्रसंग से विच्छिन्न हो सकती है। कवि सुन्दरदास ने इस जगत रूपी वृक्ष का वर्णन निम्नलिखित छन्द में किया है—

किंधौं न विचार कछु मनक परी है कान
भार आई सुनि कै डरपि विष पायौ है।
जैसे कोऊ अनछतौ ऐसें ही बुलाइयत
बार बीति गई पर कोऊ नहिं आयौ है॥
वेद हिं बरनि कै जगत तरु ठाढ़ौ कियौ
अंत पुनि वेद जर मूल तें उठायौ है।
तैसें हि सुन्दर याकौ कोऊ एक पावै भेद
जगत को नाम सुनि जगत भुलायौ है॥

सुन्दरदास के अनुसार प्रकृति के प्रपंच, माया के बन्धन तथा अज्ञान का अंधकार, मानव को चारों ओर से आवृत किए हुए हैं। फलतः मानव की दिव्य दृष्टि अन्तर्हित हो गई है और वह स्थूल (चाम) दृष्टि से ही संसार को देखता है। मानव की स्थूल दृष्टि उसे माया के प्रपंचों में नियोजित करती है। जिस प्रकार बादलों से ढके हुए आकाश की ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती वरन् सभी बादलों की ओर देखते हैं उसी प्रकार एक अव्यय ब्रह्म को न देखकर या देखने का प्रयत्न न करके मानव तज्जनित सृष्टि को देखता है—

ऐसौ ही अज्ञान कोऊ आइ कैं प्रगट भयौ
दिव्य दृष्टि दुरि-दुरि गई देषै चम दृष्टि कौं।
जैसें एक आरसी सदा ई हाथ मांहि रहैं
सामैं हो न देषै फेरि-फेरि देषे पृष्टि कौं॥
जैसे एक व्योम पुनि बादर सौं छाइ रह्यौ
व्योम नहिं देषत-देषत बहु वृष्टि कौं।
तैसे एक ब्रह्म ई विराजमान सुन्दर है
ब्रह्म कौं न देषै कोऊ देषै सब सृष्टि कौं।

उपाधि के कारण यथार्थ ज्ञान न होने से ही अभिप्राय है। सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि या ज्ञान से शुद्ध हुई बुद्धि के अभाव में ब्रह्म अनुभवित नहीं हो सकता है। स्थूल दृष्टि

से यह असत्य जगत भी सत्य प्रतीत होता है। यह असत्य जगत अज्ञान-जनित है। यथा स्वप्न में कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति द्वारा उत्पीड़न का अनुभव करता है और कष्ट न होते हुए भी कष्ट का अनुभव (स्वप्न में) करता है, यथा अंधकार के कारण रस्सी में मनुष्य साँप का आभास पाता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश के बिना मनुष्य मायादि में संलग्न होकर विविध कष्टों का अनुभव करता है।[1] संसार ब्रह्ममय है पर मनुष्य उसी से सबसे कम परिचित है। मृत्तिका विनिर्मित बर्त्तन को देखकर बर्त्तन का ही ज्ञान होता है मृतिका का नहीं और आभूषण के रूपादि को देख कर मनुष्य उसी पर मुग्ध हो जाता है पर वह नहीं जानता कि उस आभूषण की स्थिति का रहस्य है स्वर्ण या कनक। वृक्ष की मूल स्थिति बीज है पर उस के प्रति कौन ध्यान देता है? इसी प्रकार जगत की स्थिति परब्रह्म के कारण है पर जगत में अत्यधिक लीन होने के कारण कोई भी उसको देखने का प्रयत्न नहीं करता है।[2]

इस जगत में सभी कुछ मिथ्या है, सभी कुछ असार और क्षय प्राप्त है। यदि कुछ भी अव्यय है तो वही ब्रह्म है। वही जगतरूप है। वही निमित्त और उपादान कारण है।

[1]अनछतौ जगत अज्ञान ते प्रगट भयौ
जैसै कोऊ बालक वैताल देषि डर्‌यौ है।
जैसै कोऊ स्वप्ने मैं दाब्यौ है अथारै आइ
मुख तें न आवै बोल ऐसौ दुख पर्‌यौ है॥
जैसै अँधियारी रैंन जेवरौ न जानै ताहिं
आपुही तें साँप मानि भय अति कर्‌यौ है।
तैसै ही सुन्दर एक ज्ञान कै प्रकास बिन
आपु दुख पाय पाय आपु पचि मर्‌यौ है॥

[2]मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप माँहि
मृत्तिका कौ नाम मिटि भाजन ई गह्यौ है।
कनक समाइ त्यौं ही होइ रह्यो आभूषन
कनक न कहै कोऊ आभूषन कह्यो है॥
बीज ऊ समाइ करि वृक्ष होइ रह्यो पुनि
वृक्ष ई कौं देषियत बीज नहीं लह्यो है।
सुन्दर कहत यह यौंही करि जानौं सब
ब्रह्म ई जगत होइ ब्रह्म दुरि रह्यो है॥

वह भासमान जगत माया का विवर्त्तरूप और मृगमरीचिकावत है। संसार माया का जाल है। उपाधि के आरोप से रस्सी का साँप या सीप में चाँदी प्रतीत होती है उसी प्रकार सत्य वस्तु ब्रह्म में असत्य वस्तु संसार प्रतीत होता है।[1]

---

[1]कहत है देह मांहि जीव आइ मिलि रह्यौ
कहाँ देह कहाँ जीव वृथा चौंकि पर्‌यौ है।
बूडवे के डर ते तिरन कौ उपाइ करै
ऐसै नहिं जानैं यह मृगजल भर्‌यौ है॥
जेवरे कौ साँपु जैसे सीप विषै रूपौ जाँनि
और कौं और इ देषि यौं ही भ्रम कर्‌यौ है।
सुन्दर कहत यह एकई अखंड ब्रह्म
ताही कौं पलटि कैं जगत नाम धर्‌यौ है॥

काल

जीवन एक पहेली है और उसका रहस्य है मृत्यु। जीवन एक अध्याय है और मृत्यु उसका अन्त है। जीवन संध्या के पश्चात् मृत्यु रात्रि का काला आवरण है। जीवन एक राग है और मृत्यु उसकी अंतिम स्वर लहरी। जीवन के अनन्तर मृत्यु का क्रम निश्चित है, निर्धारित है। *जीवन का अंतिम अध्याय है* मृत्यु, अंतिम दृश्य है मृत्यु।

जीवन में यदि कुछ भी निश्चित है तो वह है मृत्यु। इस नैश्चित्य की तुलना सूर्योदय, ऋतु के अवश्यम्भावी क्रम, एवं ब्रह्म की स्थिति से किया जाता है। जीवन की इतनी निश्चित घटना होते हुए भी वह इतनी अप्रिय, कटु और दुखद इसलिए है कि मानव माया में अत्यधिक लिप्त है, जीवन के असार तत्वों में वह नितांत व्यस्त है, वाह्याडम्बरों में वह संलग्न है। जानते हुए भी वह जीवन की मृग-मरीचिका में व्यर्थ ही भ्रमता फिरता है। इसी मृग-मरीचिका के पीछे भ्रमते-भ्रमते एक दिन अचानक ही वह काल का विकराल रूप देख कर काँप उठता है। यही जीवन का अन्त है।

मृत्यु या काल उतना ही प्राचीन है जितनी सृष्टि। सृष्टि के अंतिम दिन तक वह जीवित रहेगा। जड़-चेतन, चल-अचल सभी का एक प्रारम्भ है और एक अन्त, एक जन्म है और एक मृत्यु। काल से कोई अछूता न रहा है, न रहेगा। वह सभी का अन्तिम साथी बनता है। काल या मृत्यु से संसार में यदि कोई भी परे है तो वह ब्रह्म, परमपिता, परमात्मा।

प्रत्येक जीव का केश काल के हाथ में है। दिन एवं रात्रि रूपी चक्की के दो पाटों के मध्य में काल मनुष्य को सृष्टि के प्रारम्भ से अंत तक पीसता रहेगा फिर भी मानव अचेत है, वेसुध है।

सन्तों ने काल से लड़ने के हेतु प्रस्तुत रहने के लिए वारम्बार सचेत किया है। काल की भयावनी आकृति, कटु अनुभव, दुखद परिणाम, उसकी व्यापकता का चित्रण इन संतों ने वारम्बार किया है। माया में लिप्त जनता, संघर्षों में रत मानव और मृग-मरीचिका के पीछे भागने वाले मनुष्यों को उन्होंने वारम्बार मृत्यु के भयानक स्वरूप को और दुखद आगमन की सूचना देने का प्रयत्न किया है। 'काल' के विषय में प्रायः सभी सन्तों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। कबीर[१] दादू[२], नानक[३], मलूक[४], जगजीवन

---

[१] स० बा० सं०, भाग १, पृ० ८

[२] ,, ,, ,, पृ० ७६

[३] ,, ,, ,, पृ० ६८

[४] ,, ,, ,, पृ० १००

साहब[1], दरिया साहब विहार वाले[2], दूलनदास[3], सहजोबाई[4], दयाबाई[5], गरीबदास[6], पलटूसाहब[7], तुलसीसाहब[8] आदि ने बार-बार काल से सचेत रहने का उपदेश दिया है। इन सन्तों ने काल से सचेत रहने के लिए जो कुछ भी लिखा (या कहा) है वह 'चेतावनी' शीर्षक के अन्तर्गत ही लिखा (या कहा) है। संत कवि सुन्दरदास ने काल विषय चेतावनी रचना "काल चेतावनी का अंग" शीर्षक के अन्तर्गत की है। कवि ने 'सुन्दर विलास' में काल चेतावनी के विषय में २७ छन्दों की रचना की है और स्फुट साखी साहित्य के अन्तर्गत ५० छन्दों की रचना की है। इस प्रकार इस विषय पर क्रमबद्ध रूप में कवि ने ७७ छन्दों की रचना की है।

'सुन्दरविलास' में कवि ने काल-चेतावनी का प्रारम्भ मानव की भौतिकता या भौतिक-वादिता से किया है। मानव नित्य प्रति घर, द्वार, धन, सम्पत्ति आदि माया में, माता-पिता, सुत, त्रिया, बन्धु-बांधव आदि सांसारिक सम्बन्धों में लिप्त रहता है। वह संसार के झूठे प्रपंचों को ही सत्य मानकर उनमें अनुरक्त रहता है, मोह, ममता और ममत्व उसके आध्यात्मिक विकास में एक बड़ी खाँई के सदृश्य बाधक हैं। माया के असार तत्वों को वह अपना अस्तित्व और आधार मानता है। मूर्ख बन्दर के समान वह काठ की पुतली को भी सच्चा मान बैठता है। ठीक उसी प्रकार वह माया के इन्द्रजाल को सच्चा और वास्तविक संसार मान बैठा है। परन्तु जिस दिन अचानक आँखें मूद जायँगी और शरीर पंचत्व को प्राप्त हो जायगा उसी दिन ये अपनत्व और परत्व के बन्धन विच्छिन्न हो जायँगे, माया के बन्धन शिथिल हो जाँयगे और बन्धु-बांधव घृणा करने लगेंगे।[9] यह ममता की

[1] स० बा० स०, भाग १, पृ० ११७
[2] ,, ,, ,, पृ० १२२
[3] ,, ,, ,, पृ० १३६
[4] ,, ,, ,, पृ० १५६
[5] ,, ,, ,, पृ० १७०
[6] ,, ,, ,, पृ० १८८
[7] ,, ,, ,, पृ० २१४
[8] ,, ,, ,, पृ० २२८

[9] मंदिर माल विलाइति है गज ऊंट दमामें दिना इक दो है।
तातहुमात त्रिया सुत बंधव देषि धौ पामर होत विछोहै॥
झूठ प्रपंच सौं राचि रह्यौ शठ काठ की पूतरि ज्यौं कपि मोहै।
मेरिहि मेरि करै नित सुन्दर आंष लगै कहि कौंन को को है॥

भावना अवस्था के साथ ही विकसित होती जाती है। मनुष्य के देखते-देखते कितने ही उसके साथी-संघाती, बन्धु-बांधव, मित्र-कलत्रादि काल के गाल में विनष्ट हो गए पर वह सचेत न हुआ। वह फिर भी माया के बन्धन में स्वतः अपने को जकड़ता गया।[1] मनुष्य को देह की विनाशशीलता का ज्ञान होते हुए भी वह उसके प्रति अत्यधिक अनुरक्त है। मृत्तिका-घट के सदृश्य यह मानव-शरीर न जाने कब नष्ट हो जाय फिर भी वह उसे भाँति-भाँति के वस्त्रादिक से अलंकृत करता है और आकर्षक बनाया करता है। नित्य ही क्षय को प्राप्त यह उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है और एक दिन अचानक ही काल उसे अपना ग्रास बना लेता है, पर जान कर भी अज्ञान बना रहने वाला मानव कभी भी सचेत नहीं होता है।[2] मनुष्य नित्यप्रति कल्पना और मनोरथों के महल बनाता रहता है। वह भौतिकता में इतना अधिक संलग्न रहता है कि उसे कभी भी काल के अनिश्चित आगमन का ध्यान नहीं रहता है। जिस धन और ऐश्वर्य को एकत्रित करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है वही उससे छूट जाता है। न वह राम-भजन ही कर पाता है न सत्कर्म ही कर पाता है।[3]जीवन का इतना समय व्यतीत हो गया; पर माया-मोह के पाश से अवकाश न प्राप्त हुआ। भविष्य भी इसी प्रकार आयेगा और व्यतीत हो जायगा फिर भी मानव को

तथा : ये मेरे देश बिलाइति हैं गजये मेरे मंदिर या मेरी थाती।
ये मेरे मात पिता पुनि बंधव ये मेरे पूत सु ये मेरे नाती॥
ये मेरि कामिनी केलि करें नित ये मेरे सेवक हैं दिन राती।
सुन्दर वैसेहिं छाड़ि गयौ सब तेल जर्‌यौ रु बुझी जब बाती॥

[1]संत सदा उपदेश बतावत केश सबै सिर सेत भये हैं।
तू ममता अजहूँ नहिं छाड़त मौति हू आइ संदेश दये हैं॥
आजकि काल्हि चले उठि मूरष तेरे हि देषत केते गये हैं।
सुन्दर क्यौं नहिं राम संभारत या जग मैं कहि कौन रहे हैं॥

[2]देहसनेह न छाड़त है नर जानत है सठ है थिर येहा।
छीजत जाइ घटै दिनही दिन दीसत है घट कौ नित छेहा॥
काल अचानक आइ गहै कर ढाहि गिराइ करै तन षेहा॥
सुन्दर जानि यहै निहचै धरि एक निरंजन सौं करि नेहा।

[3]तूं कछु और बिचारत है नर तेरौ बिचार धर्‌यौ ई रहैगो।
कोटि उपाय करै धन कै हित भाग लिख्यौ तितनौ ई लहैगो॥
भोर कि सांझ घरी पल मांझ सु काल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत सुन्दर यौं पछिताइ कहैगो॥

विषय वासनादि से अवकास नहीं प्राप्त होगा । वह निरंतर भौतिकता से ही सम्बद्ध रहेगा । मनुष्य भले ही ईश्वर या काल को भूला रहे पर काल तो सदैव उसकी ओर एक दृष्टि से घूरता रहता है । काल जब इच्छा करेगा तभी अविलम्ब मानव के जीवन को समाप्त कर देगा ।[1] मनुष्य धूम-धाम, बाह्य प्रदर्शनादि में संलग्न रहता है पर उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता है कि यह प्रासाद, यह सुन्दरी स्त्री, यह ऐश्वर्य, यह अहंकारादि सब निःसार हैं । ये सभी उसका कभी साथ नहीं दे सकेंगे । काल जिस समय अचानक ही आक्रमण कर देगा उस विपत्ति के समय में सभी वस्तुएँ विलग हो जायँगी । जिस प्रकार वन में किल्लोल मारते हुए मृग को सिंह क्षणों में ही मार कर टुकड़े-टुकड़े कर डालता है, ठीक उसी प्रकार समारोहों और उत्सवों आदि में व्यस्त मानव को काल समाप्त कर देगा ।[2] मनुष्य जब तक जीवित है विषयों का कीड़ा बना रहता है, वह स्त्रियों के पीछे-पीछे लगा रहता है । वह नीति-अनीति का ध्यान नहीं करता है । मस्त कुंजर की भाँति वह निःशंक होकर विचरता फिरता है । परन्तु केहरि रूपी काल कुंजर रूपी मानव को शीघ्र ही नष्ट कर डालेगा इसमें सन्देह नहीं । तभी उसको प्रतीत होगा कि उसका जन्म व्यर्थ ही बीत गया । सार को छोड़कर असार तत्वों का उसने संग्रह किया ।[3] इस संसार में सभी सम्बन्ध स्वार्थ के आधार पर हैं । परन्तु इन संबन्धों में उलझा हुआ मानव अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं समझ पाता है । औचित्य एवं अनौचित्य का ध्यान छोड़कर वह नित्य ही दुष्कर्मों में संलग्न रहता है और उनके उत्तरदायित्व का भार अपने कंधों पर लेता रहता है । परन्तु प्राण निकलते ही इनमें से एक

---

[1] बीति गये पिछले सब ही दिन आवत है अगिलौ दिन नेरै ।
काल महा बलवंत बड़ौ रिपु सौंधि रह्यौ सिर ऊपर तेरै ।।
एक घरी मंहि मारि गिरावत लागत ताहि कछू नहिं बेरै ।
सुन्दर संत पुकारि कहै सबहूँ पुनि तोहि कहूँ अब टेरै ।।

[2] सोइ रह्यौ कहा गाफिल ह्वै करि तो सिर ऊपर काल दहारै ।
धामस धूमस लागि रह्यौ सठ आय अचानक तोहि पछारै ।।
ज्यौं बन मैं मृग कूदत फांदत चित्रक लै नख सौं उर फारै ।
सुन्दर काल डरै जिहिं कै डर ता प्रभु कौं कहि क्यौं न संभारै ।।

[3] तूँ अति गाफिल होइ रह्यौ सठ कुंजर ज्यौं कछु शंक न आनै ।
भाइ नहीं तन मैं अपने बल मत्त भयौ विषया सुख ठानै ।।
पोसत पासत वै दिन बीतत नीति अनीति कछू नहि जानै ।
सुन्दर केहरि काल महा रिपु दंत उपारि कुंभस्थल भानै ।।

भी व्यक्ति या वस्तु मानव का साथ नहीं देती है।[1] बन्धु-बांधवों में अपनी स्थिति को विस्मृत मानव को काल एक दिन अचानक ही आकर खा जायगा। जैसे तीतर को बाज, मछली को बकुला, मक्षिका को मकड़ी, मूषक को सर्प, अचानक आक्रमण करके खा जाता है ठीक उसी प्रकार जीव को काल खा जायगा।[2] मनुष्य जीवन पर्यन्त भूल ही करता रहता है पर उसे अपनी भूलों का ध्यान तब होता है जब अचानक ही काल के मुख में ग्रास बन जाता है। परन्तु उस समय पश्चात्ताप से क्या लाभ ?[3] संसार में काल एक सर्वभक्षक जन्तु की भाँति सर्वत्र व्याप्त है। समस्त क्रियाओं को करते हुए, समस्त सम्बन्धों को बनाये रखते हुए भी मानव प्रतिक्षण प्रतिपल काल की ओर अग्रसर है।[4] काल के सदृश संसार में

---

[1]माता पिता जुवती सुत बंधव आइ मिल्यौ इन सौं सनमंधा।
स्वारथ कै अपने अपने सब सो यह नांहि न जानत अंधा॥
कर्म विकर्म करै तिन कै हित भार धरै नित आपनै कंधा।
अंत बिछोह भयौ सब सौ पुनि याहि तें सुन्दर है जग अंधा॥

[2]करत करत धंध कछुक न जानै अंध
आवत निकट दिन आगिलौ चापिदै।
जैसै बाज तीतर कौं दाबत अचानक
जैसे बक मछरी कौं लीलत लपाकि दै॥
जैसे मच्छिका को घात मकरी करत आइ
जैसे साँप मूषक कौ ग्रसत गपाकि दै।
चेतिरे अचेत नर सुन्दर संभारि राम
ऐसै तोहि काल आइ लेइगौ टपाकि दै॥

[3]जब ते जनम धर्यौ तब ही तें भूलि पर्यौ
बालापन मांहि भूलौ संमुझ्यौ न रूख मैं।
जौबन भयौ है जब काम बस भयौ तब
जुवती सौं एक मेक भूलि रह्यौ सुख मैं॥
पुत्रउ पौउत्र भये भूलौ तब मोह बांधि
चिन्ता करि करि भूलौ जानै नहिं दुख मैं।
सुन्दर कहत सठ तीनौं पन मांहि भूलौ
भूलौ भूलौ जाइ पर्यौ काल ही के मुख मैं॥

[4]ऊठत बैठत काल जागत सोवत काल
चलत फिरत काल काल बोर धर्यौ है।

कोई और शक्तिशाली भी नहीं है। तीनों लोकों में सर्वत्र इसी काल का भय छाया हुआ है।[1] इस संसार में मनुष्य निःसार और असत्य वस्तुओं से अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए है।[2] इसीलिए वह काल के मुख में उसी प्रकार सरलता से चला जाता है जिस प्रकार समुद्र में नदी का जल बड़ी ही सुगमता के साथ गिरता जाता है। ज्ञान के उत्पन्न होते ही ये समस्त सम्बन्ध असत्य भासित हो जाते हैं। काल के विकराल प्रभाव से मानव की रक्षा करनेवाला एकमात्र ईश्वर है, अन्य कोई नहीं। उसी की कृपा से मनुष्य आवागमन से उन्मुक्त होकर काल से बच जाता है।[3]

कहत सुनत काल पात हूँ पीवत काल
काल ही के गाल मांहिं हर हर हंस्यौ है ॥
तात मात बंधु काल सुत दारा गृह काल
सकल कुटुंब काल काल जाल फंस्यौ है।
सुन्दर कहत एक राम बिन सब काल
काल ही कौ कृत्त कियौ काल ग्रस्यौ है ॥

[1]काल सौं न बलवंत कोऊ नहिं देषियत
सबकौ करत काल महा जोर है।
काल ही कौ डर सुनि भग्यौ मूसा पैकंबर
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ वाकौ गोर है ॥
काल है भयानक भैभीत सब किये लोक
स्वर्ग मृत्यु पाताल मैं काल ही को सोर है।
सुन्दर काल कौ काल एक ब्रह्म है अखंड
वासौं काल डरे जोई चल्यौ उहि वोर है ॥

[2]झूठौ धन झूठौ धाम झूठौ कुल झूठौ काम
झूठी देह झूठौ नाम धरि कै बुलायौ है।
झूठौ तात झूठी मात झूठे सुतदारा भ्रात
झूठौ हित मानि मानि झूठौ मन लायौ है ॥
झूठौ लैन झूठौं दैन झूठौं मुख बोले बैन
झूठै झूठै करि फैन झूठ ही कौं धायौ है।
झूठ ही मैं ये तौं भये झूठ ही मैं पचि गयौ
सुन्दर कहत साँच कबहूँ न आयौ है ॥

[3]झूठ सौं बंध्यो है लाल ताही तें ग्रसत काल
काल विकराल व्याल सबही कौं षात है ॥

काल का बड़ा विकराल प्रभाव है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, समस्त देवता, कुबेर, राक्षस, असुर, भूत, प्रेत, पिचाश, सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, पृथ्वी, आकाश, नदी, नद, सभी काल का ध्यान करते ही भयभीत हो उठते हैं। केवल एक ब्रह्म ही उसके प्रभाव से बचा है अन्य कोई नहीं।[1] काल की गति प्रत्येक स्थान पर है यहाँ तक कि जहाँ पवन की गति नहीं होती वहाँ भी काल की गति है—

सुन्दर पौन लगै नहीं राष्यौ तहाँ छिपाइ।
काल पकरि कै कैस कौं बाहरि नाष्यौ आइ।

मन की कल्पनाएँ ही काल है। निःकल्प होने पर मनुष्य समस्त झंझटों से अवकाश पा जाता है। काल साकार वस्तु में व्याप्त होता है। निराकार निर्लेप में नहीं—

जो जो मन में कल्पना सो सो कहिए काल।
सुन्दर तू निःकल्प हो छाड़ि कल्पना जाल॥

नदी को प्रवाह चल्यौ जात है समुद्र मांहि
तैसै जग कालहि कै मुख में समात है।
देह सौं ममत्व तातै काल कौ भै मानत है
ज्ञान उपजै तै वह कालहूँ बिलात है॥
सुन्दर कहत परब्रह्म है सदा अखंड
आदि मध्य अंत एक सोई ठहरात है॥

[1]सुन्दर सब ही थरसलें देषि रूप विकराल।
मुख पसारि कब कौ रह्यौ महा भयानक काल॥
सत्य लोक ब्रह्मा डर्‌यौ शिव डरप्यौ कैलास।
विष्णु डर्‌यौ बैकुंठ मैं सुन्दर मानी त्रास॥
इन्द्र डर्‌यौ अमरावती देवलोक सब देव।
सुन्दर डर्‌यौ कुबेर पुनि देषि सबनि कौ छेव॥
राक्षस असुर सबै डरे भूत पिशाच अनेक।
सुन्दर डरपे स्वर्ग कै काल भयानक एक॥
चन्द सूर तारा डरै धरती अरु आकास।
पाँणी पावक पवन पुनि सुन्दर छाड़ी आस॥
सुन्दर डर सुनि काल कौ कंप्यौ सब ब्रह्मंड।
सागर नदी सुमेर पुनि सप्त द्वीप नौ खंड॥
एक रहै करता पुरुष महाकाल कौ काल।
सुन्दर बहु बिनसै नहीं जांकौ यह सब ख्याल॥

काल ग्रसै आकार कौं जामैं सकल उपाधि।
निराकार निर्लेप है सुन्दर तहाँ न व्याधि॥

सुन्दरदास के मत से मनुष्य व्यर्थ ही अपने चिरस्थायी होने के विषय में सोचता है और भाँति-भाँति से गर्व करता है। काल मनुष्य की समस्त आयोजनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं को धूल में मिला देता है, संसार पर राज्य करने वाले इस बौद्धिक प्राणी मनुष्य को वह क्षणों में राख की ढेर में मिला देता है। मनुष्य ने संसार के भयानक से भयानक जीवों पर विजय प्राप्त कर ली है, आश्चर्यजनक यंत्रों का आविष्कार भी कर लिया है, असम्भव को सम्भव भी कर दिखाया है, वह वायु की गति पर भी अधिकार रखता है, रेत से तेल निकालने की कल्पना कर सकता है, पर बेचारा मानव यदि पराजित हुआ तो केवल काल से अन्य किसी से नहीं—

सुन्दर गर्व कहा करै कहा मरोरै मूंछ।
काल चपेटो मारि है समझ कहूं के मूंछ॥
यौं मति जानैं बावरे काल लगावै बेर।
सुन्दर सबही देषतें होइ राष की ढेर॥
सुन्दर काहे कौं करै थिर रहणें की बात।
तेरे सिर पर जम षड़ा करै अचानक घात॥

———

मानव शरीर

'तृष्णा', 'विश्वास', 'अधैर्य' एवं 'नारी' प्रकरणों के अन्तर्गत यत्र-तत्र मानव शरीर के विषय में कवि के विचारों का उल्लेख हो चुका है। उन सभी उल्लेखों का सारतत्व यह है कि मानव-शरीर क्षणिक विनाशशील एवं अत्यन्त मलिन है। यह शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है। दोनों एक दूसरे के इतने निकट होते हुए भी भिन्न हैं।

मानव शरीर की रचना पंच तत्वों से हुई है। इसका स्थायित्व क्षणिक है। शरीर की उत्पत्ति पुरुष एवं प्रकृति के सम्मगम से हुई है। पंचभूत विनिर्मित यह शरीर समाप्त होने पर भिन्न-भिन्न पंच महाभूतों में ही मिल जाता है।

मानव शरीर एवं उसकी समस्त इन्द्रियाँ मन के वशीभूत रहती हैं। शरीर का संचालन और गति मानव के मन के अनुसार और अनुकूल होता है। शरीर मन का अनुगामी अथवा आज्ञाकारी अनुचर है। इसीलिए साधकों ने मन के नियंत्रित करने पर बारम्बार जोर दिया है। मन के नियंत्रित करने पर इन्द्रियाँ एवं शरीर स्वतः नियंत्रित हो जाते हैं। प्रथम की साधना के फलस्वरूप ही द्वितीय की गति होती है।

मानव-शरीर अत्यन्त मलीन है। रज एवं वीर्य इसके निर्माण का रहस्य है। मल, मूत्र, थूक, खखार, आदि का यह शरीर आगार है। शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि का प्रभाव यह शरीर ही सहन करता है आत्मा नहीं। शरीर क्षीण एवं विकसित होता है। परन्तु इस क्षीणत्व एवं विकास का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता। पवित्र आत्मा इस अपवित्र शरीर में बन्दी नहीं है। वह स्वेच्छा से प्रवेश करती है और स्वेच्छा से ही शरीर का बहिष्कार करती है।

मानव शरीर के विषय में कवि ने अपने विचारों को 'सुन्दरविलास' में 'अथ देह मलीनता गर्व प्रहार कौ अंग' व्यक्त किया है। 'सुन्दरविलास' में कवि ने आठ छन्दों में देह की मलीनता का वर्णन किया है तथा स्फुट साखी साहित्य में कवि ने पचीस साखियों में देह की मलीनता के विषय में अपने विचारों को व्यक्त किया है। इस प्रकार कवि ने कुल तैंतीस छन्दों में देह की मलीनता पर अपने विचारों को प्रकट किया है। हिन्दी के सन्त कवियों में सुन्दरदास ने देह मलीनता के विषय में क्रम-बद्धता की दृष्टि से सब से अधिक लिखा है।

सुन्दरदास के मत्यानुसार मानव शरीर अत्यन्त मलीन है। वह विकारों का आगार है। उसमें जरा (बृद्धापा) एवं विभिन्न दुःख व्याप्त हैं। मानव शरीर किसी न किसी विपत्ति से पीड़ित ही रहता है। पेट, सर, आँख, कान आदि इन्द्रियाँ किसी न किसी कष्ट को झेला ही करती हैं। कहा भी गया हैं कि 'शरीरं व्याधि-मन्दिरं' अर्थात् शरीर व्याधियों

का गृह है ।[1] यह शरीर जिसे मनुष्य अनेक सुखों का आगार और साधन मानता है, विचारपूर्वक देखने से नःसार और क्षणिक है । मेदा, मज्जा, माँस, रग, रक्त आदि इस शरीर के बल हैं । मुख, नेत्र, नाक, हाथ, पाँव जो इतने मनोहर प्रतीत होते हैं, जिन्हें मनुष्य ने आकर्षण का केन्द्र मान लिया है, जिनकी कवि लोग प्रकृति के सुन्दरतम तत्वों एवं उत्तम पदार्थों से तुलना करते हैं वह और कुछ नहीं है केवल अस्थि समूह । मुख जिसकी तुलना चन्द्रमा से दी जाती है, जंघाएँ जिसे कदली-खंभ कहा जाता है, कटि जिसकी केहरि से तुलना होती है, नेत्र जिन्हें खंजन को लज्जित करनेवाला माना जाता है उनका अन्त केवल मुट्ठी भर हड्डियों में है । यह शरीर जो बाह्य रूपेण अत्यन्त आकर्षक एवं मनोमुग्धकारी प्रतीत होता है उसके भीतर मज्जा, मूत्र तथा मल भरा हुआ है । यह शरीर जिस पर मनुष्य को इतना गर्व है वह अत्यन्त मलीन और अपवित्र है । इसकी स्थिति क्षणिक है ।[2] जिस शरीर के सौंदर्य पर मनुष्य इतना प्रसन्न और मुग्ध रहता है उसका एक शब्द चित्र सुन्दरदास की भाषा में ही देखिये—

थूक रु लार भर्‌यौ मुख दीसत आंखि मैं गीज रु नाक मैं सेढ़ौं ।
औरउ द्वार मलीन रहै नित हाड़ के मांस के भीतरि बेढ़ौं ॥

[1]देह तौ मलीन अति बहुत बिकार भरे
ताहू मांहि जरा व्याधि सब दुःख रासी है ।
कबहुँक पेट पीर कबहुंक सिर वाहि
कबहुँक आंषि कांन मुख मैं बिथासी है ॥
औरऊ अपने रोग नख सिख पुरि रहे
कबहुँक स्वास चले कबहुँक षासी है ।
ऐसौ या शरीर ताहि आपनौ कै मानत
सुन्दर कहत या मैं कौन सुखवासी है ॥

[2]जा शरीर मांहि तूं अनेक सुख मानि रह्यौ
ताहि तूं विचारि यामैं कौन बात भली है ।
मेद मज्जा मांस रग रगनि मांहि रकत
पेट हू पिटारी सी यै ठौर ठौर मली है ॥
हाड़नि सौं मुख भर्‌यौ हाड़ ही कै नैन नांक
हाथ पांव सोऊ सब हाड़ ही की नली है ।
सुन्दर कहत याही देषि जिनि भूलै कोइ
भीतर भंगार भरि ऊपर तें कली है ॥

ऐसे शरीर में बास कियौ तब एक से दीसत बांभन ढेढ़ौ।
सुन्दर गर्व कहा इतने पर काहे कौं तूं नर चालत टेढ़ौ॥
हाड़ कौं पिंजर चाम मढ्यौ सब मांहि भर्यौ मल मूत्र बिकारा।
थूक रु लार परै मुख तैं पुनि व्याधि बहैं सब ओरहु द्वारा॥
मांस की जीभ सौं खाइ सबै कछु ताहि ते ताकौ है कौन विचारा।
ऐसे शरीर में पैसि के सुन्दर कैसेक कीजिये सुच्य अचारा॥

उपर्युक्त छन्दों में शरीर का वास्तविक चित्र अंकित हुआ है। इन उद्धरणों में रेखांकित पंक्ति विशेष विचारणीय है। सुन्दरदास के मत से जब सभी शरीर मलीनता का भंडार है, भंगार से ओत-प्रोत है तब ब्राह्मण और शूद्र में अन्तर ही क्या है। जब मलीनता में सभी समान हैं तब फिर ब्राह्मण और शूद्र में भिन्नता नहीं वरन् साम्य है। अपने शरीर की छाया देख-देख मनुष्य व्यर्थ ही गर्व करता है और अहंकार को स्थान देता है।

कवि के मत से यह शरीर जो ऊपर से सुन्दर है रूपवान है, जिसका वहिरंग चित्ताकर्षक है उसका रहस्य बड़ा ही घृणास्पद है। वहिरंग में जो रमणीयता है, वह कलई है, बनावट है, तथा तथ्य नितांत विरुद्ध है। यह शरीर स्पष्ट रूप से नरक की खान है। इसका प्रत्येक अंग मलीन है न जाने इसे किसने भली वस्तु कह दी है—

सुन्दर देह मलीन राख्यौ रूप सँवारि।
ऊपर तें कलई करी भीतर भरी भंगारि॥
सुन्दर देह मलीन है नरक प्रकट को खांनि।
ऐसी याही भाफसी तामैं दीनौ आंनि॥
सुन्दर देह मलीन अति बुरी वस्तु को भौन।
हाड मांस को कौथरा भली वस्तु कहि कौन॥

यह शरीर नख से लेकर शिखा तक विकारों से पूर्ण है। नव द्वारों से रक्त, पीव, मल, मूत्र आदि बाहर बहा करता है।

हाड़ों के समूह पर लपटे हुए चाम को मनुष्य शरीर कहता है और उसकी सुन्दरता देख कर फूला नहीं समाता है। भाँति-भाँति से उसके बाह्य रूप का प्रक्षालन करके उसकी स्वच्छता बनाए रखता है। उसे यह नहीं ज्ञात है कि यही शरीर नरक का भंडार है। शुद्धता और स्वच्छता के विषय में मनुष्य को बड़ा भ्रम है। वह बाह्य शुद्धता को जहाँ तक बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है उतना आभ्यन्तरिक शुचिता की ओर ध्यान नहीं देता है—

सुन्दर पंजर हाड़ कौ चाम लपेट्यौ ताहि।
तामैं बैठ्यौ फूलि कै मो समान को आहि॥

सुन्दर न्हावै बहुत ही बहुत करै आचार।
देह मांहि देषै नहीं भर्‌यौ नरक भंडार॥
सुन्दर अपरस धोवती चौकै बैठौ आइ।
देह मलीन सदा रहै ताही के संगि पाइ॥
सुन्दर ऐसी देह मैं सुच्चि कहो क्यौं होइ।
झूठइ पाषंड करि गर्व करै जिनि कोइ॥

यह शरीर अत्यन्त मलीन है। प्रक्षालन, स्नान और तीर्थादि गमन से इसको निर्मल नहीं किया जा सकता है। इस भाव को सुन्दरदास ने निम्नलिखित साखियों में अभिव्यक्त किया है—

सुन्दर मैली देह यह निर्मल करी न जाइ।
बहुत भाँति करि धोइ तू अठसठि तीरथ न्हाइ॥
सुन्दर कहा पषारिये अति मलीन यह देह।
ज्यौं ज्यौं माटी धोइये त्यौं त्यौं उकटै षेह॥
सुन्दर सुचि रहै नहीं या शरीर के संग।
न्हावै धोवै बहुत करि सुद्ध होइ नहिं अंग॥

आत्मा स्वच्छ है, पवित्र है, निर्लिप्त है और ब्राह्मण के सदृश ही उच्च और महान है। इसके विरुद्ध शरीर विकारों का भंडार शूद्रवत मलीन और अपवित्र है। शरीर दुर्गन्धि का द्वार है फिर भी मानव उसमें इतना अनुरक्त होता है यह आश्चर्य का विषय है। कवि के शब्दों में—

सुन्दर ब्राह्मन आदि कौ ता मंहि फेर न कोइ।
सूद्र देह सौं मिलि रह्यौ क्यौं पवित्र अब होइ॥
सुन्दर गर्व कहा करै देह महा दुर्गंध।
ता महिं तू फूल्यौ फिरै समुझि देषि सठ अंध॥

मनुष्य अपने जिस स्वरूप को बारम्बार शीशे में देखता है, भाँति-भाँति के वस्त्रों से सुसज्जित करता है उसी को देख-देख कर कौवे और चीलें प्रसन्न होती हैं। कारण कि वे उसे अपना खाद्य-पदार्थ समझती हैं—

सुन्दर देषै आरसी टेढ़ी नाषै पाग।
बैठौ आइ करंक पर अति गति फूल्यौ काग॥

शरीर के विभिन्न अंग रोगग्रस्त रहते हैं। प्रत्येक अंग किसी न किसी व्यथा से पीड़ित रहता है। कवि ने अंग प्रत्यंग की व्याधियों का उल्लेख निम्नलिखित साखियों में कुशलता से किया है—

सुन्दर मलिन शरीर यह ताहू में वहु व्याधि ।
कबहूँ सुख पावै नहीं आठौं पहर उपाधि ।।
सुन्दर कबहूँ फुनसली कबहूँ फोरा होइ ।
ऐसी याही देह में क्यौं सुख पावै कोइ ।।
कबहुँ निकसै न्हाखा कबहूं निकसै दाद ।
सुन्दर ऐसी देह यह कबहुँ न मिटै विषाद ।।
सुन्दर कबहूँ तोप है कबहूँ ह्वै सिखाहि ।
कबहूँ हृदय जलनि है नख शिख लागै माहि ।।
कबहूँ पेट पिरातु है कबहूँ माथै सूल ।
सुन्दर ऐसी देह यह सकल पाप का मूल ।।
सुन्दर कबहूँ कान मैं चीस उठै अति दुःख ।
नैन नाक मुख में बिथा कबहुँ न पावै सुक्ख ।।

सुन्दरदास ने शरीर का जैसा वर्णन किया है, उसी से साम्य रखता हुआ वर्णन संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि ने अपने 'वैराग्यशतक' के अन्तर्गत किया है। भर्तृहरि के साहित्य से कुछ उद्धरण 'नारी' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये हैं। इस दृष्टिकोण से भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' के १८ वें० २०वें, श्लोक द्रष्टव्य हैं। इन श्लोकों में शरीर का वास्तविक चित्र पठनीय है।

सुन्दरदास ने 'देह मलीन को अंग' में केवल देद की मलीनता को व्यक्त किया है। इसी विचार को केन्द्र विन्दु मान कर उन्होंने इन तेंतीस छन्दों की रचना की है। शरीर से साधना अपेक्षित है। शरीर के प्रति मोह त्याग देने के पश्चात् ही अहं की भावना दबती है और साथ ही साधक इस बाह्य शुद्धता एवं तीर्थादि की निःसारता भी समझ लेता है।

कवि ने इस प्रसंग में शरीर के लिए मलीन, शूद्र, भंडार, करंक (मुर्दा) माटी, पंजर, नरक-खान, आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। ये समस्त शब्द शरीर की मलीनता के द्योतक हैं।

मानव भाव एवं स्वरूप

साधना की अंतिम अवस्था ज्ञेय और ज्ञाता, ध्येय एवं ध्याता या युष्मद एवं अस्मद की एकात्मकता है। इसी अवस्था पर ममत्व परत्व की भावना विलीन हो जाती है। यह अवस्था ब्रह्म के साक्षात्कार की होती है। साधना की इसी अंतिम अवस्था में साधक ब्रह्म के मधुर दिव्य और चित्ताकर्षक स्वरूप के दर्शन में मुग्ध हो जाता है और वह उसी ब्रह्म के दिव्य ज्योति में अन्तर्हित हो जाता है। आत्मानुभव की इस अवस्था में आत्मा से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं रह जाता है। उसे प्रतीत हो जाता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन'। इस विशाल विश्व में जो कुछ भी दृष्टिगत होता है वह ब्रह्म है, ब्रह्ममय है। परन्तु अविद्या माया के प्रभाव एवं अज्ञान के अंधकार के कारण मानव 'उसे' और 'उसके' इस प्रसारित महान् स्वरूप के दर्शन नहीं कर पाता है। नेत्रों से देखता हुआ भी वह संसार के इस वास्तविक रूप को समझने में असमर्थ है। मानव मायादि के मिथ्या रूपों को सत्य मान बैठा है। भ्रम के कारण ही वह सत्य वस्तु को असत्य और असत्य को सत्य समझ बैठा है। उसे नहीं ज्ञात कि उसमें और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं। भिन्नत्व मिथ्या है। संसार में मानव को जो कुछ प्रतीत होता है, भासता है वह आत्मा का ही विकास मात्र है। संसार को प्रत्येक वस्तु की रूप-रेखा वह अपने अनुसार निर्धारित करता है और यहाँ तक कि ब्रह्म जो निस्सीम है, निराकार है, अलेख है उसका स्वरूप भी प्रत्येक वस्तु को अपने से भिन्न मान कर उसकी रूप-रेखा अंकित करता है उसे नहीं ज्ञात है कि जो कुछ दृश्यमान है वह सब उसी का अंश है, अंग है और वह उन सब में पूर्णरूपेण रमा है।

अपने भाव को विस्मृत होकर मनुष्य स्वबुद्धि के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु को देखता सुनता है। यदि बुद्धि शुद्ध है, सरल है तो वह तदनुसार संसार को देखने का प्रयत्न करता है। जिसकी बुद्धि में क्रूरता है उसे अखिल विश्व क्रूरतामय दृष्टिगत होता है। तथ्य यह है कि मानव की जैसी मुखाकृति है वैसा ही अपना रूप उसे दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। सारांश यह है कि मानव अपने भाव के अनुसार ही संसार को देखता है। सुन्दरदास ने यहाँ पर "जैसोई आपु करे मुख सुन्दर तैसो ई दर्पन मांहि प्रकासे" उक्ति के द्वारा इस विचारधारा को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है :

> एकहि आपुनौं भाव जहाँ तहाँ बुद्धि के योग तै विभ्रम भासे।
> जौ यह क्रूर तौ क्रूर उहाँ पुनि याके खिजै ते उहाँ पुनि खासे॥

जौं यह साधु तौ साधु उहाँ पुनि याके हंसे तैं उहा पुनि हासै।
जैसो ई आपु करै मुख सुन्दर तैसो ई दर्पन मांहि प्रकासै॥

उपर्युक्त छन्द में कवि ने जिन भावों की अभिव्यंजना की है, वही प्रस्तुत प्रकरण के चिन्तन का आधार और उसके दार्शनिक पक्ष की मुख्य विचारधारा है। कवि के अनुसार अपने ही भ्रम के कारण मनुष्य को संसार के अन्य पदार्थ तथा तत्व अपने से पृथक प्रतीत होते हैं। विचार पूर्वक देखने से कोई अपने से भिन्न और पृथक नहीं है। जिस प्रकार काँच (शीशे) के मन्दिर में प्रविष्ट श्वान अपने ही प्रतिबिम्ब को चतुर्दिक देखकर भ्रमवश भूँकता रहता है और गज फटिक शिला पर प्रहार करता हुआ अपने दाँतों को तोड़ लेता है, सिंह कूप जल में अपना स्वरूप देखकर उसे अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ कर बारम्बार दहाड़ता है उसी प्रकार मनुष्य अज्ञानवश अपने ही स्वरूप को न पहचान कर अपने को सब पदार्थों से पृथक मानता है।[1] संसार में कुछ भी भला-बुरा नहीं है, कोई भी सज्जन असज्जन, पंडित मूर्ख, शत्रु मित्र, राव रंक नहीं है। संसार में मानापमान, पाप-पुन्य, सुख-दुख, स्वर्ग नरक और देव असुर की कल्पना मिथ्या है, भ्रम है। पशु, पक्षी, श्वान, कुंजर, कीट कोई भिन्न प्राणी नहीं है केवल एक महान आत्मा के ही अंग हैं, भिन्न नहीं।[2] संसार के समस्त संबंध, मनोविकार, और देवताओं की कल्पना वृथा है वह निःसार है। वस्तुतः "याही आत्मा

[1] जैसे स्वान कांच कै सदन देषि और
भूँकि भूँकि मरत करत अभिमान जू।
जैसे गज फटिक शिला सौं आर तोरै दंत
जैसे सिंघ कूप माँहि उझकि भुलांन जू॥
जैसे कोऊ फेरी षात फिरत देषै जगत
तैसे ही सुन्दर सब तेरौ ई अज्ञान जू।
आप ही कौ भ्रम सु तौ दूसरौ दिषाई देत
आपकौ बिचारै कोऊ दूसरौ न आंन जू॥

[2] नीच ऊँच बुरो भलौ सज्जन दुर्जन पुनि
पंडित मूरष शत्रु मित्र रंक राव है।
मान अपमान पुन्य पाप सुख दुख दोऊ
स्वरग नरक बंध मोक्ष हू को चाव है॥
देवता असुर भूत प्रेत कीट कुञ्जर ऊ
पशु अरु पक्षी स्वान सूकर बिलाव है।
सुन्दर कहत यह एकई अनेक रूप
जोई कछु देषिये सु आपनौ ई भाव है॥

विख्यातकौ प्रभाव सुतौ याही कौ दिखाई देत" ।[१] मनुष्य का निजी भाव उसमें शंका, कुमति, अस्थिरता आदि उत्पन्न कर देता है ।[२] मनुष्य अज्ञान के कारण ही माया के बन्धन में बँधता है और दूसरों की अधीनता स्वीकार करता है। जिस प्रकार श्वान हड्डी को तोड़ता हुआ अपने ही मुख से निकले हुए खून को भ्रमवश हड्डी से निःसृत खून समझकर बहुत ही प्रसन्न होता है, उसी प्रकार भ्रम से संसार में मानव विचरण करता रहता है। कुमति के कारण ही मानव भूतप्रेतादि में आस्था रखता हुआ दुख का भागी बनता है ।[३] प्राकृतिक तत्व में भी मनुष्य को अपने ही रूप के अनुसार सब कुछ भासित होता है।

---

[१]याही कै जगत काम याही के जगत क्रोध
याही कै जगत लोभ याही मोह माता है।
याकौ याही वैरी होत याकौ याही मित्र होत
याकौ याही सुख देत याही दुख दाता है ॥
याही ब्रह्मा याही रुद्र याही विष्णु देपियत
याही देव दैत्य यक्ष सकल संघाता है।
याही कौ प्रभाव सुतौ याही कौं दिपाई देत
सुन्दर कहत याही आतमा विख्याता है ॥

[२]याही कौ तौ भाव याकौ शङ्क उपजावत है
याही कौ तौ भाव याहि निःशङ्क करतु है।
याही कौ तौ भाव याको भूत प्रेत होइ लागो
याही कौ तौ भाव याकी कुमति हरतु है ॥
याही कौ तौ भाव याकौ वायु को बघूरा करै
याही कौ तौ भाव याही थिर कै धरतु है।
याही कौ तौ भाव याकौं धार मैं बहाइ देत
सुन्दर याही कौ भाव याही लै तरतु है ॥

[३]आपु ही कौ भाव सुतौ आपु कौं प्रगट होत
आपु ही आरोप करि आपु मन लायौ है।
देवी अन्य देव कोऊ भाव कै उपासै ताहि
कहै मैं तौ पुत्र धन इन ही तै पायौ है ॥
जैसै स्वान हाड़ कौ चचोरि करि मानै मोद
आपु ही कौ मुख फोरि लोहू चाटि पायो है।
तैसे ही सुन्दर यह आपु ही चेतनि आहि
आपुने अज्ञान करि और सौ बँधायौ है ॥

आपुनै भाव ते सूर सौं दीसत आपुनै भाव तें चन्द्र सौं भासै ।
आपुनै भाव तें तार अनन्त जु आपुनै भाव ते विद्युलता सै ॥
आपुनै भाव तें नूर है तेज है आपुन भाव तें ज़ोति प्रकासै ।
तैसौ हि ताहि दिषावत सुन्दर जैसौ हि होत है जाहि कौ आसै ॥
आपुनै भावते सेवक साहिब आपुने भाव सबै कोउ ध्यावै ।
आपुनै भाव तें दुष्ट अन्य आपुने भाव तें भक्तहु गावै ॥
आपुनै भाव तें दुष्ट संघारत आपुने भाव तें भक्तहु आवै ।
जैसी हि आपुनौ भाव है सुन्दर ताहि कौं तैसौ हि होइ दिषावै ॥

मनुष्य अपने-अपने भावानुसार ब्रह्म को निकट और दूर मानता है। कोई अपने भाव से ब्रह्म के लिए दुग्ध का भोग लगाता है, कोई उसे चतुर्भुज मानता है और कोई उसी ब्रह्म को पूर्ण ब्रह्म मानता है।[1]

मनुष्य अपने भावों के अनुसार ही स्वतः बनता और नाना रूपों को ग्रहण करता रहता है। कवि के शब्दों में प्रस्तुत भाव पठनीय है :

आपुने भाव ते भूलि पर्‌यौ भ्रम देह स्वरूप भयौ अभिमानी ।
आपुने भाव तें चञ्चलता अति आपुने भाव ते बुद्धि थिरानी ॥
आपुने भाव तें आप बिसारत आपुने भाव ते आतमज्ञानी ।
सुन्दर जैसौ हि भाव है आपुनौ तैसौ हि होइ गयौ यह प्रानी ॥

जिस प्रकार भाव की दृष्टि से मनुष्य अपनी वास्तविकता भूल कर निःसार तत्वों में संलग्न रहता है, उसी प्रकार मनुष्य अपना स्वरूप भी भूल गया है। 'अथ स्वरूप विस्तारण को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने इस पक्ष पर चिन्तन किया है।

सुन्दरदास के अनुसार जिस घट में जैसी उनहार है, उस घट में उसी प्रकार का चैतन्य दृष्टिगत होता है। हाथी और चींटी दोनों के शरीर में एक ही प्राण है, एक ही आत्मा है परन्तु उनहार के पार्थक्य के कारण हाथी के शरीर में हाथी और चींटी के आकार में चींटी भासित होता है। शरीर अपनी विशेष उपाधि के कारण तद्रूप आकार ग्रहण करता है।[1] मनुष्य अपने ही रूप और भाव को भूल जाने के कारण नाना प्रकार के संकटों और कष्टों में तथा माया के मिथ्या भ्रमों में फँसता रहता है। मनुष्य के लोभ, मोह, लोलुपता और

---

[1]आपुने भाव तें दूर बतावत आपुने भाव नजदीक वषान्यौ ।
आपुने भाव ते दूध विषायौ जु आपुने भाव ते बीठल जान्यौ ॥
आपुने भाव ते चारि भुजा पुनि आपुने भाव ते सींग सौं मान्यौं ।
सुन्दर आपुने भाव के कारन आपुहि पूरन ब्रह्म पिछान्यौ ॥

विषय-प्रियता उसे सांसारिक बन्धनों और विपत्तियों में प्रवृत करती रहती है। जिसे वह जीवन का संघर्ष मानता है, वही माया का जाल है।[1] एक बार भी इस जाल में फँस जाने के अनन्तर मुक्ति के लिए वह (मनुष्य) जितने ही प्रयत्न करता है उतना ही उसमें फँसता जाता है। भ्रमों का मूल कारण है मनुष्य का स्वरूप विस्मरण।[2] मद्यपान करने पर यथा मनुष्य को न अपना ध्यान रहता है न ज्ञान वरन् आत्म-विस्मृति की अवस्था प्राप्त हो जाती है अथवा जैसे बालक प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें भूत प्रेतादिक का भ्रम मान कर भयभीत होता है उसी प्रकार मनुष्य माया के प्रभाव से अपने स्वरूप को भूला रहता है।[3] जिस प्रकार कूप के निकट ध्वनि करने से प्रतिध्वनि प्रतिश्रुत होती है और अज्ञानी व्यक्ति कुयें के अन्दर से किसी के बोलने का भ्रम करता है, जिस प्रकार जल पवन के संयोग से गतिमान हो जाता और उस जल पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब चंचल हो जाते हैं पर मानव जानता है कि प्रतिबिम्ब हिल रहे हैं ठीक उसी प्रकार मनुष्य अपने विषय में भ्रम पूर्ण है। प्रस्तुत सिद्धांत निम्नलिखित छन्दों में व्यक्त हुआ है।

(क) ज्यौं कोउ कूप मैं झाँकि अलापत वैसी हि भाँति सु कूप अलापै।
ज्यौं जल हालत है लगि पौन कहै भ्रम तै प्रतिबिंब हि काँपै॥

---

[1] जा घट की उनहार है जैसी ता घट चेतनि तैसौ हि दीसै।
हाथी की देह मैं हाथी सौ मानत चींटी की देह मैं चींटी कीरी सै॥
सिंघ की देह मैं सिंघ सौं मानत कोस की देह में मानत कीसै।
जैसी उपाधि भई जहाँ सुन्दर तैसौ हि होइ रह्यौ नखसीसै॥

[2] जैसै मीन मांस कौ निगलि जात लोभ लागि
लोभ कौ कंटक नहीं जानत उमाहे तें।
जैसै कपि गागरि मै मूठी बाँधि राखै सठ
छाड़ि नहीं देत सुतौ स्वाद ही के बाहे तें॥
जैसै बक नालियर चूँच मारि लटकत
सुन्दर सहत दुख देषि याही लाहे तें।
देह कौ संयोग पाइ इन्द्रनि कै बसि पर्यौ
आपुहि को आपु गयो सुख चाहे तें॥

[3] ज्यौं कोउ मद्य पिये अति छाकत नाहिं कछू सुधि है भ्रम ऐसो।
ज्यौं कोउ षाइ रहे ठग मूरि हि जाने नहीं कछु कारन तैसो॥
ज्यौं कोउ बालक शंकउ पावत कंपि उठे अरु मानत भैसों।
तैसै हिं सुन्दर आपुकौं भूलि सु देषहु चेतनि मानत कैसो॥

देह के प्रान के जे मन के कृत मांनत है सब मोहि कौ व्यापै।
सुन्दर पेच पर्‌यौ अतिसै करि भूलि गयौ भ्रम तै भ्रम आपै।।

(ख) एकहि व्यापक वस्तु निरंतर विश्व नहीं यह ब्रह्म विलासै।
ज्यौं नट मंत्रनि सौं दिठ बाँधत है कछु औरई औरई भासै।।
ज्यौं रजनी महिं बूझि परै नहि जौं लगि सूरज नाहिं प्रकासै।
त्यौं यह आपुहि आपु न जानत सुन्दर द्वै रह्‌यौ सुन्दर दासै।।

(ग) जैसे कोऊ कामिनी के हिये पर चूपै वाल।
सुपने मैं कहै मेरो पुत्र काहू हयौ है।।
जैसे कोऊ पुरुष कै कंठ पिंषै दुति मनि।
दूढ़त फिरत कछु ऐसो भ्रम भयौ है।।
जैसे कोऊ वायु करि वावरो बकत डोलै।
औरकी और ई कहै सुधि भूलि गयौ है।।
तैसे ही सुन्दर निज रूप कौं बिसारि देत।
ऐसौं भ्रम आपु ही कौं आपु करि लयौ है।।

देहात्मा

आत्मा ब्रह्म स्वरूप है। उसमें ब्रह्म के समान ही गुण हैं। ब्रह्म के समान ही उसका रूप आकार अनुमान अतीत है। आत्मा आकाश से भी अधिक विस्तृत है। ब्रह्म के सदृश आत्मा भी समस्त तत्वों में विद्यमान है। आत्मा मुक्ति स्वरूपा है। वह अविनाशी एवं अव्यय है। पंच महाभूत उसी आत्मा से समुत्पन्न हैं। आत्मा पूर्ण प्रकाशमान है। साक्षात अविनाशी का सत्यस्वरूप आत्मा समस्त शरीरों में वर्तमान है। वह बन्धन और विनाश से रहित है वह अजर और अमर है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नहीं नष्ट होती है। आत्मा बारम्बार जन्म एवं मृत्यु नहीं प्राप्त करती है। वह जन्म एवं मृत्यु के बन्धनों से परे है। वह किसी भी युग में मोक्ष और नर्क की सीमाओं में नहीं बंधती है। आत्मा आनन्द स्वरूप है। एक ही आत्मा समस्त जीवों में परिव्याप्त है। जिस प्रकार दर्पण, घृत एवं जल में एक ही मुख के विभिन्न स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न तत्वों में एक ही आत्मा परिलक्षित होती है। जिस प्रकार बादलों से आच्छादित रहने के कारण आकाश मलीन दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा मनुष्य के दुर्गुणों के कारण मलीन प्रतीत होती है। जिस प्रकार अग्नि के संसर्ग से दग्ध होकर लोहा लाल तथा शुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा के संसर्ग से इन्द्रियाँ भी पवित्र और दोषों से रहित दृष्टिगत होती हैं। जिस प्रकार उच्च कुलीन चांडाल के संसर्ग में आकर स्वकुल की मर्यादा एवं गौरव को बिसार देता है उसी प्रकार नीच कर्मों में संलग्न शरीर के सम्पर्क में आकर आत्मा भी मलीन प्रतीत होती है। स्वशरीरस्थ आत्मा के दर्शन तभी हो सकते हैं जब उसके लिए यत्न एवं साधना की जाती है।

देह या शरीर की रचना पंच महाभूतों से होती है। क्षिति, जल, पावक, गगन एवं समीर के आधार पर शरीर की स्थिति है। शरीर त्रय ताप, समस्त विकार, समस्त रोगों तथा समस्त विनाशों का आगार है। शरीर ही समस्त ऋतुओं के विकारों को सहन करता है। शरीर मन का अनुगामी है, मन के वशीभूत है। मन के रूप और आकार के अनुसार ही शरीर का संचालन होता है। शरीर व्यथाओं और रोगों का आगार है। कहा भी गया है कि 'शरीरं व्याधि मंदिरम्'। शरीर क्षय और विनाश को प्राप्त होता है। बाह्य उपकरणों के द्वारा शरीर को सुसज्जित और अलंकृत किया जाता है। यह शरीर ही भौतिकता में संलग्न है और रहता है शरीर अज्ञान स्वरूप है। यह अन्नमय और असत्य रूप है। देह विनाश और विकास को प्राप्त होती रहती है। यह अनित्य भी है।

आत्मा और शरीर (या देह) भिन्न है। दोनों में किसी प्रकार का भी एकत्व नहीं है। आत्मा शरीर के विनाश पर नष्ट नहीं होती है। जिस प्रकार बादलों के बरस जाने पर आकाश नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार देह के पंचत्व प्राप्त होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। चेतन में जीव का भासित होना उसी प्रकार भ्रामक है जिस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी में साँप, सीप में मोती, काठ में घर, तथा लोहे में तलवार का भ्रम होता है, उसी प्रकार देह और आत्मा का एकत्व भ्रम है।

देह आत्मा की भिन्नता का विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ के 'साँख्य योग' प्रकरण में किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर उसी विषय की पुनरुक्ति अपेक्षित नहीं है। सुन्दरदास ने 'देहात्मक विछोह' शीर्षक के अन्तर्गत इसी विषय पर अपने विचारों को व्यक्त किया है। 'सुन्दरबिलास' ग्रन्थ में कवि ने 'देहात्मा विछोह को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय का ववेचन ग्यारह छन्दों में किया है और स्फुट साखी साहित्य के अन्तर्गत २५ साखियों में देहात्मा के सम्बन्ध पर विचार प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार ३६ छन्दों में कवि ने प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन किया है।

कवि के अनुसार आत्मा ही शरीर की सबसे बड़ी शोभा है। शरीर की कांति आत्मा है आत्मा ही शरीर का दिव्य प्रकाश और महत्त्वपूर्ण अंग है। शरीर का जितना चमत्कार प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। वह केवल आत्मा के कारण ही परिलक्षित होता है। संसार के जितने सम्बन्ध और स्नेह हैं वे केवल आत्मा के हैं, न कि शरीर के। शरीर से आत्मा के निकल जाते ही संसार के समस्त सम्बन्ध और स्नेह के व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। आत्मा के निकलते ही शरीर जिसके प्रति सम्बन्धी आदि प्रेम तथा स्नेह रखते हैं, बाद में घृणा करने लगते हैं।

सुन्दर देह परी रही निकसि गयौ जब प्रान।
सब कोऊ यौं कहत है अब लै जाहु मसान॥
माता पिता लगावते छाती सौं सब अंग।
सुन्दर निकस्यौ प्रान जब कोउ न बैठे संग॥
सुन्दर नारी करत है पिय सौ अधिक सनेह।
तिनहूं मन मैं भय धर्‍यौ मृतक देषि करि देह॥
सुन्दर भइया कहत हौ मेरी दूजी बाँह।
प्राण गयौ जब निकसि कै कोउ न चंपै छाँह॥
सुन्दर लोग कुटुम्ब सब रहते सदा हजूरि।
प्रान गये लागे कहन काढ़ौ घर तैं दूरि॥

प्राण या आत्मा ही शरीर का सौंदर्य है। उसके बिलग होते ही समस्त चमत्कार और

सौंदर्य विलीन हो जाते हैं। इस भाव को कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से निम्नलिखित साखियों में अभिव्यक्त किया है।

देह मुरंगी तब लगै जब लग प्राण समीप।
जीव जाति जाती रही सुन्दर विदरंग दीप॥
चमक दमक सब मिटि गई जीव गयौ सब आप।
सुन्दर पाली कंचुकी नीकसि भागौ सांप॥
सुन्दर देह सुहावनी जब लगि चेतनि मांहि।
कोई निकट न आवई जब यह चेतनि नांहि॥

शरीर की समस्त गति और क्रियाशीलता का एकमात्र कारण है आत्मा। जिस क्षण शरीर की चेतनता अथवा प्राण-शक्ति बाहर निकल जाती है उसी समय शरीर निष्क्रिय और जड़ बन जाता है। शरीर की गति का रहस्य है प्राण। जिस प्रकार चुम्बक के स्पर्श से लोहा चलायमान हो जाता है, उसी प्रकार प्राणों के संसर्ग से शरीर गतिशील बना रहता है।

चम्बक सत्ता कर जथा लोहा नृत्य कराइ।
सुन्दर चम्बक दूरि हूं चंचलता मिटि जाइ॥
हलन चलन सब देह कौ चेतनि सत्ता होइ॥
चेतनि कियौ प्रयान जब रूसि रहै ततकाल॥
सुन्दर देह हलै चलै चेतनि कै संजोग।
चेतनि सत्ता चलि गई कौन करै रस भोग॥
हलन चलन सब देह कौ चेतनि सत्ता होइ।
चेतनि सत्ता बाहरी सुन्दर क्रिया न होइ॥

शरीर उद्यान में चेतनता अथवा आत्मा माली के सदृश है।

सुन्दर पांणी सींचतौ क्यारी कंण कै हेत।
चेतनि माली चलि गयौ सूकौ काया खेत॥

आत्मा और शरीर, नमक और पानी के समान मिले हुए हैं। शरीर का महत्त्व आत्मा के कारण उसी प्रकार है यथा बाँस का महत्त्व मिश्री के साथ है। मिश्री से पृथक होते ही बाँस मूल्यहीन हो जाता है।

देह जीव यौं मिलि रहै ज्यौं पाँणी अरु लौन।
बार न लाई बिछुरतें सुन्दर कीयौ गौन॥
चेतनि मिश्री देह तृण तुलत संग देहि दाम।
सुन्दर दोउ जुदे भये तन तृण कोणै काम॥

देह का स्वरूप अथवा आकार तभी तक निश्चित है जब तक निर्गुण, निराकार ए

अरूप आत्मा का उसमें निवास रहता है। आत्मा के निवास तक ही इस शरीर का सम्मान है, महत्त्व है और आदर है। जिस समय शरीरस्थ सुल्तान बाहर निकल जाता है उस समय इस शरीर की स्थिति निराधार हो जाती है। कवि का निम्नलिखित सवैया इस दृष्टि से पठनीय है।

देह तौ स्वरूप तौलौं जौलौं अरूप माहिं।
सब कोउ आदर करत सनमान है॥
टेढ़ी पाग बाँधि वार वार ही मरोरै मूंछ।
बाँह उसकारे अति भरत गुमान है॥
देश देश ही कै लोग आइकैं हजूर होहि।
बैठि करि तँख्त कहावै सुलतांन है॥
सुन्दर कहत जब चेतना सकति गई।
उहै देह ताकि कोउ मानत न आन है॥

सुन्दरदास ने आत्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। कवि ने कभी उसे पंछी, चम्बक, तत्व, चेतन, कंचन, प्राण, सार, सुलतान, अमर, प्रकाश, अजर, अविनाशी आदि नामों से सम्बोधित किया है और कभी आत्मा को ब्रह्म अथवा ब्रह्म का निवास-स्थल शब्दों में उल्लेख किया है।

चतुर्थ अध्याय

चेतावनी

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति से सचेत अथवा सतर्क रहने का आदेश या उपदेश चेतावनी है। सन्तों का काव्य चेतावनियों से भरा पड़ा है। उन्होंने बारम्बार कुछ विशेष वस्तुओं और व्यक्तियों से दूर रहने एवं उनसे सतर्क रहने का उपदेश दिया है। इन चेतावनियों के अन्तर्गत उन्होंने संसार की निस्सारता एवं क्षणभंगुरता तथा माया के कपट रूप को व्यक्त करने के लिए प्रयत्न किया है। चेतावनी में उपदेश की अपेक्षा सतर्क रहने की भावना पर अधिक जोर रहता है। उपदेश के अन्तर्गत कोई भी भाव सीधे एवं प्रभावशाली शैली में अभिव्यक्त हो सकता है। परन्तु चेतावनी में वर्ण्य-विषय का दोष और उसका घातक प्रभाव अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में अभिव्यंजित होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने पर भी यह स्पष्ट है कि उपदेश की अपेक्षा चेतावनी का पाठक वा श्रोता पर विशेष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक एवं सम्भावित है। कदाचित् इसी प्रकार से प्रायः सभी सन्तों ने चेतावनी के द्वारा जनता को वर्जित वस्तुओं के दोष-निदर्शन का प्रयत्न किया है।

चेतावनी लिखने की परम्परा हिन्दी साहित्य में बड़ी प्राचीन है। सरह पा (७६० ई०) ने पाखंड-खंडन और बाह्याडम्बर की आलोचना करते हुए इनसे दूर रहने के लिए अनेक बार चेतावनी दी है। इसी प्रकार स्वयंभू के (७९० ई०) काव्य में संसार की तुच्छता, सांसारिक बन्धनों एवं सम्बन्धों की अनस्थिरता, सामाजिक भेद-भाव और विषयों के आधार पर चेतावनी मिलती है। 'कोई किसी का नहीं' शीर्षक से स्वयंभू की चेतावनी के कतिपय अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

जगें जीवहो णाहिं सहाउ कोवि।
रइ बँधइ मोह-वसेण तोवि॥
इय घरु इउ परियणु इउ कलत्तु।
णउ बुज्झइ जिहि सयलेहिं चित्तु॥
एक्केण कणुव्वउ विहुरकाले।
एक्केण छुयेव्वउ जरपयाले॥

एक्केण बसेव्वउँ तहि णिगोएँ ।
एक्केण रुइव्वउ पिय-विऊएँ ॥[1]

दसवीं शताब्दी में देवसेन और तिलोया आदि कवियों ने भी तीर्थ, देवसेवा, बाह्याचारादि की व्यर्थता व्यक्त करते हुए इन निःसार वस्तुओं से अलग रहने की चेतावनी दी थी ।[2] उपर्युक्त इन कवियों की भाँति ही पुष्पदन्त[3], योगीन्दु[4], मुनिराम सिंह[5] ने भी भाँति-भाँति की चेतावनी लिखी हैं । इन कवियों की चेतावनी रोचक एवं पठनीय है । मानव-मस्तिष्क को तर्क एवं उदाहरणों के द्वारा प्रभावित करने के प्रयत्न में ये किस प्रकार सफल हुए हैं यह विचारणीय विषय है । चेतावनी लिखने की यह परम्परा और भी आगे जारी रही । आगे चलकर गोरखनाथ के साहित्य में बड़ी सुन्दर चेतावनी उपलब्ध होती है । उदाहरणार्थ गोरखनाथ के काव्य से दो चेतावनी यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) चाँमै चांम घसंता लोई ।
दिन दिन छीजै काया ॥
आपा परचै गुर मुषिन चीन्है ।
फाडि-फाडि वाघणी षाया ॥[6]

(ख) बाघिनी उपाया वाघिनी निपाया ।
बाघिनी पाली काया ॥
बाघिनी डाकरै जौरियौ ।
पाषरै अनभुई गोरष राया ॥[7]

नाथ कवियों के अनन्तर अन्य प्रवृत्तियों के साथ ही चेतावनी रचना की प्रवृत्ति भी सन्तों में उपलब्ध होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतावनी रचना की प्रवृत्ति परम्परागत है । इस परम्परागत प्रवृत्ति की एक विशेषता है और वह यह कि कवियों ने कनक, कामिनी तथा संसार की अनित्यता को ही अपनी चेतावनी का विषय बनाया है । इसी सीमित क्षेत्र को लक्ष्य बनाकर उन्होंने बारम्बार अपने विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत

---

[1] हिन्दी काव्य धारा, राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३१
[2] हिन्दी काव्य धारा राहुल सांकृत्यायन, पृ० २३६
[3] ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २३६
[4] ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २४८
[5] ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २५४
[6] गोरख बाणी, डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, पृ० १४४
[7] ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १४४

किया है। परन्तु कबीर और उनके पश्चात् होनेवाले अन्य कवियों द्वारा विरचित चेतावनी क। आधार एवं विषय परम्परागत विषयों के अतिरिक्त स्वानुभूत विषय भी हैं।

हिन्दी के सन्त कवियों की चेतावनी का वर्ण्य-विषय दो कोटि में विभाजित किया जा सकता है—

(प्रथम) ... ... आध्यात्मिक विषय

(द्वितीय) ... ... सामाजिक विषय

सामाजिक विषय को देखने से ज्ञात होता है कि इस विषय के भी दो भेद हो सकते हैं। प्रथम क्रियात्मक और द्वितीय ध्वंसात्मक। आध्यात्मिक पक्ष के अन्तर्गत कवियों ने ध्वंसात्मक पक्ष को ही लिया है। आध्यात्मिक (ध्वंसात्मक) पक्ष के अन्तर्गत कवियों ने भेष, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहं, कपट, आशा, तृष्णा, माया, कनक, कामिनी, माँसाहार, तीर्थ, नशा, संसार की क्षणभंगुरता, अनित्यता, धन का अभिशाप, बाह्याडम्बर की निस्सारता आदि विषयों को सन्तों ने आध्यात्मिक चेतावनी में लिया है। इसके पश्चात् सामाजिक विषय है। इसका ध्वंसात्मक पक्ष क्रियात्मक पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इसके अन्तर्गत भेदभाव, बलिदान, तन्त्र-मन्त्र, स्वार्थ, ऐश्वर्याकाँक्षा आदि विषयों को प्रधानता दी गई है, जिनकी निंदा इन कवियों ने बारम्बार की है। उन्हांने इन सभी विषयों के मलीन पक्ष को समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसके क्रियात्मक पक्ष में समदृष्टि जैसे विषय लिये गये हैं। इस क्रियात्मक पक्ष के अन्तर्गत उपलब्ध चेतावनी में अभिव्यक्ति की शिथिलता दिखाई देती है। सुन्दरदास इन कवियों में अपवाद नहीं हैं। उनके काव्य साहित्य में भी यही दो प्रकार की चेतावनी प्राप्त होती है। इस दृष्टिकोण से भी उनके साहित्य में महान् सन्तों (कबीर, दादू आदि) के द्वारा स्थापित परम्परा का पालन हुआ है।

सुन्दरदास के साहित्य में चेतावनियों की पर्याप्त रचना हुई है। उनके साहित्य में स्फुट रूप से अनेक चेतावनियों की रचना हुई है। परन्तु इन स्फुट चेतावनियों के अतिरिक्त 'सुन्दर विलास' ग्रंथ में 'काल चेतावनी का अंग' शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने क्रमबद्ध चेतावनी की रचना की है। 'उपदेश चेतावनी का अंग' शीर्षक में कवि ने अट्ठासी छन्दों में विविध चेतावनी व्यक्त की है और इसी प्रकार 'काल चेतावनी अंग' के अन्तर्गत सतहत्तर छन्दों में चेतावनियों की अभिव्यंजना की गई है।

उपदेश चेतावनी में कवि ने निम्नलिखित विषयों पर चेतावनियों की रचना की है—

१. मानव शरीर क्षणभंगुर है।

२. मानव शरीर का सौंदर्य और रमणीयता क्षणिक एवं विनाशशील है।

३. मानव व्यर्थ ही माया और तज्जनित प्रपंचों में लिप्त है।

४. मानव-शरीर दुर्लभ है।
५. समस्त बन्धन एवं सामाजिक सम्बन्ध निस्सार हैं।
६. अभिमान का जनक अज्ञान है।
७. काम, क्रोध, मोह, मद, अंहकार मानव के पंच महाशत्रु हैं।
८. सुरंगी देह का रहस्य अस्थि पंजर एवं कंकाल है।
९. माया भयानक डायन है।
१०. संसार सैराय के समान है।
११. अवसर बीतने पर पश्चात्ताप ही रह जायगा।
१२. मानव जन्म देवताओं द्वारा स्पृहणीय है।
१३. सुख ऐश्वर्य और सम्पत्ति की वास्तविक स्थिति निराधार है।
१४. संसार झूठा, स्वप्नवत एवं जल के बुलबुले के सदृश है।

इसी प्रकार काल चेतावनी में कवि ने निम्नांकित विषयों पर अपने विचारों को प्रकट किया है—

१. मनुष्य अज्ञान के कारण माया में संलग्न है।
२. शरीर रूप दीपक की बाती बुझ जाने पर सब सम्बन्धी घृणा करने लगेंगे।
३. काल अचानक ही इस शरीर को अपना ग्रास बना लेगा।
४. काल बाज की भाँति शिकार की ताक में बैठा है।
५. काल के लिए सभी समान हैं।
६. काल का पंजा सदैव सर पर है।
७. काल महाबली है।
८. काल ही अभिमान को नष्ट कर देगा।
९. संसार के सम्बन्ध सब स्वार्थपूर्ण हैं।
१०. संवर्ग के सम्बन्ध सब स्वार्थपूर्ण हैं।
११. ब्रह्म को भूलने पर ही मानव काल का ग्रास बन गया है।
१२. ब्रह्म ही काल से रक्षक है।
१३. काल के समान कोई बली नहीं है।
१४. समस्त ब्रह्मांड काल से पीड़ित है।
१५. जगत मिथ्या है।
१६. मन की कल्पना ही काल है।
१७. संकल्प-विकल्प ही जगत की स्थिति का रहस्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन उपर्युक्त दोनों शीर्षकों के अन्तर्गत कवि ने उन्हीं

विषयों पर चेतावनी की रचना की है, जिन पर अन्य सन्तों ने अपने विचार प्रकट किये हैं इस सम्पूर्ण प्रसंग में कवि ने जो कुछ लिखा है उसका सारतत्व यह है कि मनुष्य ब्रह्म को बिसर कर माया में इतना अधिक संलग्न हो गया है कि उसे और कुछ ध्यान में नहीं आता है।

सुन्दरदास के अनुसार मानव देह दुर्लभ और देवताओं द्वारा स्पृहणीय है। इसे पाकर मानव को आवागमन से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करना ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। इस शरीर के छूट जाने पर फिर ऐसा अवसर पुनः नहीं प्राप्त होगा।[1] ममता और माया के बन्धन दुखद और वीभत्स हैं।[2] माया चंचल है। वह न किसी की हुई है और न होगी।[3]

[1]कांन के गये तें कहा कांन ऐसौ होत मूढ।
नैन के गये ते कहाँ नैन ऐसे पाइहै॥
नासिका गये तें कहा नासिका सुगन्ध लेत।
मुख के गये तें कहाँ मुख ऐसे गाइ है॥
हाथ के गये तें कहाँ हाथ ऐसौ काम होत।
पाँव के गये तें ऐसे पाँव कंत धाइ है॥
यही तें विचार देषि सुन्दर कहत तोहि।
देह के गये तें ऐसी देह नहीं आइहै॥

[2]बारबार कह्यौ तोहि सावधान क्यौं न होहि।
ममता की मोट सिर काहे कौं धरतु है॥
मेरौ धन मेरौ धाम मेरे सुत मेरी बांम।
मेरे पशु मेरौ ग्राम भूलौ यौं फिरतु है॥
तूं तौ भयौ बावरौ विकाइ गई बुद्धि तेरी।
ऐसौ अन्धकूप मैं गृह ता तू परतुहै।
सुन्दर कहत तोहि नैकहूँ न आवै लाज।
काज कौ बिगारि कैं अकाज क्यों करतु है॥

[3]बारू कै मंदिर माँहि बैठि रह्यौ थिर होइ।
राषत है जीवने की आसा कैऊ दिन की॥
पल पल छीजत घटत जात घरी-घरी।
बिनसत बारबार कहा षबरि न छिन की॥
करत उपाइ झूठे लेन देन पान पान।
मूसा इत उत फिरै ताकि रही मिनकी॥

काम, क्रोधादि सब ठग हैं और संसार ठगों की नगरी है।[1] इस सुरंगी देह का रहस्य अत्यन्त कष्टप्रद और दुखद है।[2] मानव अत्यन्त शिथिलता को प्राप्त हो जाता है, हाथ पैर कँपने लगते हैं, शरीर विकृत हो जाता है, इन्द्रिय निर्बल हो जाती है पर आशा तथा तृष्णा उसका साथ नहीं छोड़ती है। इस दुर्दशा में भी वह ब्रह्म का ध्यान करने के लिए अवसर नहीं पाता है। वह नित्य ही माया के बन्धनों में उलझता रहता है।[3]

सुन्दर कहत मेरी मेरी करि भूलौ शठ।
चंचल चपल माया भई किन किन की॥

[1]श्रवनूं लै जाइ करि नाद की लै डारे पासि।
नैनवा लै जाइ करि रूप बसि कर्‍यौ है॥
नथुवा लै जाइ करि बहुत सुँघावै फूल।
रसनूं लै जाइ स्वाद मन हर्‍यौ है॥
चरनूं लै जाइ करि नारी सौं सपर्श करे।
सुन्दर कोउक साध ठगनि तै डर्‍यौ है॥
कांम ठग क्रोध ठग लोभ ठग मोह ठग।
ठगनि की नगरी में जीव आइ पर्‍यौ है॥

[2]जोबन कौ गयो राज और सब भयौ साज।
आपुनि दुहाई फेरि दमामौ बजायौ है॥
लकुटी हथ्यार लिये नैननि की ढाल दीये।
सेत बार भये ताकौ तंबू सौ तनायौ है॥
दसन गये सु मानौ दरवान दूरि किये।
जौंगरी परी सु और बिछौना बिछायौ है॥
सीस कर कंपत सु सुन्दर निकार्‍यौ रिपु।
देषत ही देषत बुढापौ दौरि आयौ है॥

[3]षींच तुचा कटि है लटकी कचऊ पलटे अजहूँ रत बाँमी।
दंत भया मुख के उषरे नषरे न गये सुषरौ षर कांमी॥
कंपति देह सनेह सु दंपति संपति जंपति है निश जांमी।
सुन्दर अंतहु भौन तज्यौ न भज्यौ भगवंत सुलौन हरांमी॥
पाई अमोलक देह इहै नर क्यों न विचार करै दिल अन्दर।
कामहु क्रोधहु लोभहु लूटत हैं दसहूँ दिसि द्वन्दर॥
तूँ अब बँछत है सुरलोकहि कालहु पाइ परे सु पुरंदर।
छाँड़ि कुबुद्धि सुबुद्धि हृदै धरि आतम राम भजै किन सुन्दर॥

'काल चेतावनी का अंग' शीर्षक का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के काल शीर्षक में हो चुका है अतः उसको यहाँ फिर से उद्धृत करना उचित नहीं प्रतीत होता है। काल चेतावनी के वर्ण्य विषय का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

सन्तों ने कनक कामिनी के प्रति जनता को सब से अधिक सचेत करने का प्रयत्न किया है। इसी सीमित क्षेत्र को लक्ष्य बना कर उन्होंने बारम्बार अपने विचार प्रकट किये हैं। परन्तु कबीर और उनके पश्चात् होने वाले अन्य कवियों द्वारा लिखित चेतावनी के आधार परम्परागत विषयों के अतिरिक्त स्वानुभूत विषय भी है। उदाहरणार्थ—

(क) आछे दिन पाछे गये गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे चिड़िया चुग गई खेत॥
(क० वं० ४०-४०१)

(ख) मैं भँवरा तोहि बरजिया बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से तड़पि तड़पि जिय देय॥
(क० व० ४०-४२३)

इसी दृष्टि से दादू की एक चेतावनी पठनीय है—

आपा पर सब दूरि करि राम नाम रसि लागि।
दादू औसर जात है जागि सके तो जागि॥
(स० वा० स० भाग १, पृ० ७६)

मलूकदास की स्वानुभूति के आधार पर रचित चेतावनी निम्नलिखित है—

देही होय न आपुनी समुझि परी है मोहिं।
अबहीं ते तजि राख तू आखिर तजि है तोहिं॥
(स० वा० स०, भाग १, पृ० १०१)

स्वानुभूति चेतावनियों में सर्वथा नवीनता और मौलिकता प्राप्त होती है। सुन्दरदास की स्वानुभूत चेतावनियों में से कतिपय यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

सुन्दर पक्षी वृक्ष पर लियौ बसेरा आनि।
राति रहे दिन उठि गये त्यौं कुटुम्ब सब जानि॥
सुन्दर नदी प्रवाह मैं मिल्यौं काठ संजोग।
आपु आपु कौं ह्वै गये त्यौं कुटुम्ब सब लोग॥
सुन्दर यह औसर भलौ भजि ले सिर्जन हार।
जैसे तातें लोह कौं लेत मिलाइ लुहार॥
सुन्दर सूवा पींजरे केलि करे दिन राति।
मिनकी जानै घाँव कब ताकि रही इहि भाँति॥

सन्त कवियों ने कल्पना, अन्योक्ति, रूपक तथा उपमा के द्वारा अपनी चेतावनियों को अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाया है। यह विशेषता कबीर में अधिक है। साधारण से साधारण विषयों को कवियों ने इन साधनों से रोचक, प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है। कबीर की चेतावनी एवं अन्योक्तियों के भाव प्राचीन होते हुए भी नवीन प्रतीत होते हैं—

(क) चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आइके साबित गया न कोय॥
(क० ब० ४३-४३०)

(ख) पानी केरा बुंदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात॥

(ग) सेमर सुवना सेइया दुइ ढेढी की आस।
ढ़ेढी फूटि चटाख दे सुवना चला निरास॥
(क० ब० ४३-४३१)

(घ) माली आवत देखि के कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुनि लिये काल्हि हमारी बार॥
(क० ब० ४३ ४३४)

इसी प्रकार प्राचीन भावों को अभिनव भाषा, नवीन शैली, नवीन शब्दों में व्यक्त करने में सुन्दरदास भी सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय चेतावनी यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

१. दीया की बतियाँ कहे दीया किया न जाइ।
दीया करे सनेह करि दीये ज्योति दिषाइ॥

२. सुन्दर तेरी मति गई समुंझत नहीं लगार।
कूकर रथ नीचे चले हूँ षैंचत हौं भार॥

३. सुन्दर पक्षी वृक्ष पर लियौ बसेरा आनि।
राति रहे दिन उड़ि गये त्यौं कुटुम्ब सब जानि॥

४. सुन्दर मनुषा देह धरि भज्यौ नहीं भगवंत।
तौ पशु ज्यौं पूरै उदर शूकर स्वान अनन्त॥

५. सुन्दर अब तेरी षुसी बाजी जीति कि हारि।
चौपड़ि कौ सौ षेल है मनुषा देख बिचारि॥

इसी प्रकार उपमाओं रूपकों के द्वारा मलूकदास[१], दरिया साहब (बिहार वाले)[२] दूलनदास[३], सहजोबाई[४], दयाबाई[५], जगजीवन साहब[६] आदि संत कवियों ने अपनी चेतावनियों को रोचक एवं प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है।

सुन्दरदास ने अन्य सन्तों की भाँति ही दो प्रकार के व्यक्तियों को लक्ष्य करके अपनी चेतावनी की रचना की है। सर्वप्रथम उन्होंने बहुजन हिताय संसार को सम्बोधित करके लिखी है। इस प्रकार की चेतावनी प्रायः सभी सन्तों ने लिखी है। दूसरे उन्होंने आत्म उद्बोधन के हेतु चेतावनी लिखी है। दूसरी कोटि की चेतावनियों में भी आत्मा को ही सम्बोधित किया गया है।

---

[१]इस जीने का गर्व क्या कहाँ देह की प्रीति।
बात कहत ढह जात है बारू की सी भीति ॥ (सं० बा० स० १ पृ० १०१)

[२]मातु पिता सुत बंधवा सब मिलि करैं पुकार।
अकेल हँस चलि जातु है कोई नहिं संग तुम्हार ॥ (सं० बा० स० पृ० १२०)

[३]दूलन यह परिवार सब नदी नाँव संजोग।
उतरि परे जह तहँ चले सबै बटाऊ लोग ॥ (सं० बा० स० पृ० १३६)

[४]सहजो नौबत स्वास की बाजत है दिन रैन।
मूरख सोवत है महा चैतन के नहि चैन ॥ (सं० बा० स० पृ० १५७)

[५]बिनसत बादर बात बसि नभ में नाना भाँति।
इमि नर दीसत काल बसि तऊ न उपजै साँति ॥ (सं० बा० स० पृ०-१६१)

[६]स० बा० स० भाग २, पृ० १३० १३२

विरहानुभूति

साहित्य से श्रृंगार रसराज कहा गया और विप्रलंभ श्रृंगार का प्राण। न केवल साहित्य के क्षेत्र में वरन धर्म के क्षेत्र में भी विप्रलंभ श्रृंगार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विरह, प्रेम का उद्दीपक है। प्रेम की मन्द ज्योति को जाज्वल्यमान करने के हेतु विरह का अपना स्थान है। 'भक्ति सूत्र' में नारद ने विरह को राजमार्ग और प्रेम करने की एक शैली मानी है—

गुण माहात्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति
दास्यासक्ति संख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासवत्यात्म
निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपा
एकधाडयेकादशधा भवति।[1]

यद्यपि उद्धव, गोपिकाओं और ब्रज के नर-नारियों में श्री कृष्ण के प्रति उपर्युक्त ग्यारहों प्रकार का प्रेम उपलब्ध होता है, तथापि उनमें विरहासक्ति का रूप अत्यन्त मुखर है। विश्व के प्रत्येक धर्म और साहित्य में विरह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्य देशों के रहस्यवादियों ने भी विरह का अनुभव प्राप्त किया और विरहानुभूति के उस समय को 'उन्होंने डार्क नाइट आफ दि सोल' अर्थात् 'आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि' तथा 'ट्रूसेस एटैट मिस्टिक नेगैटिफ' आदि के रूप में अभिव्यक्त किया। सूफियों का विरह और उनकी विरहानुभूति 'हिज्र' संसार में प्रसिद्ध है। भारतीय साहित्यों में साधकों की विरहानुभूति के अनूठे उदाहरण उपलब्ध होते हैं। श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों का प्रेम और उनका विरह अद्वितीय है। इसी प्रकार सूरसागर के दशम स्कन्ध और विशेषतया भ्रमर गीत प्रसंग में विप्रलंभ श्रृंगार साकार-सा हो उठा है। हिन्दी साहित्य के मध्य युगीन साधकों में कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, मलूक, मीरा, रज्जब, रैदास आदि का काव्य उनकी विरहानुभूति से ओतप्रोत है। ईश्वर पति को प्राप्त करने के हेतु साधन पथ पर अग्रसर साधक की आत्मा रूपी नारी को कभी-कभी लक्ष्य प्राप्ति में निराशा प्रतीत होती है। नैराश्य के इन्हीं क्षणों में अभिव्यंजित संतों की अनुभूतियाँ साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। प्रायः सभी सन्तों के काव्य में उनका विरह मुखरित हुआ है। इसी प्रकार से महाराष्ट्र

[1] भक्ति सूत्र देवर्षि नारद ८२, गीता प्रेस, गोरखपुर
Darknight of the Soul St. John of Cross, Truce's etat mystique negatif de Santis Period of Spiritual aridity.

के सन्तों तुकाराम आदि के काव्य में विरह के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अरबी और फ़ारसी साहित्यों में जलालुद्दीन रूमी, इबनुल फरीद, हाफिज़ अत्तार तथा जामी आदि की विरहानुभूतियाँ किसी भी साहित्य की गौरवपूर्ण निधि बन सकती हैं।

सुन्दरदास ने 'सुन्दर विलास' ग्रन्थ में 'विरहिन उराहने का अंग' शीर्षक के अन्तर्गत पाँच छन्दों में अपनी विरहानुभूति व्यक्त की है और स्फुट साखी साहित्य में 'अथ विरह को अंग' शीर्षक में १५ छन्दों में विरह की अभिव्यञ्जना की है। इसके अतिरिक्त स्फुट पद साहित्य में कवि ने अनेक पदों में अपनी विरह व्यथा की अभिव्यक्ति की है।

साधक को विरह की अनुभूति किसी भी स्तर पर हो सकती है। सामान्यतया साधक को विरहानुभूति उस समय होती है जब उसकी अन्तरात्मा सांसारिक माया मोह से ऊपर उठ जाती है और यम नियमादि द्वारा वह आभ्यन्तर को शुद्ध कर लेता है। यही समय उसकी आत्मा के लिए अंधकारपूर्ण रात्रि (Dark night of the soul) प्रतीत होने लगता है। विरहानुभूति का समय तभी समाप्त होता है जब साधक को उस दिव्यपुंज के दर्शन प्राप्त होते हैं। प्रायः साधकों को आजीवन परब्रह्म के दर्शन न मिले और पीव के वियोग और प्रतीक्षा में उनका सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो गया। चैतन्य को १२ वर्षों तक विरहाग्नि में सन्तप्त होना पड़ा और तब कहीं प्रियतम के दर्शन हुए। तभी उनके जीवन की अन्धकारपूर्ण रात्रि में प्रकाश का संचार हुआ।

रहस्यवादी के जीवन में विरह का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहता है।[1] कबीर के अनुसार "विरहा है सुलतान" और "जाघट विरह न संचरै सो घट जान मसान।" दादू के शब्दों में प्रेम को उद्दीप्त करने के लिये विरह की विशेष आवश्यकता है। पिपासा में जल, क्षुधा में अन्न और घाम में शीतल छाया का जो महत्त्व है वही प्रेम में विरह का।[2] पाश्चात्य विचारकों के समान दादू का भी मत है कि विरह पावक में सभी मानसिक विकार दग्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं।[3] इसी प्रकार सुन्दरदास ने विरह का महत्त्व स्फुट साखी साहित्य में 'अथ विरह को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित किया है। साहित्य के अन्तर्गत विरह की दश दशाएँ मानी गई हैं।[4] वैष्णवों के मतानुसार विरह आठ प्रकार का होता

[1]सन्तबानी संग्रह, पृ० १८
[2]दादू की बानी, पृ० ४०, १०१-१०४
[3] ... ... पृ० ३-१४१
[4]अभिलाषा, सुचिन्ता गुण कथन स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये होत मरण पुनि जाय॥
नवरस गुलाबराय, एम० ए०

है : स्तम्भ, कम्प, स्वेद, आँसू, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पुलक तथा प्रलय। फारसी साहित्य में विरह की नौ दशाएँ मान्य हुई हैं। उपर्युक्त इन विभिन्न दशाओं में से प्रत्येक सन्त कवि में सभी दशाओं के दर्शन नहीं होते हैं। यह अवश्य है कि इनमें से अधिकांश दशाएँ प्रत्येक संत कवियों की बानियों में उपलब्ध होती हैं। सामान्य रूप से सन्तों में उपलब्ध होनेवाली दशाएँ निम्नलिखित हैं—चिन्ता, व्यग्रता, आँसू, उद्वेग, विस्मृति, जागरण, अरुचि, (अन्न भोजन) एवं मृत्यु। अब हम यहाँ पर सन्तों के काव्य में मिलनेवाली विरह की प्रत्येक दशा पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

चिन्ता सन्तों के विरह की प्रथम अवस्था है। साहित्य में इसका दूसरा स्थान है और यह दशा 'अभिलाषा' के बाद आती है। यह 'अभिलाषा' से बढ़ी हुई दशा है। उसमें दुख की मात्रा अधिक है। इसमें 'दर्शन' की लालसा अधिक हो जाती है। 'चिन्ता' की दशा हमें प्रायः सभी सन्तों में उपलब्ध होती है। साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए पर्याप्त समय बीत जाने पर भी ईश्वर पति के दर्शन न प्राप्त होने पर सन्तों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। सन्तों की 'चिन्ता' में भी विरह की गम्भीर अभिव्यक्ति मिलती है। सुन्दरदास[१], कबीर[२], धर्मदास[३], मीरा[४], मलूक[५], चरनदास[६], धरनीदास[७], दादू[८], दरियासाहब[९], बुल्ला-साहब[१०], बुल्लेशाह[११], पलटू[१२] तथा तुलसीसाहब[१३] के काव्य में 'चिन्ता' के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। सुन्दरदास के काव्य साहित्य से यहाँ पर विरह की प्रथम अवस्था 'चिन्ता' के कतिपय उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं—

---

[१]सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ६८१
[२]संतबानी स० भाग २० पृ० १२
[३]धर्मदास स० भाग २०, पृ० ४४
[४] ,, ,, ,, पृ० ७०
[५]मलूकदास की बानी, पृ० १८
[६]चरनदास की बानी, पृ० १६
[७]धरनीदास की बानी, पृ० २, ३
[८]स० ब० स०, भाग २, पृ० ६३
[९] ,, ,, ,, पृ० १४८
[१०] ,, ,, ,, पृ० १७२
[११] ,, ,, ,, पृ० १८८
[१२] ,, ,, ,, पृ० २२१
[१३] ,, ,, ,, पृ० २४५

माई हो हरि दरसन की आस ।
कब देखौं मेरा प्रान सनेही नैन मरत दोऊ प्यास ॥
पल छिन आध घड़ी बिसरौं सुमिरत सास उसास ।
घर बाहर मोहिं कल न परत है निस दिन रहत उदास ॥
यहै सोच सोचत होहि सजनी सूके रग तम माँस ।
सुन्दर विरहिन कैसे जीवै विरह विथा तन त्रास ॥

(ख) मेरा प्रीतम प्रान अधार कब घरि आइ है ।
कहुँ सौ दिन ऐसा होइ दरस दिपाइ है ॥
ये नैन निहारत माग इक टक हेरही ।
बाल्हा जैसे चन्द चकोर दृष्टि न फेरही ॥
यह रसना करत पुकार पिव-पिव प्यास है ।
बाल्हा जैसै चातक लीन दीन उदास है ॥
ये श्रवन सुनन कौ बैन धीरज नां धरे ।
बाल्हा हिरदै होइ न चैन कृपा प्रभु कब करे ॥
मेरे नख शिख तपति अपार दुःख कासौं कहौं ।
जब सुन्दर आवै यार सब सुख तौं लहौं ॥

'व्यग्रता' सन्तों की विरहानुभूति की दूसरी दशा है । इसमें साधकों को बड़ी बेचैनी का अनुभव होता है । उन्हें कहीं भी शान्ति नहीं मिलती । उनका हृदय रह-रह कर 'पीव' के दर्शन को व्यग्र हो उठता है । उन्हें किसी भी सुखदायी पदार्थ से सुख नहीं मिलता है । यह दशा भी प्रायः सभी सन्तों में मिलती है । कबीर[1], मीरा[2], दादू[3], धरनीदास[4], चरनदास[5], तुलसीसाहब[6], बुल्लेशाह[7] के काव्य में उनकी व्यग्रता के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । व्यग्रता सन्तों में दो प्रकार की पाई जाती है । एक साधारण मानव जैसी व्यग्रता है, द्वितीय चरम कोटि की । जल से निकली हुई मछली के समान भी तड़पना (तलफना) संतों ने

---

[1] स० बा० स०, भाग २, पृ० १२
[2] ... ... पृ० ७२
[3] ... ... पृ० ६३
[4] धरनीदास की बानी, पृ० २
[5] चरनदास की बानी, पृ० १६
[6] स० बा० स०, भाग २, पृ० २४४
[7] ... ... पृ० १८८

अनुभव किया था। उनके काव्य में इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कबीर[1], दादू[2], मीरा[3] और मलूक[4] के काव्य में इस प्रकार की भावना का बाहुल्य है। सुन्दरदास के काव्य में व्यग्रता के उभय प्रकारों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। प्रियतम पर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे कितने 'व्यग्र' हैं यह उनके निम्नलिखित छन्दों से प्रकट होता है—

विरहिन है तुम दरस पियासी।
क्यौं न मिलौ मेरे पिय अविनासी॥
येते दिन हौं काइ विसारी निसि दिन मरत है नारी॥
बिभचारिन हौं होती नाँहि लै पतिव्रतहि रही मन माँही॥
तुम तौ बहुत त्रियन संग कीनौ मैं तौ एक तुमहि चित दीनौ॥
सुन्दर दास भई गति ऐसी चातक मीन चकोरहि जैसी॥

तथा सुन्दर पिय कै कारणौं तलफै बारह मास।
निस दिन लै लागी रहै चातक कीसी प्यास॥

'आँसू' सन्तों की विरहानुभूति की तृतीय दशा है। यह दशा वैष्णवों और फारसी साहित्य में भी मान्य है, पर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नहीं। यह दशा प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते निराश सन्तों में अधिक दृष्टिगत होती है। प्रतीक्षा की भी सीमा होती है, विरह की भी कोई अवधि होती है। पर जब नैराश्य ही साथ हो लेती है, तो नेत्र बरस पड़ते हैं। दादू[5], मलूक[6], सुन्दर[7], दरिया (बिहार वाले)[8], चरनदास[9], में उनकी इस दशा का चित्रण मिलता है। सुन्दरदास के काव्य में विरह की इस दशा का चित्रण कई बार हुआ है। उदाहरणार्थ :

---

[1] स० वा० स० भाग २, पृ० १०
[2] ... ... पृ० ६३
[3] मीराबाई की बानी
[4] मलूकदास की बानी, १-८
[5] स० वा० स० भाग २, पृ० ६४
[6] जिय बिह्वल पिय मिलन को घरी रही न चैन।
निशि दिन आँसू बहि चलैं नींद न आवै रैन॥
(शब्द संग्रह अप्रकाशित)
[7] स० वा० स०, भाग २, पृ० १०६
[8] ... ... पृ० १४८
[9] ... ... पृ० १८३

(क) सुन्दर विरहनि अति दुखी पीव मिलन की चाह।
निस दिन बैठी अनमनी नैनन नीर प्रवाह॥
(ख) सुन्दर तलफै विरहनी विलखि तुम्हारे नेह।
नैन श्रवें घन नीर ज्यौं सूखि गई सब देह।

'उद्वेग' की दशा 'आँसू' के पश्चात् है। इस दशा में सुखदायक वस्तु भी दुखदायक प्रतीत होने लगती है। इस दशा में मन की गति तीव्र हो जाती है, प्रकृति के उपकरण चन्द्रिका, चन्द्र, मेघ, शीतल-मन्द-वायु कष्टप्रद प्रतीत होने लगती हैं। फूल शूल बन जाते हैं। नक्षत्र अंगारवत प्रतीत होते हैं। मीरा[1], और तुलसीसाहब[2] का काव्य इस प्रकार के उद्धरणों से पूर्ण है। सुन्दरदास के काव्य से विरह की इस दशा को व्यक्त करने वाला एक छन्द नीचे उद्धृत किया जाता है—

हमं पर पावस नृप चढ़ि आयौं।
बादल हस्ती हवाई दामिनी गरजि निसान बजायौं।
पवन तुरंगम चल चहूं दिश बूंद बानझर लायौं।
दादुर मोर पपीहा पाइक मारे मार सुनायौं॥
दशहू दिशा आइ गढ़ घेर्यौं विरहा अनल लगायौं।
जइये कहाँ भागि के सजनी रजनी दुंद उठायौं॥
को अब करै सहाइ हमारी पिय परदेशहि छायौं।
सुन्दरदास विरहनी व्याकुल करिये कौन उपायौं॥

'उद्वेग' के पश्चात् 'विस्मृति' की दशा है। इस दशा में पहुँच कर साधक की साधना और तीव्र हो जाती है। वह ब्रह्म में लीन हो जाने का प्रयत्न करता है। उसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य भूलकर एक लक्ष्य की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं।[3] वह संसार के व्यापार, नियम तथा रीतियों को भूलकर आगे बढ़ता जाता है। पाश्चात्य रहस्यवादी सेंट मार्टिन ने भी इस दशा का अनुभव किया था। हिन्दी[4] के सन्तों में धरनीदास[5] और पल्टूसाहब[6] तथा

[1] स० बा० स० पृ० ७३
[2] ... ... पृ० २४३
[3] ... ... पृ० ३६
[4] Mysticism by E. Underhill, p. 82
[5] धरनीदास की बानी, पृ० १४
[6] स० बा० स० भाग २, पृ० २२३

सुन्दरदास में इस प्रकार के भाव मिलते हैं। 'विस्मृति' की दशा अन्य सन्तों में नहीं उपलब्ध होती है। सुन्दरदास के साहित्य में 'उद्वेग' के एक से एक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ 'सुन्दर ग्रन्थावली' भाग २, पृ० ६०५ पर पद ३ तथा ४ इस दृष्टिकोण से पठनीय हैं।

विरह की और तीव्र अवस्था आने पर 'जागरण' की दशा आती है। इस दशा में साधक को निद्रा नहीं आती। वह प्रयत्न करता है। सेज शूलवत चुभती है। इसी दशा में पहुँचकर साधक को खाना-पीना कुछ भी नहीं रुचता है। वह अत्यन्त दुखी होकर जीवन के लिये आवश्यक इन तत्वों की ओर से भी विमुख हो जाता है। चिन्ता, व्यग्रता और उद्वेग के कारण वह विक्षिप्त सा हो जाता है। साधना के क्षेत्र में असफलता, निराशा, प्रियतम प्राप्ति के बिलम्ब के कारण वह जीवन को निस्सार समझने लगता है। और इसीलिए वह भोजन और शयन को छोड़ देता है। इस दशा में साधक बहुत ही निर्बलता प्रतीत करता है।[1] यह दशा कबीर[2], मीरा[3], धरनीदास[4], चरनदास[5], बुल्लाशाह[6], पलटू[7], तुलसीसाहब[8] तथा दरियासाहब[9] (मारवाड़) सुन्दरदास आदि कवियों में उत्कर्ष पर है। भोजन, शयन, निद्रा के परित्याग कर देने की अवस्था का अनुभव कवि सुन्दरदास ने भी किया था। रात नींद नहीं, दिन चैन नहीं। इस दशा में साधक सुन्दरदास के विचार पठनीय हैं—

(क) हो वैरागी राम तजि किहि देश गये।
तादिन तै मोहि कल न परत है परबसि प्रान भये ॥
भूष पियास नींद नहि आवै नैननि नेम लये।
अंजन मंजन सुधि सब बिसरी नखशिख विरह तये ॥

---

[1] मलूकदास की बानी, ३५ २०
[2] स० वा० स० भाग २, पृ० १०, ११
[3] ... ... पृ० ७१
[4] ... ... पृ० १२७ तथा धरनीदास की बानी, पृ० २
[5] चरनदास की बानी, पृ० १७
[6] स० वा० स०, पृ० १८८
[7] ... ... पृ० २२०
[8] ... ... पृ० २४३
[9] स० वा० स० आ० १, पृ० १२८

आपु कृपा करि दरसन दीजै तुम कौने रिझये ।
सुन्दर विरहनि तब सुख पावै दिन दिन नेह नये ।।

(ख) भूख पियास न नीदडी विरहनि अति बेहाल ।
सुन्दर प्यारे पीव बिन क्यौं करि निकसै साल ।।

(ग) हाकी वाकी रह गई नां कछु पिंव न पाइ ।
सुन्दर विरहनि वह सही चित्र लिषी रहि जाइ ।।

उपर्युक्त दशा के पश्चात् 'मूर्छा' आदि के दौरे आने की दशा है; परन्तु इस दशा के उदाहरण सन्तों में नहीं उपलब्ध होते हैं। यह दशा सूफियों में बहुत पाई जाती है। सूफियों में इस दशा का नाम 'हाल' है। पाश्चात्य विद्वान रहस्यवादियों में भी यह स्थिति पाई जाती है।[१] भारतीय सन्त चैतन्य ने इस प्रकार के 'मूर्छा' के दौरों का अनुभव किया था।

विरह की अन्तिम दशा है 'मरण' व 'मृत्यु'। जब विरह असह्य हो जाता है, निराशा निःसीम हो जाती है, शरीर क्षीण हो जाता है, थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से मूर्छा आने लगती है, प्राकृतिक सुखद तत्व अत्यन्त दुखद प्रतीत होने लगता है उस समय वह आत्मघात कर लेने के हेतु प्रयत्नशील हो उठता है। वह ईश्वर से मृत्यु के लिए प्रार्थना करता है।[२] कबीर[३], मीरा[४], तुलसीसाहब[५], मलूकदास[६] दादू[७] चरनदास[८] तथा सुन्दरदास में यह भावना बहुत ही तीव्र दिखाई देती है। स्थान-स्थान पर उनमें प्राणों के उत्सर्ग की भावना और कामना प्रबल हो उठती है। उदाहरणार्थ :

(क) मेरौ पिय परदेश लुभानौ री ।
जानत हौं अजहूं नहिं आये काहू सौं उरझानौं री ।।
ता दिन ते मोहि कल न परत है जब तै कियौ पयानौं री ।
भूष पियास नींद नहि आवै चितवत होत विहानौं री ।।

---

[१] Mysticism-E. Underhill, pp. 394-395
and Inge, W. R.-Christian Mysticism, p. 221

[२] चैतन्य चरितावली, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, भाग ५, पृ० १३५, गीताप्रेस, गोरखपुर

[३] दयाबाई की बानी, पृ० ७ १८

[४] स० बा० स०, पृ० १०

[५] ... ... पृ० ७०

[६] ... ... पृ० २२४

[७] मलूकदास की बानी, पृ० ६ तथा शब्द संग्रह

[८] स० बा० स०, पृ० ६४

[९] चरनदास की बानी, पृ० १६

विरह अग्नि मोहि अधिक जनावै नैननि मैं पहिचानौ री।
बिन देषै हौं प्रान तजौंगी यह तुम सांची मानौ री॥

(ख) चलै हवाई दामिनी बाजै गरज निसान।
सुन्दर विरहनि क्यों जियै घर नहिं कंत सुजान॥

कुछ सन्तों ने आत्महत्या की भावना को क्रियात्मक रूप से भी परिणत करने का प्रयत्न किया है जिनमें से सन्त तुकाराम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। अन्य व्यक्तियों द्वारा सामयिक हस्तक्षेप ने उनका जीवन बचाया अन्यथा तुकाराम अपने प्रयत्न में सफल हो चुके थे।[1]

सामान्य रूप से विरह की उपर्युक्त ये सभी दशाएँ हिन्दी के सन्तों में उपलब्ध होती हैं; परन्तु कुछ ऐसे भी सन्त हैं जिन्हें इन दशाओं के अतिरिक्त और भी अन्य दशाओं का अनुभव विरह है। कबीर[2], धरनीदास[3], और मीरा[4] ने विरह के कारण एक विचित्र दर्द का अनुभव किया जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया था। कुछ सन्तों ने विरह की तीव्रता में विक्षिप्तता का भी अनुभव किया था।[5] मीरा[6], मलूक[7], और सुन्दर[8] ने शारीरिक कृशता और दौर्वल्य का अनुभव किया।

प्रेम के जगत में विरह का बड़ा महत्त्व है। इस पर सभी देशों के विद्वान और मनोवैज्ञानिकों में मतसाम्य है। कतिपय विद्वान विरह को आत्मा के उत्थान में अत्यावश्यक तत्व मानते हैं। कुछ विद्वानों ने विरह को जाग्रति की अवस्था मानी है। दरियासाहब (मारवाड़) विरह को 'हरि कृपा' मानते हैं, जिसने सुप्त दरिया को जाग्रत कर दिया (सीता लिया उठाय)। वास्तव में आध्यात्मिक क्षेत्र में विरह का बड़ा महत्त्व है। जिस साधक का हृदय विरह से युक्त नहीं है वह 'मसान' समान है। कबीर के शब्दों में—

विरहा विरहा मत कहो विरहा है सुल्तान।
जाघट विरह न संचरै सोघट जान मसान॥

---

[1] Mysticism in Maharashtra by R. D. Ranade, Poona 1935 page 299

[2] स० बा० स० भाग २, पृ० ३६

[3] " " " " पृ० ६६

[4] " " " " पृ० ७२

[5] " " " " पृ० ४३

[6] " " " " पृ० ७२

[7] मलूकदास की बानी शब्द संग्रह

[8] स० बा स० भाग २, पृ० १२६

दुष्ट

ग्रन्थ प्रणयन के पूर्व उसके सफल अन्त एवं सकुशल समाप्ति के हेतु परब्रह्म की वन्दना करने की एक परम्परा चली आ रही है। आदि कवि से लेकर आधुनिकतम प्रबन्ध या महाकाव्यकारों में से प्रत्येक ने इस परम्परा का अनुसरण किया है। इस परम्परा का श्रीगणेश संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् हिन्दी के कवियों को इस परम्परा को जीवित रखने का श्रेय प्राप्त है। कवि-कुल-कमल कालिदास के प्रत्येक काव्य में आदि में स्तुति की गई है। यही बात हमें मैथिलीशरण गुप्त के काव्य ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। जो मंगल कामना और माँगलिक भावना तब के कवियों में विद्यमान थी वह आज भी चली आ रही है। परन्तु शुभ कार्य के निर्विघ्न समाप्ति के लिये कवियों ने खलजनों की भी वन्दना की है। उदाहरणार्थ मानस का बालकांड द्रष्टव्य है।[1] खल वन्दना प्रकरण के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास जी ने दुष्ट जनों की स्वभावगत विशेषताएँ, उनके कार्य-कलापों तथा व्यवहारों का बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। हिंन्दी के सन्त कवियों ने भी यत्र-तत्र दुष्ट अथवा दुर्जनों पर पर्याप्त लिखा है। परन्तु सन्तों ने दुष्ट वा दुर्जन पर जो कुछ लिखा है वह न तो वन्दना है; न प्रशस्ति वरन् उसमें दुष्टों के हृदय, स्वभाव, व्यवहार एवं बहुरूपता का अच्छा वर्णन हुआ है। सन्तों द्वारा उल्लिखित 'दुर्जन को अंग' अथवा 'दुष्ट को अंग' उनकी मौलिकता, वाक्चातुर्य एवं मनोवैज्ञानिकता का सुन्दर परिचायक है।

सन्तों और असन्तों के स्वभाव में उत्तरी ध्रुव एवं दक्षिणी ध्रुव के समान वैषम्य रहता है। एक परहित अपना उत्सर्ग कर देने वाले हैं, तो दूसरे स्वहित के लिए दूसरों का बलिदान कर देने वाले हैं। एक, दूसरे की चिन्ता से चिन्तित रहते हैं तो दूसरे अन्य को मिटा देने की चिन्ता से व्यग्र रहते हैं। एक अपना अस्तित्व मिटा कर दूसरों का हित करते हैं तो दूसरे अन्य के अहित में ही अपनी जीवन-ज्योति को सजग पाते हैं। गोस्वामी जी के शब्दों में "मिलत एक दारुण दुख देही, बिछुरत एक प्राण हरि लेही।" इस प्रकार दोनों के स्वभाव में बड़ी विषमता है, बड़ा अन्तर है। सन्तों की वन्दना के पश्चात् उन्होंने तुरन्त ही दुष्टों के स्वभाव का उल्लेख करके दोनों की स्वभावगत विषमता को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। दोनों प्रकरणों को पढ़ जाने के अनन्तर ज्ञात होता है कि संत 'सत्यं शिवं, सुन्दरं' के उपासक, समदर्शी, मांगलिक एवं सब को सत्मार्ग

---

[1]देखिए मेरा लेख 'गोस्वामी जी की खल वन्दना' सर्वहितकारी

पर अग्रसर और सुखी देखने के आकांक्षी हैं और खलजन इस सबके नितांत विपरीत एवं विरोधी।

हिन्दी के सन्त कवियों में दुष्टों पर लेखनी उठाने वालों में कबीर[1], दादू[2], मलूक[3], सुन्दरदास,[4] गरीबदास[5], और तुलसी साहब[6] विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खलजनों के दुर्गुणों एवं स्वभाव का इन्होंने विस्तृत विवेचन और उल्लेख किया। सुन्दरदास जी ने 'सुन्दर विलास' में 'अथ दुष्ट कौ अंग' शीर्षक के अन्तर्गत पाँच छन्दों में दुष्टों के स्वभाव का निरूपण किया है और स्फुट साखी साहित्य में 'अथ दुष्ट को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय पर पच्चीस साखियों की रचना की है। इस प्रकार इस विषय पर कवि ने ३० छन्दों में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है।

खलजनों का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है। वे सबकी ओर से शंकालु और सतर्क रहते हैं। वे अहंमन्यता की मूर्ति होते हैं। संसार के समस्त गुण उन्हें अपने में ही आभासित मिलते हैं और समस्त संसार दोषों और मूढ़ता का आगार प्रतीत होता है। खलजन हरिहर के यश रूपी चन्द्रमा के हेतु राहु के समान हैं। वे दूसरे का बना कार्य बिगाड़ने के लिए सहस्रबाहु के समान योद्धा हैं। दुष्ट लोग दूसरों के दोषों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन के लिए वे शेषनाग (के सदृश सहस्रों मुखों) का कार्य एक मुख और एक जिह्वा से करते हैं। दुष्ट जन अपने दोषों को छिपाने और दूसरों के दोषों को प्रकाशित करने में चतुर होते हैं। वे सर्वदा दोषों और दुर्गुणों को ही खोजा करते हैं। उनकी समस्त प्रतिभा छिद्रान्वेषण में ही खप जाती है। जिस प्रकार सुन्दर भव्य भवन में कीरी चींटी छिद्रों को खोजती फिरती है, ठीक उसी प्रकार खलजन प्रत्येक मनुष्य के दोषों और दुर्बलताओं की खोज किया करते हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण इसी प्रकार के कार्य में व्यतीत होता है। दुष्टों के स्वभाव का यह वर्णन कवि ने निम्नलिखित छन्द में रोचक ढंग से किया है—

आपने न दोष देषै परके औगुनै पेषै
दुष्ट कौ सुभाव उठि निंदाई करतु है।
जैसे काहू महल संभारि राख्यौ नीकै करि
कीरी तहाँ जाइ छिद्र ढूँढ़त फिरतु है॥

[1]संत बानी संग्रह, भाग १, पृ० ३१
[2] ,, ,, ,, ,, पृ० ८६
[3] ,, ,, ,, ,, पृ० १०२
[4]सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४४०
[5]संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० २०१
[6] ,, ,, ,, पृ० २३५

भोर ही तें साँझ लग साँझ ही ते भोर लग ।
सुन्दर कहत दिन ऐसैं ही भरतु है ॥
पाव के तरोस की न सूझै आगि मूरष कौं ।
और सों कहत सिर ऊपर बरतु है ॥

उपर्युक्त छन्द में खल जन के जिस स्वभाव की अभिव्यक्ति हुई है वही भाव निम्नलिखित साखियों में भी व्यक्त हुआ है। पठनीय इन साखियों का यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं प्रतीत होगा—

अपने दोष न देषई पर के औगुन लेत ।
ऐसौ दुष्ट सुभाव है जन सुन्दर कहि देत ॥
सुन्दर दुष्ट स्वभाव है औगुन देषै आइ ।
जैसे कीरी महल में छिद्र ताकती जाइ ॥
सूझत नांहि न दुष्ट कौ पाँव तरे की आगि ।
औरन के सिर पर कहे सुन्दर वासौं नागि ॥

दुर्जन हृदयस्थ भाव को निहित रखने और प्रकट रूप से भिन्न प्रकार की बातें करने में चतुर होते हैं। उनका हृदय प्रतिकार एवं प्रतिशोध की भावनाओं से आच्छादित होते भी जिह्वा मधुर सम्भाषण में समर्थ रहती है।[1] उनके हृदय तथा मस्तिष्क में नैकट्य न होकर दूरत्व की भावना रहती है। हृदय में हलाहल होते हुए भी वे मृदु भावों को व्यक्त करने में सफलीभूत रहते हैं। जिस प्रकार प्रतिहिंसा की भावना होते हुए भी व्याघ्र अपने शिकार के सम्मुख अत्यन्त नम्र बना रहता है उसी प्रकार का आचरण दुष्ट करते हैं।[2] दुष्ट का बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न एवं विरोधी होते हैं। कवि के शब्दों में खलजन का स्वभाव निम्नलिखित छन्द में पठनीय है—

घात अनेक रहे उर अंतर दुष्ट कहे मुख सौं अति मीठी ।
लोटत पोटत व्याघ्र हि त्यौ नित ताकत है पुनि ताहि की पीठी ॥
ऊपर तें छिरकै जल आनि सु हेठ लगावत जारि अंगीठी ।
या मंहि कूर कछू मति जानहुँ सुन्दर आंपुनि आंषिन दीठी ॥

दुष्ट जन स्वार्थ के लिए दूसरों का अनर्थ तक कर डालते हैं। वे केतु (पुच्छलतारा)

---

[1] सुन्दर कबहुँ न धीजिए सरस दुष्ट की बात ।
मुख ऊपर मीठी कहै मन में घाले घात ॥
व्याघ्र करै ज्यों लुरषरी कूकर आगे आइ ।
कूकर देषत ही रहै बाघ पकरि ले जाइ ॥

के उदय के समान हैं जिनका उदय विकास सभी के लिए कष्टप्रद है। वे दूसरों का अहित, अकाज करने के लिए अपना शरीर तक नष्ट कर देते हैं यथा पाला और पत्थर दूसरे की खेती को विनष्ट करके स्वतः नष्ट (गल) जाते हैं। यदि किसी वस्तु विशेष में वे अपना लाभ नहीं देखते हैं तो भी अन्य के लिए उसकी उपयोगिता का ध्यान न करके उसे विनष्ट कर डालते हैं। सत्य तो यह है कि दुष्टजन कौन सी बुराई नहीं कर सकते, वे हर एक प्रकार के दोषों की खान होते हैं अतः उनसे समस्त विकारों की आशा है—

दुष्ट बुरी ही करँत है सुन्दर नेकु न लाज।
काम बिगारै और कौ अपने स्वारथ काज॥
पर को काम बिगारि दे अपनौ होउ न होह।
यह सुभाव है दुष्ट कौ सुन्दर तजिये वोह॥
घर षोवत है आपनौ औरनि हूँ कौ जाइ।
सुन्दर दुष्ट सुभाव यह दोऊ देत बहाइ॥[1]

सर्प मनुष्य को काटता है परन्तु उससे उस सर्प का कोई लाभ नहीं होता। आग वस्तुओं का दहन करती है परन्तु उससे उस आग का ही विनाश निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार दुष्ट जन व्यर्थ ही दूसरे की हानि करते हैं। इन्हीं दुष्टों की वन्दना करते हुए गोस्वामी जी ने लिखा था "बहुरि बंदि खलगन सति भाये। जे बिनु काज दाहिनेहु बाये।" "परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे।" गोस्वामी जी के इसी भाव को हम सुन्दरदास के निम्नलिखित छन्द में अभिव्यक्त देखते हैं।

ज्यौं नर पोषत है निज देह हि अन्न बिनाश करैं तिहि बारा।
ज्यौं अहि और मनुष्य हि काटत वाहि कछू नहि होइ अहारा।
ज्यौं पुनि पावक जारि सबै कछु न आपुहु नाश भयौ निरधारा।
त्यौं यह सुन्दर दुष्ट सुभाव हि जानि तजौ किन तीन प्रकारा॥

दुष्ट जन बिच्छू से भी अधिक भयंकर सर्प से भी अधिक घातक, अग्नि से भी प्रचंड, सिंह से भी अधिक हिंसक और गज से भी अधिक शक्तिशाली है; साथ ही खल या दुर्जन

---

[1]विचार साम्य की दृष्टि से कवि का निम्नलिखित छन्द भी पठनीय है—

आपुन काज संवारन कै हित और कौ काज बिगारत जाई।
आपुन कारज हा उ न होउ बुरौ करि और कौ डारत भाई॥
आपुहु षोवत औरहु षोवत षोइ दुवों घर देत बहाई।
सुन्दर देषत ही बनि आवत दुष्ट करे नहिं कौन बुराई॥

इन सभी से अधिक कष्टप्रद और घातक है। उपर्युक्त इन जीवों से उत्पीड़ित मनुष्य जीवित रह सकता है पुर दुष्ट ने जिस पर अपनी शनि-दृष्टि फेरी वह फिर बच नहीं सकता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। सुन्दरदास के शब्दों में दुष्टों की तुलना इन जीवों से पठनीय है—

(क) बीछू काटे दुख नहीं सर्प डसै पुनि आइ।
सुन्दर जो दुख दुष्ट तें सो दुख कह्यौ न जाइ॥
गज मारे तो नाहि दुख सिंह करे तन भंग।
सुन्दर ऐसौ नांहिं दुख जैसौ दुर्जन संग॥
सुन्दर जरिये अग्नि मँहि जल बूड़े नहिं हानि॥
पर्वत हीतैं गिरि परो दुर्जन भलौ न जानि।
सुन्दर झपांपात ले करवत धरिये सीस।
वा दुर्जन के संग ते राखि राखि जगदीस॥
सुन्दर विष हू पीजिये मरिये खाइ अफीम॥
दुर्जन संग न कीजिए गलि मरिये पुनि हीम।

(ख) सर्प डसै सु नहीं कछु तालक बीछु लगे सु भलौ करि मांने।
सिंह हु खाइ तौ नांहि कछू डर जौ गज मारत तौ नहिं हांनौ॥
आगि जरौ जल बूड़ि मरौ गिरि जाइ गिरौ कछु भै मति आंनौ।
सुन्दर और भले सब ही दुख दुर्जन संग भलौ जिनि जांनौ॥

तथ्य यह है कि दुर्जन के सदृश और कोई दुखदाई नहीं है। स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक में दुर्जन के समान कोई भी उत्पीड़क नहीं है। इसीलिए दुर्जन की संगति वर्जित की गई है—

सुन्दर दुर्जन सारिषा दुख दाई नाहिं और।
स्वर्ग मृत्यु पाताल हम देषे सब ही ठौर॥
दुर्जन संग न कीजिए सहिये दुख अनेक।
सुन्दर सब संसार में दुष्ट समान न एक॥

गोस्वामी जी के शब्दों में 'वचन बज्र जेहि (दुष्ट को) सदा पियारा।' दुर्जन व्यक्ति को व्यंग, कूट और मर्मस्थल को झकझोर देनेवाले वाक्य बोलने का बड़ा अभ्यास रहता है। व्यंग बोल कर अन्य को दुखी करना उसे बड़ा प्रिय रहता है। उसके व्यंग वचन वाणों से भी अधिक दुखदायी और घातक होते हैं—

जो कोउ मारै बान भरि सुन्दर कछु दुख नांहि।
दुर्जन मारे वचन सौं सालतु है उर मांहि॥

नारी

सन्तों में नारी-निन्दा की परम्परा बड़ी ही प्राचीन है। इस परम्परा का श्रीगणेश सिद्ध कवियों से हुआ। सिद्धों से प्रारम्भ होकर जैन तथा नाथ कवियों के साहित्य में परिपोषित होती हुई यह परम्परा हमारे सन्तों में दृष्टिगत होती है। गोरखनाथ ने भी नारी के 'कामिनी' रूप की निन्दा की है। (गोरख बाणी पृ० ७ तथा ५८)। परन्तु गोरखनाथ तक नारी निन्दा का वह उग्र रूप नहीं दृष्टिगत होता है जो केवल कुछ वर्षों के पश्चात् ही कबीर में उपलब्ध होता है। इन सन्तों ने नारी की बारम्बार निन्दा की। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी की आलोचना और निन्दा करने में उन्हें किसी सीमापर भी सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ। कबीर[१], दादू[२], मलूक[३], धरनीदास[४], दरियासाहब (बिहारवाले)[५], चरनदास[६], पलटू साहब[७], आदि ने नारी के भोग-प्रधान स्वरूप की खूब निन्दा एवं आलोचना की है। सुन्दरदास के साहित्य में भी यही तत्व विद्यमान है। सुन्दरदास ने तो कबीर की भाँति जी खोल कर नारी की निन्दा की और उससे पृथक् और दूर रहने का उपदेश दिया है। एक बात बड़े आश्चर्य की यह है कि सन्तों की परम्परा में होनेवाली नारी कवियित्रियों ने नारी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा। सहजोबाई, दयाबाई, मीराबाई आदि का साहित्य नारी विषयक किसी भी प्रकार के उल्लेख से शून्य है। न उन्होंने नारी की निन्दा की है और न प्रशंसा।

सन्तों ने नारी को त्रयोगुण विनाशिनी कहा है।[८] उनके अनुसार नारी माया (अविद्या)

---

[१]संतबानी संग्रह, भाग १, पृ० ५७

२	"	"	" पृ० ६१
३	"	"	" पृ० १०३
४	"	"	" पृ० ११५
५	"	"	" पृ० १२४
६	"	"	" पृ० १४६
७	"	"	" पृ० २२६

[८]नारि नसावै तीन गुन, जो नर पास होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान में, पैठि न सकै कोय ॥

स० बा० स०, भाग १, पृ० ५८-८

की प्रतीक, विष की कोठरी, सर्पिणी, घातक छुरी तथा साधना के क्षेत्र से अपदस्थ करने का साधानादि है। इसीलिए उन्होंने उससे दूर रहने के लिए बारम्बार चेतावनी दी है। कबीर और सुन्दरदास ने कामिनी के जिस स्वरूप को अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है, निश्चय ही वह नारी से विलग रहने के दृढ़ विचार को प्रकट करता है।

सुन्दरदास ने नारी की निन्दा यों तो यत्र-तत्र अनेक स्थान में की है परन्तु अपने क्रमबद्ध विचारों की अभिव्यक्ति कवि ने स्फुट काव्य में 'नारी निन्दा का अंग' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। दो स्थानों पर कवि ने 'पातिव्रत का अंग' शीर्षक के अन्तर्गत भी नारी के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं।

सुन्दरदास के अनुसार नारी का शरीर एक भयानक सघन जंगल के समान है, जहाँ भाँति-भाँति के भयानक एवं घातक जीव निवास करते हैं। कामिनी का शरीर एवं व्यक्तित्व अज्ञात एवं अपरिचित सघन जंगल की भाँति है जहाँ मनुष्य मार्ग भूल कर भ्रम में पड़ जाता है। यहाँ पर कवि का तात्पर्य यह है कि नारी माया (अविद्या) का अंग और साधन है अतः वह साधक को भ्रम में डाल देती है। नारी के उस भयानक सघन जंगल में गति रूपी हाथी है, कटि रूपी सिंह, बेणी रूपी काला नाग हैं, कुच रूपी पहाड़ों में कामदेव रूपी चोर निवास करते हैं। यहीं पर नेत्रों में कटाक्ष रूपी घातक बाण चलते हैं और उसका सुन्दर मुख राक्षसों के मुख के समान भयानक है जो मानव जाति को खाता हुआ चला जा रहा है।[1] इन उपमाओं के द्वारा जो रूपक प्रस्तुत किया गया है वह नारी का भोगमय रूप है। इस रूपक में नारी का सौन्दर्य वर्णित है। नारी के इसी सौंदर्य पर मुग्ध होकर मानव उसके साथ प्रसंग करके अपनी शक्ति को क्षीण करता रहता है। कवि के अनुसार पुरुष नारी के जिस स्वरूप को देख कर मुग्ध हो जाता है वही रूप विष से पूर्ण है। नारी विष-रूपी नारी से उत्पन्न होती है इसीलिए नख से शिख तक वह विष से परिपूर्ण है। उसके समस्त कृत्य एवं हाव-भाव विष के समान ही घातक हैं। उसकी सुन्दर भुजाएँ विष

---

[1]कामिनी कौ देह मानौं कहिये सघन बन
    उहाँ कोऊ जाइ सु तौ भूलिकै परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामैं
    बेनी काली नागनीऊं फन कौं धरतु है॥
कुच है पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ
    साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौ हरतु है।
सुन्दर दहत एक और डर अति तामैं
    राक्षस वदन षांऊँ ही करतु है॥

की बेलि के समान ही है जिनमें फंसकर मानव पंचत्व को प्राप्त होता है। विष-वृक्ष रूपी नारी के घातक प्रभाव से यदि संसार में कोई भी मनुष्य बचा है तो वह है केवल सन्त। इसके अतिरिक्त स स्त मानव समाज उसी के माया जाल में फँसा हुआ है।[1]

कामिनी का सौंदर्य बड़ा ही मोहक एवं आकर्षक होता है। वस्तुतः तथ्य इसके प्रतिकूल है। नारी का बाह्याकार भले ही मोहक तथा आकर्षक हो पर उसका अंतिम परिणाम है स्मशान की भीषण ज्वालाएँ। इतना सौंदर्य, इतना आकर्षण, इतनी मोहकता तथा इतनी कोमलता सब कतिपय क्षणों में अग्नि की प्रज्वलित लपटों में भस्म हो जाता है और शेष रह जाता है अस्थियों का समूह। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट ही है कि यह शरीर मल, मूत्र एवं थूक आदि का आगार है। कामिनी का अंग-प्रत्यंग अत्यन्त मलीन है और अशुद्ध है। मांस और मज्जा से निर्मित शरीर का क्या सौंदर्य है जिसकी प्रशंसा और नखशिख वर्णन कवि समुदाय करता रहता है। सुन्दरदास ने नारी के इसी वीभत्स एवं घृणित रूप का चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में अंकित किया है—

कामिनी कौ अंग अति मलिन महा अशुद्ध
रोम रोम मलिन मलिन सब द्वार हैं।
हाड़ मांस मज्जा भेद चाम सौं लपेट राषै
ठौर ठौर रकत के भरेई भंडार हैं॥
मूत्र ऊ पुरीष आंत एक मेक मिलि रही
और ऊ उदर मांहि विविध विकार हैं।
सुन्दर कहत नारी नख शिख निंद रूप
ताहि जे सराहैं ते तो बड़ेई गँवार है॥

इसी प्रकार का वर्णन संस्कृत साहित्य में भर्तृहरि कृत 'वैराग्य शतक' में हुआ है। 'वैराग्य शतक' की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं—

---

[1] विष ही की भूमि मांहि विष के अंकूर भये
नारी विष वेलि बढ़ी नख शिख देखिये।
विष ही के जर मूर विष ही के डार पात
विष ही के फूल ■ लागै लागै जू विशेषिये॥
विष के तंतू पसारि उरझाये आंटि मारि
सब नर वृक्ष पर लपटी ही लेषिये।
सुन्दर कहत कोऊ एक तरु बचि गये
तिन कै तौ कहुँ लता लागी नहीं पेषिये॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ,
मुखं श्लेष्मागमं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धिजघन,
महो निन्द्यं रूपं कवि जनविशेषैर्गुरुकृतम्॥

अर्थात्, स्त्रियों के स्तन मांस के लोथे है उन्हें सुवर्ण कलश की उपमा दी जाती है। मुख थूक का घर है उसे चन्द्रमा के समान बताया जाता है और टपकते हुए मूत्र से भीगी हुई जांघों को श्रेष्ठ हाथी की सूंड से उपमा दी जाती है। खेद है कि स्त्रियां के ऐसे अत्यन्त निन्दनीय स्वरूप को कवियों ने कैसा बढ़ा-बढ़ा कर वर्णित किया है। नारी का यह विनाशशील, घृणास्पद शरीर जिसमें मानव इतना अधिक अनुरक्त रहता है वह वस्तुतः नर्क है। नारी के अंग प्रत्यंग में नर्क का सुन्दरदास ने जो चित्रण किया है, वह पठनीय है—

उदर मैं नरक नरक अधद्वारिन मैं
कुचन मैं नरक नरक भरी छातिन है।
कंठ मैं नरक गाल चिबुक नरक बिंब
मुख मैं नरक जीभ लार हूं चुवाती है॥
नाक मैं नरक आंषि कांन मैं नरक बहै
हाथ पाँव नख शिख नरक दिषाती है।
सुन्दर कहत नरक कौ कुंड यह
नरक मैं जाइ परै सो नरक पाती है॥

नारी के जिस सौंदर्य और स्वरूप का वर्णन कवि ने उपर्युक्त दो छन्दों में किया है उससे सर्वथा विपरीत वर्णन रीति कालीन कवियों ने किया। रीति कालीन कवियों की तो समस्त प्रतिभा कामिनी के रूप वर्णन में ही खप गई है। पूरे दो सौ वर्ष तक रीति काल के कवि नारी के नख-शिख वर्णन में ही व्यस्त रहे। उन्होंने इनके भेद उपभेदों के वर्णन में ही अपना पांडित्य समझा था। ग्रन्थों के पश्चात् ग्रन्थों की रचना हो गई फिर भी उनकी दृष्टि में वर्णन अपूर्ण ही रह गया। इन्हीं ग्रन्थों में कवि केशवदास की 'रसिक प्रिया' उल्लेखनीय है। सुन्दरदास ने इसी 'रसिक प्रिया' की आलोचना बड़े ही सुन्दर एवं व्यंग्यात्मक शैली में की है। कवि के मत से ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन काम की उत्तेजना करता है और विषय वासना में प्रवृत्त करता है। जिस प्रकार रोगी मिष्ठान्न खाकर रोग को और भी अधिक बढ़ाव देता है उसी प्रकार 'रसिक प्रिया' जैसे ग्रन्थों के अध्ययन से मानव अपनी विषय वासना को उत्तेजना देता है। इसी कारण कवि ने इस कोटि के ग्रन्थों का अध्ययन वर्जित रखा है—

रसिक प्रिया रस मंजरी और सिंगार हि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आंनि।
विषै बनाई आंनि लगत विषयति कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचंड सराहैं नख शिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्ठान षाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जुतौ रसिक प्रिया धारै॥

संत कवियों ने जहाँ एक ओर नारी के भोगमय एवं वासना पूर्णस्वरूप की निन्दा की है, उसे अविद्या माया का प्रतीक माना है वहीं दूसरी ओर उसके कल्याणकारी रूप की प्रशंसा भी की है। कवियों ने नारी के उस रूप का समर्थन किया है, जो पुरुष को सत्कार्य और धर्म की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। कामिनी के परम निन्दक कबीर ने स्वतः स्पष्ट रूप से कहा है कि 'नारी निन्दा ना करौ नारी नर की खान' कारण कि नारी से ही प्रह्लाद तथा ध्रुव, जैसे भक्त उत्पन्न हुए। कबीर ने नारी के सत् और बुद्ध रूप की बड़ी प्रशंसा की है। सती को उन्होंने बड़ा उच्च स्थान दिया है—

साधू भीख न मांगई जो माँगै सो भाँड।
सती न पीसै पीसना जो पीसै सो राँड॥

इसी प्रकार कबीर ने मैली कुचैली पतिव्रता को विश्वबंध कहा है। कबीर के समान दादू[1], चरनदास[2], सुन्दरदास[3] आदि सन्तों ने पतिव्रता नारी को वन्दनीय एवं प्रशंसनीय माना है।

अपनी समस्त भावनाओं, प्रेम, ममत्वादि को अपने पति पर केन्द्रित कर देना पातिव्रत है। सन्तों ने 'पतिव्रता' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है: प्रथम सांसारिक भाव में तथा द्वितीय आध्यात्मिक भाव में। सांसारिक क्षेत्र में जब कवि 'पतिव्रता' शब्द का प्रयोग करता है तो तात्पर्य होता है उस स्त्री से जो मनसा, वाचा, कर्मणा सर्वथा अपने पति पर अनुरक्त है। आध्यात्मिक का प्रयोग अद्वैत ब्रह्म की उपासना एवं अर्चना के लिए हुआ है। द्वैत ब्रह्म की उपासना करनेवालों को इन कवियों ने व्यभिचारी और दुराचारी कहा है। इन द्वैत के समर्थकों की सन्तों ने निन्दा भी की है। इन्हीं व्यभिचारियों के प्रति कबीर दास जी कहते हैं—

[1]संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० ६१

[2] ... ... पृ० १४६

[3]सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४७५

नारि कहावै पीव की रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ॥[1]

कबीर के समान ही इन व्यभिचारियों की निन्दा करने वाले दादू (स० बा० स० पृ० १-१६१) तथा सुन्दरदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सुन्दरदास के अनुसार वही नारी श्रेष्ठ एवं पतिव्रता है जो अपने पति की इच्छा के अनुसार आचरण करे और जो उस पति की इच्छा को अपनी इच्छा माने। पतिव्रता पति की भावनाओं और कामनाओं के अनुकूल ही आचरण करती है—

प्रभू चलावै तब चलै सोइ कहै तब सोइ।
पहरावै तब पहरियें सुन्दर पतिव्रत होइ ॥
जौ प्रभु कौ प्यारौ लगै सोई प्यारौ मोहि।
सुन्दर ऐसै समुझि करि यौ पतिबरता होहि ॥

अपने अस्तित्व को बिसार कर पति की सेवा में अपना पूर्णरूपेण समर्पण कर देने वाली नारी ही पतिव्रता है। अपने इन्हीं सद्गुणों के कारण पतिव्रता सदैव अपने पति की प्रिय रहती है और इसके प्रतिकूल व्यभिचारिणी यत्र-तत्र भटकती फिरती हैं—

अपना बल सब छाड़ि दे सेवै तन मन लाइ।
सुन्दर तब पिय रीझि करि राखै कंठ लगाइ ॥
पतिबरता पति के निकट सुंदर सदा हजूरि।
व्यभिचारणि भटकत फिरै न्याय परै मुख धूरि ॥
पतिबरता छाड़ै नहीं सुन्दर पति की सेव।
व्यभिचारिणि औगुन भरी पूजै देवी देव ॥

पतिव्रता आध्यात्मिक जगत में उच्च तथा भौतिक जगत में पूज्य है, कारण कि वह धर्मानुकूल आचरण करती है। उसमें कर्तव्य और अकर्तव्य की भावना प्रधान रहती है। सुन्दरदास के अनुसार पातिव्रत धर्म ही समस्त धर्मों का मूल है। पातिव्रत धर्म की साधना करनेवाली नारी यम नियमादिक की साधना करनेवाले से उच्च है। पातिव्रत समस्त तीर्थों से भी पवित्र कर्म और धर्म है—

पतिव्रत ही मैं शील है पतिव्रत में सन्तोष।
सुन्दर पतिव्रत राम स। वह ई कहिये मोष ॥

---

[1]स० वा० स०, भाग १, पृ० ४२ १

पतिव्रत मांहिं क्षमा दया धीरज सत्य बषांनि।
सुन्दर पतिव्रत राम सौं याही निश्चय आंनि॥
पतिव्रत ही मैं तप भयौ पतिव्रत ही मैं मौन।
सुन्दर पतिव्रत राम सौं और कष्ट कहि कौन॥
पतिव्रत ही मैं यम नियम पतिव्रत ही मैं दान।
सुन्दर पतिव्रत राम सौं तीरथ सकल सनान॥
पतिव्रत ही मैं योग है पतिव्रत ही मैं जाग।
सुंदर पतिव्रत राम सौं वहै त्याग वैराग॥
सुंदर जिन पतिव्रत कियौ तिनि कीये सब धर्म।
जबहि करै कछु और कृत तब ही लागै कर्म॥

उपर्युक्त उद्धरणों में अंतिम उद्धरण विशेष रूप से विचारणीय और महत्त्वपूर्ण है। कवि के शब्दों में 'जिन पतिव्रत कियौं तिनि कीये सब धर्म' अर्थात् अपने स्वामी में अनुरक्त होना, उसके प्रति छलरहित व्यवहार करना ही समस्त आचार, विचार, धर्म, कर्म आदि का मूल है। कवि के शब्दों में वही नारी सची पतिव्रता है जिसका—

पति ही सौं प्रेम होइ पति ही सौं नेम होइ,
पति ही सौं क्षेम होइ पति ही सौं रत है।
पति ही है यज्ञ योग पति ही है रस भोग
पति ही है जप तप पति ही कौ यह है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान पति ही है पुन्य दान
पति ही तीरथ न्हान पति ही कौ मत है।
पति बिन पति नांहि पति बिन गति नांहि
सुंदर सकल विधि एक पतिव्रत है॥

हरि, निर्गुण परब्रह्म को छोड़कर अन्य देव, देवियों, भूत, प्रेतादि की उपासना में संलग्न रहने को भी सुंदरदास ने व्यभिचार माना है। कवि के अनुसार ब्रह्म को छोड़ करके अन्य देवताओं की उपासना उसी प्रकार निस्सार है यथा अपने पति को छोड़ कर अन्य व्यक्तियों में प्रेम रखने वाली स्त्री का प्रेम। जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों में रत नारी न प्रतिष्ठा प्राप्त करती है न मान और न आध्यात्मिक जगत में उन्नति प्राप्त करती है ठीक उसी प्रकार एक ब्रह्म को त्याग कर अनेक देवताओं की उपासना में रत मनुष्य न सिद्धि प्राप्त कर पाता है न मुक्ति। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने इसी भाव को व्यक्त किया है—

जो हरि कौ तजि आन उपासत सो मति मन्द फजीहति होई।
ज्यौं अपनै भरतारहि छांड़ि भई व्यभिचारिनि कामिनी कोई॥
सुंदर ताहि न आदर मांन फिरै बिमुखी अपनी पति षोई।
बूड़ि मरै किनि कूप मँझार कहा जग जीवत है सठ सोई॥

पातिव्रत केवल मनुष्यों को ही उच्च नहीं प्रतीत होता है वरन ब्रह्म, ईश्वर को भी प्रिय है। सुंदरदास के शब्दों में ही—

सुन्दर रीझै राम जी जाकै पतिव्रत होइ।
रुलत फिरै ठिक बाहरी ठौर न प्रावै कोई॥

अधीर्य

'अधीर्य' से तात्पर्य है अधीरता, धैर्य का अभाव। धैर्य का साधना के क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। धैर्य के अभाव में चित्त की एकाग्रता एवं मनकी शांति दुर्लभ होती है। इसलिए सन्तों ने धैर्य धारण के पक्ष में निरन्तर उपदेश दिया है।

धीरज वा धैर्य का सन्तोष से निकट सम्बन्ध है। असंगत न होगा यदि कहा जाय कि दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में द्वितीय की उपस्थिति कठिन है। कबीर दास ने साधु के लिए धैर्यवान होना ,बहुत ही आवश्यक माना है (। देखिए स० वा० स० १-२७ ।)

धैर्य के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना साधना में सफलता या मुक्ति असम्भव है। अतः मुक्ति प्राप्ति के मूल में धैर्य का विशेष स्थान है। धैर्य साधना का प्रारम्भिक स्तर है।

धैर्य पर उपदेश देनेवाले सन्तों में विशेष उल्लेखनीय हैं कबीर [1], दूलनदास[2] तथा सुन्दरदास[3]। इन कवियों में सुन्दरदास ने धैर्य पर सबसे अधिक साहित्य की रचना की है। कवि ने 'सुन्दर विलास' ग्रन्थ में 'अधीर्य' पर बारह छन्दों की रचना की है और स्फुट साखी साहित्य में इस विषय पर पच्चीस साखियों की रचना हुई है। इस प्रकार से अधीर्य पर कवि ने कुल सैंतीस छन्दों की रचना की है।

'अथ अधीर्य उराहने को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत कवि ने अधीरत के लिए उलाहना उपालम्भ दिया है। अधीर हो कर अधीरता के उत्पादक कारणों को उत्पन्न कर देने के हेतु ईश्वर के प्रति उरहना इस प्रकरण में दिया गया है। इस अंग या प्रसंग के अन्तर्गत प्रधान रूप से पेट की शिकायत की गई है।

मानव की समस्त क्रियाएँ, समस्त व्यापार, समस्त व्यवहार, समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं, समस्त संघर्षों एवं विवादों का कारण है पेट। मानव इसी पेट के लिए दिन-रात अथक परिश्रम करता है और आपत्तियों का आवाहन करता है। मनुष्य वायु में उड़ता है, अग्नि से लड़ता है, जल राशि में रत्नों की खोज के लिए जीवन को संकट में डालता है, तो केवल पेट के लिए। इसी पेट के लिए मानव असम्भव को सम्भव कर देता है। मधुमास की मधुरिमा, वर्षाकालीन काले-काले मेघों में भरी हुई कविता और सौन्दर्य, शिशिर

---

[1]संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० ५१

[2]वही पृ० १३७

[3]सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४२६

की दुग्धवत स्वच्छ मनोरम चन्द्रिका हिमाच्छादित गिरि-शिखर, सागर की उत्ताल तरंगों का शशि को छू लेने के असफल प्रयास आदि में प्रकृति का जो दिव्य मोहक स्वरूप छिपा हुआ है, उसे निहारने के लिए मनुष्य के पास कब समय रहा है ? पेट के लिए वह निरंतर संघर्ष में इतना अधिक व्यस्त रहता है, प्रकृति के सौन्दर्य में उसे कोई भी आकर्षण नहीं उपलब्ध होता है। मानव दिन-रात पेट-पेट ही करता रहता है। उसे लेशमात्र भी धैर्य नहीं है। वर्तमान के लिए पर्याप्त सामग्री होते हुए भी वह भविष्य के लिए सतत चिंतित ही बना रहता है। यही उसकी अधीरता उसे भौतिकता में नियोजित रखती है। इसी अधीरता के कारण वह अकांड तांडव करता फिरता है। सत्य, प्रेम, न्याय को वह तिलांजलि देकर प्रतिकार, अन्याय और असत्य को जीवन का चरम लक्ष्य बना लेने में भी संकोच का अनुभव नहीं करता है। इस समस्त अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार का मूलकारण है असन्तोष और मानव की अधीरता।

मानव के शरीर में इन समस्त इन्द्रियों की बड़ी उपयोगिता है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है परन्तु पेट सबसे कष्टदायक और मनुष्य को विपत्तियों में डालने का साधन है। मानव की शरीरस्थ समस्त इन्द्रियाँ उसके लिए सहायक हैं पैर चलने में सहायक होते हैं, हाथ कृत्य करने में, कान श्रवण के लिए, नेत्र दर्शन के हेतु, नाक घ्राण के लिए, जिह्वा हरि-कीर्तन के हेतु है परन्तु पेट—पेट की कोई उपयोगिता नहीं है। यह निरंतर अपने सुख के हेतु मनुष्य को पाप करने को प्रेरित करता रहता है।[1] इस पेट की गति बड़ी विचित्र है। कुआँ, वापी, तडाग, नाला, खंदक, बखारी सभी किसी न किसी वस्तु से भर जाते हैं पर मनुष्य का यह पेट न आज तक भरा है और न भरेगा अथवा कहना चाहिए कि मनुष्य को अपने पेट के भरने पर न सन्तोष है और न धैर्य।[2]

---

[1] पाँव दिये चलनै फिरनै कहुँ हाथ दिये हरि कृत्य करायौ।
कान दिये सुनिये हरि कौ जस नैन दिये तिनि मार्ग दिषायौ॥
नाक दियौ मुख सोभत ता करि जीभ दई हरि को गुन गायौ।
सुन्दर साज दियौ परमेश्वर पेट दियौ परिपाप लगायौ॥
श्रवन दिये जस सुनन कौं नैन देषनें संत।
सुन्दर सोभित नासिका मुख शोभन कौं दंत॥
हांथ पाव हरि कृत्य कौं जीभ जपन कौं नाम।
सुन्दर ये तुम सौं लगे पेट दियौ किंहि काम॥

[2] (क) कूप भरै वापी भरै पूरि भरै जल ताल।
सुन्दर प्रभु पेट न भरै कौन कियौ तुम ब्याल॥

मनुष्य का पेट, पेट नहीं है वरन् चूल्हा या भट्ठी अथवा भाड़ है। इस पेट के लिए ही मनुष्य समस्त खाद्य और अखाद्य को ग्रहण करता है। भाँति-भाँति के पाप और हिंसाएँ मनुष्य इसी पेट के लिए ही करता है। दैत्य राक्षसों की भाँति ही मनुष्य धैर्य को त्याग कर खाने के पीछे बुरी भाँति पड़ा हुआ है। ईश्वर ने पेट देकर मनुष्य को बड़े संकट में डाल दिया है। खाते-खाते उसकी आयु पूर्ण हो गई पर उसका पेट और चित्त न भरा।[२] पेट की बड़ी ही विचित्र गति है। इसी पेट और अधीरता के कारण मनुष्य पराधीनता का कष्ट स्वीकार करता है और दूसरों के समक्ष अपमानित होता है। इसी पेट के कारण प्यादा कोतवाल के अधीन होता है, कोतवाल फौजदार के अधीन, फौजदार दीवान के अधीन, दीवान बादशाह के आगे दीन भाव से उपस्थित होता है। पर बादशाह को भी

नदी भरहि नाला भरहि भरहि सकल ही नाड।
सुन्दर प्रभु पेट न भरहि कौन करी यह षाड॥
षंदक षास बुषार पुनि बहुरि भरहिं घर हाट।
सुन्दर प्रभु पेट न भरहिं भरियहि कोठी माठ॥

(ख) कूप भरै अरु वाय भरै पुनि ताल भरै बरषा ऋतु तीनौं।
कोठं भरै घट माट भरै घर हाट भरै सबही भरि लीनौं॥
षदंक षास बुषार भरै परि पेट भरै न बड़ौ दर दीनौं।
सुन्दर रीतौ हि रीतौ रहै यह कौन षडा परमेश्वर कीनौं॥

[२](क) चूल्हा भाठी भार मांहि इन्धन सब जारि जाइ।
त्यौं सुन्दर प्रभु पेट यह कबहूँ नहीं अघाइ॥
बम्बई थलहि समुद्र मैं पानी सकल समात।
त्यौं सुन्दर प्रभु पेट यह रहै षात ही षात॥

(ख) किधौं पेट चूल्हा किधौं भाठी किधौं भार आहि।
जोई कछु झौकिये सु सब जरि जातु है॥
किधौं पेट थल किधौं बांबी किधौं सागर है।
जितै जल परै तितौ सकल समातु है॥
किधौं पेट, दैत्य किधौं भूत प्रेत राक्षस है।
षांव षांव करै कहूँ नेकु न अघातु है॥
सुन्दर कहत प्रभु कौन पाप लायौ पेट।
जबतैं जनम भयौ तबही कौ षातु है॥

सन्तोष तथा धैर्य नहीं वह इतने बड़े साम्राज्य पर राज्य करते हुए भी यदि ईश्वर से और याचना करता है तो केवल पेट के लिए।[1] मनुष्य पेट और अधैर्य के ही कारण यत्र-तत्र मारा-मारा फिरता है। इसी पेट के कारण वह वर्षा, घाम और शीत को सहन करता है। पेट के लिए संघर्ष में वह इतना अधिक व्यस्त है कि वह ऋतु, समय और कष्टों के प्रति लेशमात्र भी ध्यान नहीं देता है। पेट और उसकी अधीरता ही मानव को भाड़ों की भाँति नचाया करती है।[2] मानव संसार के समस्त तत्वों और जीवों पर विजय प्राप्त कर लेता है पर यदि वह हारा है या पराजित है तो बस पेट से ही। कोई शौर्य के कारण बाघ और सिंह का बध करता है, कोई पेट के लिए स्मशान में मंत्र-तंत्र की साधना और आराधना करता है। पेट सबसे अधिक शक्तिशाली है जिसने अखिल विश्व के जीवों को पराजित कर लिया है।[3] रात्रि के शांतिमय वातावरण से उठकर

---

[1]पाजी पेट काज कोतवाल कौ अधीन होत
कोतवाल सु तौ सिकदार आगे लीन होत है।
सिकदार दीवान कै पीछै लग्यौ डोलै पुनि
दीवान हू जाइ पतिसाह आगे दीन है॥
पतिसाह कहे या खुदाइ मुझे और देइ
पेट ही पसारे नहिं पेट बासि कीन है।
सुन्दर कहत प्रभु क्यौं हु नहिं भरे पेट
एक पेट काज एक एक कौ अधीन है॥

[2]पेट ही के लिये पुनि हाथ जोरि आगे ठाढौ होइ
जोइ जोइ कह्यो सोइ सोइ उनि कर्‌यौ है।
पेट ही के लिये पुनि मेघ शीत घाम सहे
पेट ही के लिए जाइ रनु मांहि मर्‌यौ है॥
सुन्दर कहत इन पेट सब भाँड किये
और गैल छूटी पर पेट गैल पर्‌यौ है।

[3]पेट सो न बली जाके आगे सब हारि चले
राव अरु रंक एक पेट जीति लिये हैं॥
कोउ बाघ मारत बिदारत हैं कुंजर कौं
ऐसै सूर बीर पेट काज प्रान दिये हैं॥
यंत्र तंत्र साधत अराधत मसान जाइ
पेट आगै ढरत निडर ऐसे हिये हैं।
देवता असुर भूत प्रेत तीनौं लोक पुनि
सुन्दर कहत प्रभु पेट जेर किये हैं॥

मानव जो पहले कार्य में व्यस्त होता है वह है पेट के लिए। इसी पेट की संतुष्टि के लिए कोई अन्न का आहार करता है, तो कोई आमिष का। कोई घास भक्षण करता है तथा कोई दाल आदि पदार्थ। कोई मुक्ता फल तो, कोई पय पान करता है। कोई खाद्य पदार्थ भक्षण करता है तो अन्य अखाद्य पदार्थों में ही तुष्टि प्राप्त करता है।[1] मनुष्य जितने भी उचित और अनुचित कार्य करता है वह समस्त पेट के लिए है। पेट को सुख देने के लिए मनुष्य औचित्य-अनौचित्य की सीमा का उल्लंघन करता है। मांस, मद्य-पान, जीव-हत्या तथा अनेक दुष्कर्मों को मनुष्य इसी पेट के लिए करता है।[2] पेट ही के कारण मनुष्य जिनके विरुद्ध आचरण करता है उन्हीं की खुशामद करता है। जिनको बाचचीत करने का भी ढंग नहीं मालूम है उन्हीं की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। ईश्वर ने मनुष्य के साथ ऐसा पाप लगा दिया है कि उसका वर्णन और उल्लेख नहीं किया जा सकता है।[3]

---

[1]प्रात ही उठत सब पेट ही की चिंता सब
सब कोऊ जात आपु आपुने अहार कौं।
कोउ अन्न षात पुनि आमिष भषत कोउ
कोऊ घास चरत चरत कोउ दार कौं॥
कोऊ मोतीफल कोऊ बासरस पयपान
कोऊ पौन पीवत भरत पेट मार कौं।
सुन्दर तुम दियौ है जगत ही भ्रमाये सब
पेट तुम दियो है जगत हौंन ष्वार कौं॥

[2]पेटहि कारण जीव हतै बहु पेटहि माँस भषै रु सुरापी।
पेट हि लै करि चोरी करावत पेट हि कौ गठरी गहि कापी॥
पेट हि पासि गरे महि डारत पेट हि डारत कूप हु बापी।
सुन्दर काहे कौं पेट दियौ प्रभु "पेट सो और नहीं कोउ पापी"॥

[3]काहे कौ काहु के आगे जाइ के अधीन होइ
दीन दीन वचन उचार मुख कहते।
जिनके तौं मद अरु गरब गुमान अति
तिनकौं कठोर बैन कबहुँ न सहते॥
तुम्हरे हि भजन सौं अधिक लै लीन अति
सकल कौं त्यागि के एकन्त जाइ गहते।
सुन्दर कहत यह तुम ही लगायौ पाप
पेट न हुतौ तौ प्रभु बैठि हम रहते॥

पेट एक विपत्ति है। जिसे देखिये, संसार में वही इस पेट की विपत्ति में फँसा है। राजा, रंक, खान, सुल्तान, योगी, जंगम, सन्यासी, वनवासी, ऋषि, मुनि, तपस्वी, सिद्ध, साधक सुजान और कितने ही अन्य जितेन्द्रिय यदि पराजित हुए हैं, तो पेट से, केवल पेट से।[1]

सुन्दरदास जी के मत से मनुष्य दिन-रात पेट की चिन्ता में ही लगा रहता है। रात्रि में खाकर सोने के पश्चात् पुनः प्रातःकाल उसी पेट की चिन्ता लग जाती है। पेट के कारण मनुष्य को भाँति-भाँति का अपमान एवं अवमानना सहन करनी पड़ती है। पेट एक बहुत ही विचित्र व्याधि है। इसका पालन-पोषण करते-करते ही जीवन व्यतीत हो जाता है—

सुन्दर प्रभु जी पेट कौ बहु विधि करहिं उपाइ।
कौन लगाई व्याधि तुम पीसत पोवत जाइ॥
सुन्दर प्रभु जी सबनि कौं पेट भरन की चिंत।
कीरी कन ढूँढ़त फिरै माखी रस लैजंत॥
सुन्दर प्रभु जी पेट बसि देवी देव अपार।
दोष लगावे और कौं चाहे एक अहार॥
सुन्दर प्रभुजी सब कह्यौ तुम आगे दुख रोइ।
पेट बिना ही पेट करि दीनी षलक विगोइ॥

'अधीर्य' प्रकरण के अन्तर्गत कवि ने पेट को केन्द्र बिन्दु माना है। पेट के कारण कष्ट, आपत्तियाँ, उनका प्रभाव, भौतिक जगत एवं आध्यात्मिक संसार में पेट के कारण असफलताएँ, पेट का व्यापक प्रभाव और तज्जनित विचित्र परिस्थितियों का चित्रण कवि ने इस प्रसंग के अन्तर्गत किया है। कवि ने एक ही विचारा-धारा को बारम्बार नवीन शैली से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करके उसमें रोचकता का समावेश कर दिया है। प्रत्येक छन्द में वही एक भाव व्यक्त हुआ है फिर भी वह अभिनव प्रतीत होता है। विषय को अधिक रुचिकर बनाने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है।

---

[1]पेट ही कै बसि रंक पेट ही कै बसि राव
पेट ही कै बसि और षान सुलतान है।
पेट ही कै बसि योगी जगम संन्यासी शेष
पेट ही कै बसि बनवासी षात पान है॥
पेट ही कै बसि ऋषि मुनि तपधारी सब
पेट ही कै बसि सिद्ध साधक सुजान है।
सुन्दर कहत नहिं काहू कौ गुमान रहे
पेट ही कै बसि प्रभु सकल जिहांन है॥

तृष्णा

तृष्णा अविद्या माया का प्रधान अंग है। कामनाएँ, आकांक्षाएँ और इच्छाएँ इसी तृष्णा के अन्तर्गत आती हैं, अथवा इन्हीं कामनाओं आदि का दूसरा नाम ही 'तृष्णा' है। तृष्णा का परित्याग ही सर्व सुखों का मूल है और इसके विपरीत तृष्णाओं को हृदय में जन्म देना ही समस्त दुःखों और कष्टों का रहस्य है।

तृष्णा बड़ी प्राचीन है। सृष्टि के प्रथम मानव के साथ में वह उत्पन्न हुई थी। सृष्टि की वृद्धि एवं विकास के साथ ही तृष्णा भी नित्य नये रूप, रंग और आकार में मानव हृदय में प्रवेश पाती गई। सृष्टि के आदिम मानव के हृदय से उत्पन्न तृष्णा का अन्त वा मृत्यु कब होगी यह दुरूह प्रश्न है। परन्तु इतना तो निश्चय है कि प्रलय में जब जीव विनष्ट हो जायगा और संसार जलमय हो जायगा तभी इस तृष्णा का अन्त होगा।

आत्मा के समान ही तृष्णा समस्त जीवों में व्याप्त है। प्राणवायु के सदृश ही वह सभी प्राणियों में विद्यमान है। सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक कोई इसके प्रभाव से वंचित रह सकेगा यह सन्देह का विषय है। ऋषि-मुनि, महर्षि, देवर्षि, साधक-तपस्वी, यती कोई भी इसके प्रभाव से नहीं बच पाये हैं। यही इसकी महती विशेषता है। प्रत्येक मानव में यह तृष्णा किसी न किसी रूप में वर्तमान रही है और रहेगी।

तृष्णा का रूप और आकार प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है। प्रत्येक शरीर में वह तद्रूप अपना स्वरूप निर्मित कर लेती है। एक ही घर में निवास करने वाले विभिन्न व्यक्तियों में तृष्णा भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रहती और नित्य नये-नये कार्य कलापों को दिखाती रहती है।

तृष्णा नित्य नवीन रूप को धारण करती हुई नित्य प्रति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। वर्तमान युग की (इस कथित) सभ्यता के साथ तृष्णा का बढ़ता जाना बड़े ही खेद एवं आश्चर्य का विषय है।

तृष्णा रूप अग्नि में समस्त संसार भस्म होता जा रहा है परन्तु तृष्णा स्वतः सुरसा के समान अपने रूप को नित्य ही विस्तार देती जा रही है। तृष्णा के प्रधान सहायक हैं आशा और आकांक्षा।

हिन्दी के प्रायः सभी सन्त कवियों ने तृष्णा की निन्दा वा आलोचना की है। कबीर के मत्यानुसार तृष्णा डाकिनी है, काल है, प्रलयाग्नि है और इसने सुर, नर, मुनि सभी को

विह्वल कर दिया है ।[1] गरीबदास ने तृष्णा को एक बड़ी गंभीर नदी माना है जिसमें समस्त संसार डूबता चला जा रहा है ।[2] इसी प्रकार मलूकदास ने आशा और तृष्णा को सब घरों में विद्यमान देखा है । कवि के अनुसार इसके दूषित प्रभाव से देव, नर, मुनि कोई न बच सका है ।[3] सन्तों में तृष्णा पर सुन्दरदास ने सब से अधिक और विस्तारपूर्वक लिखा है । कवि ने 'सुन्दर विलास' में तृष्णा पर तेरह छन्दों की रचना की है और स्फुट साखी साहित्य में इसी तृष्णा पर पच्चीस साखियों की रचना की है । इस प्रकार कवि ने कुल अड़तीस छन्दों में बड़े ही रोचक ढंग से तृष्णा, उसके सहायक, उसका प्रभाव उसकी घातक प्रवृत्ति आदि पर अपने विचार व्यक्त किए हैं ।

सुन्दरदास के अनुसार संसार प्राचीन से प्राचीनतम होता जा रहा है, तृष्णा के आगार और निवास स्थल शरीर क्षीण एवं विनष्ट होते जा रहे हैं पर तृष्णा आज तक न नष्ट हुई । वह नित्य नई की नई है संसार के लोग मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे हैं पर तृष्णा नित्य नवीन रूप धारण करती जा रही है । बाल्यावस्था के पश्चात् युवावस्था और उसके अनन्तर वृद्धावस्था का आगमन और अंत का क्रम लगा रहा पर तृष्णा अधिकाधिक सबल होती गई ।[4] मानव कण-कण करके धन-धान्य का संकलन और संचयन करता है । जीवन पर्यंत वह इसी कार्य में संलग्न रहता है । तृष्णा के कारण उसे शांति नहीं मिलती है । वह तृष्णा के इतना अधिक वशीभूत रहता है कि उसे अपने जीवन के क्षण-भंगुरता का भी ध्यान नहीं रहता है और नित्य प्रति तृष्णा की अर्चना में अपने जीवन को धन्य मानता रहता है । ज्यों-ज्यों आयु क्षीण होती जाती है त्यों-त्यों वह अर्जन में और भी अधिक व्यस्त

---

[1]संतवानी संग्रह भाग १ पृ० ५५।१

[2]संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० २०७

[3]मलूकदास की वानी

[4]नैननि की पल ही पल में क्षण आध घरी घटिका जु गई है ।
जाम गयौ जुग जाम गयौ पुनि सांझ गई अब राति भई है ॥
आजु गई अरु काल्हि गई परसौं तरसौं कछु और ठई है ।
सुन्दर ऐसै हि आयु गई तृष्णा दिन ही दिन होत नई है ।

तथा बालापन जोबन गयौ वृद्ध भये सब कोइ ।
सुन्दर जीरन ह्वै गये तृष्णा नव तन होइ ॥
पल पल छीजै देह यह घटत घटत घटि जाय ।
सुन्दर तृष्णा ना घटै दिन दिन नौतन थाइ ॥

होता जाता है।[१] मानव भौतिकता में अत्यधिक संलग्न है। अपनी क्षुधा को शांत कर लेना ही उसने अपना परम धर्म मान लिया है। क्षुधा से राजा-रंक, देव-नर, इन्द्रादि सभी पीडित हैं। कवि को संसार की इस दशा पर दुःख और संताप होता है। ज्ञान के अभाव में सभी भूख-भूख करते फिरते हैं पर सन्तोष को कोई नहीं धारण करता है।[२]

तृष्णा ने तीनों लोकों को अपनी विनाशकारी लपटों में झुलसा डाला तथा सप्त सागरों के जल का शोषण कर डाला फिर भी डायन की भाँति मानव का भक्षण करने के हेतु दांत निकाले हुए घूमती फिरती है। अगणित मनुष्यों का भक्षण कर डालने पर भी तृष्णा पिशाचिनी को सन्तोष न हुआ।[३] तृष्णा हत्यारिन है, पापिनी है। मानव की आध्यात्मिक जगत में असफलता और भौतिक जगत में अशांति का एक मात्र कारण यही तृष्णा

---

[१]कन ही कनकौं बिललात फिरै सठ जाचत है जन ही जन कौं।
तन ही तन कौं अति सोच करै नर बात रहै अन ही अन कौं॥
मन ही मन की तृष्णा न मिटी पुनि धावत है धन ही धन कौं।
छिन ही छिन सुन्दर आयु घटी कबहूँ न गयौ बन ही बन कौं॥
लाष करोरि अरब्ब षरब्बनि नील पद्म्म तहाँ लग षाटी।
जोरि हि जोरि भंडार भरै सब और रही सुजिमी तर दाटी॥
तौहु न तोहि सन्तोष भयौ सठ सुन्दर तै तृष्णा नहि काटी।
सूझत नाहिं न काल सदा सिर मारिकैं थाप मिलाइहै माटी॥

[२]भूष लिये दशहूँ दिश दौरत ताहिं तै तूं कबहूँ न अघै है।
भूष भंडार भरै नहिं कैसैहु जो धन मेरु कुबेर लौं पैहै॥
तूं अब आगै हि हाथ पसारत ताहिं तैं हाथ कछू नहिं ऐहैं।
सुन्दर क्यौं नहि तोष करै नर षाइ हि षाइ कतौइक पैहै॥
भूष नचावत रङ्कहि राजहि भूष नचाइ कै विश्व विगोई।
भूष नचावत इंद्र सुरासुर और अनेक जहाँ लग जोई॥
भूष नचावत है अध ऊरध तीनहुँ लोक गनै कहा कोई।
सुन्दर जारै तहाँ दुख ही दुख ज्ञान बिना न कहूँ सुख होई॥

[३]तीनहु लोक अहार दियौ फिरि सात समुद्र पियौ सब पानी॥
और जहाँ तहाँ ताकत डोलत काढ़त आँषि डरावत प्रानी॥
दाँत दिखावत जीभ हलावत याहि ते मैं यह डायनि जानी।
सुन्दर षात भये कितने दिन है तृष्णा अजहूँ न अघानी॥

है।[1] वह अग्नि के समान बढ़ती हुई विनाश करती जाती है।[2] मनुष्य तृष्णा की पूर्ति के लिए पराधीनता को स्वीकार कर लेता है और इसी कारण से वह दूसरों के दुसह वचनों को भी सहन कर लेता है।[3] तृष्णा के कारण ही मानव ऋतुओं के भीषण प्रकोप तथा दूसरों के क्रोधादि का सहन करता है।[4] तृष्णा की पूर्ति के लिए मानव यत्र-तत्र भटकता फिरता है। गृह छोड़ कर परदेश गमन करता है। अकाज ही पहाड़ों की परिक्रमा करता फिरता है। वह राजा और रंक सभी को भाँड़ बना कर नचाया करती है। उसी के हेतु मानव जहाजों में सागरों को मथता फिरता है फिर भी न रही शांति और न सन्तोष।[5] तृष्णा की गति प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी में है। डाइन के समान मुख फाड़े हुए वह स्वर्ग, मृत्यु लोक एवं पाताल सर्वत्र घूमती फिरती है परन्तु फिर भी उसकी इच्छा न पूर्ण हुई—

तृष्णा डोले ताकती स्वर्ग मृत्यु पाताल।
सुन्दर तीनहु लोक मैं भर्‌यौ न एकहु गाल॥

---

[1]बादि वृथा भटकै निशि वासर दूरि कियौ कबहूँ नहिं धोषा।
तू हतियारिनि पापिन कोटिनि साँच कहूँ मति मानहिं रोषा॥
तोहि मिल्यौ तबतें भयौ बंधन तूं मरि है तब ही होइ मोषा।
सुन्दर और कहा कहिये तुहि "हे तृष्णा अबतो करि तोषा"॥

[2]सुन्दर तृष्णा यों बढ़ै जैसे बाढ़ै आगि।
ज्यौं ज्यौं नाषै फूस कौं त्यौं त्यौं अधिकी जागि॥

[3]सुन्दर तृष्णा कै लिये पराँधीन ह्वै जाइ।
दुसह वचन निसि दिन सहै यौ परहाथ बिकाइ॥

[4]मेघ सहै आँधी सहै सहै बहुत तन त्रास।
सुन्दर तृष्णा के लिए करै आपनो नास॥
सुन्दर तृष्णा करत है सबको बांद गुलाम।
हुकुम कहै त्यौं ही चलै गनै शीत नहिं घाम॥

[5]तूं हि भ्रमाइ प्रदेश पठावत बूड़त जाइ समुद्र जिहाजा।
तूं हि भ्रमाइ पहार चढ़ावत बादि वृथा मरि जाइ अकाजा॥
तैं सब लोक नचाइ भली विधि भाँड़ किये सब रंक रु राजा।
सुन्दर तोहि दुखाइ कहो अब "हे तृष्णा तोहि नैकु न लाजा"।
सुन्दर तृष्णा कारनै जाइ समुद्र हि बीच।
फटै जहाज अचानक होइ अबंछी मीच॥
सुन्दर तृष्णा लैगई जहँ बन विषम पहार।
सिंह व्याघ्र मारै तहाँ कै मारै बटपार॥

तृष्णा और लोभ छुरी और खड्ग की धार के समान घातक है। इनसे दूर रहने में ही कल्याण है—

मुन्दर तृष्णा है छुरी लोभ षंग की धार।
इनतें आप बचाइये दोनों मारन हार॥

सम्पूर्ण 'तृष्णा' प्रकरण में कवि ने तृष्णा के घातक प्रभाव का वर्णन किया है। केवल इसी विचार पर केन्द्रित होकर लेखक ने उपमा तथा उदाहरणों के द्वारा विषय को स्पष्ट एवं रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। कवि ने प्रत्येक छन्द के अन्त में तृष्णा के दूषित प्रभाव को व्यक्त किया है। "तृष्णा दिन ही दिन होत नई है", "मन ही मन की तृष्णा न मिटी", "तेरी तो भूष न क्यौंहु भगेगी", "हे तृष्णा अजहूं न अघानी", "हे तृष्णा कहुँ छेहन तेरौ", "हे तृष्णा अब तो करि तोषा", "हे तृष्णा अब तू मति डोलै", "हे तृष्णा कहि कै तोहि थाक्यौ", "हे तृष्णा तोहि नैकु न लाजा" आदि वाक्यों को कवि ने प्रत्येक छन्द के अन्त में रख कर अपने विषय को और भी प्रभावशाली बना दिया है।

कवि ने तृष्णा के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है जिनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं—

डायन, पापिनी, बौरी, भांडिनी, कोढ़िनी, चूहरी, सर्पिणी, छुरी। इन शब्दों में से डायन, सर्पिणी एवं छुरी तृष्णा के घातक प्रभाव को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। शेष उसकी प्रकृति को उद्घाटित करते हैं।

———

विश्वास

साधना के क्षेत्र में श्रद्धा और भक्ति के पश्चात् 'विश्वास' की स्थिति आती है। ब्रह्म पर पूर्णरूपेण निर्भर रहना ही 'विश्वास' है। अपने समस्त कष्टों एवं आवश्यकताओं के लिए ब्रह्म पर नितांत निर्भर रहना ही 'विश्वास' है। ब्रह्म के प्रति विश्वास रखने के हेतु साधक का पूर्ण समर्पण (Complete Surrender) अत्यधिक आवश्यक है।

विश्वास तीन प्रकार का होता है मनसा, वाचा एवं कर्मणा। ब्रह्म के प्रति साधक के इन तीनों प्रकार का विश्वास अत्यधिक अनिवार्य है। जब साधक मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्म में विश्वास और निर्भरता (Reliance) रखेगा तभी चित्त में एकाग्रता, मन में दृढ़ता एवं भक्ति को बल प्राप्त होगा।

विश्वास का सबसे महान शत्रु है संशय। विश्वास एवं संशय दो तलवारों के समान है जिनका साधक के हृदयरूपी एक ही म्यान में रखा जाना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। हृदय से संशय के बहिर्गत होने पर ही विश्वास को बल और प्रेरणा प्राप्त होती है। संशय के रहते हुए साधक के हृदय में विश्वास स्थान नहीं पाता है।

भरोसा एवं निर्भरता विश्वास के सहायक अंग हैं। इन दोनों में से एक का भी अभाव विश्वास-स्थापना में बाधक प्रतीत होता है। विश्वास हृदय की वस्तु है और इसका सम्बन्ध भाव-जगत से अत्यधिक निकट है। श्रद्धा एवं भक्ति के हृदय में विकसित होने पर ही विश्वास के लिए स्थान होता है। अतएव साधना के क्षेत्र में विश्वास का बड़ा महत्त्व है अथवा यह कहना असंगत न होगा कि विश्वास ही साधना के महान् एवं सुदृढ़ भवन के निर्माण में आधारशिला है। इसी की नींव पर साधक अपनी साधना का भव्य-भवन निर्मित करता है।

विश्वास पर हिन्दी के संत कवियों ने अपने-अपने विचारों को साखियां में व्यक्त किया है। इन कवियों में विशेष उल्लेखनीय हैं कबीर[१], दरियासाहब (बिहार वाले),[२] गरीबदास[३], पलटूदास[४], मूलकदास[५], एवं सुन्दरदास[६]। इन संत कवियों में पलटूदास तथा

---

[१] संतवानी संग्रह, भाग, १ पृ० २१

[२] ... ... पृ० १२२

[३] ... ... पृ० १६१

[४] ... ... पृ० २१६

[५] मलूकदास की बानी

[६] सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २

सुन्दरदास ने विश्वास का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया है। सगुण कवियों ने भी विश्वास पर सुन्दर छन्द लिखे हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की "एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास" उक्ति कितनी अधिक प्रचलित है इसका अनुमान लगाना सरल कार्य नहीं है। सुन्दरदास जी ने 'सुन्दर बिलास' ग्रन्थ में 'विश्वास को अंग' शीर्षक के अन्तर्गत चौदह छन्दों की रचना की है और स्फुट साखी साहित्य में विश्वास पर पचीस साखियों की रचना हुई है। इस प्रकार कवि ने कुल उन्तालीस छन्दों में विश्वास का विवेचन किया है। इन समस्त छन्दों में कवि ने केवल इस विचार को पुष्ट किया है कि संसार में मानव औचित्य एवं अनौचित्य का भेद छोड़ कर. स्वार्थपूर्ति के लिए अनवरत संघर्ष करता जा रहा है। उसे किसी पर भी भरोसा नहीं है इसीलिए वह अपने भविष्य के लिए इतना चिन्तित और कर्मठ बना रहता है। इन सभी संघर्षों और अविश्वासों को यदि वह तिलांजलि देकर एक ब्रह्म पर ही पूर्णरूपेण विश्वास एवं भरोसा रखे तो वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों जगत में सफलीभूत हो। इसी विचार को केन्द्र मान कर लेखक ने भाँति-भाँति की अनेक उपमाओं और रूपकों के द्वारा विषय को स्पष्ट एवं प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है।

प्रकृति अपने नित्य नवीन मोहक रूप को जगत के समक्ष प्रस्तुत करती है। वृक्ष अपने हरे-हरे कोपलों से मानव को सरलता का पाठ सिखा देना चाहता है। पक्षियाँ अपने कर्णप्रिय कलरव के द्वारा मानव को विश्व मैत्री का रहस्य बताना चाहती हैं, शीतल चन्द्रिका मानव में कोमल भावनाओं को भर देना चाहती है, शीतल मंद, सुगंधित, वायु थके हुए जगत में नवजीवन, नवशक्ति, नवस्फूर्ति का संचालन कर देना चाहती है, बाल रवि की प्रथम किरणें उसे कर्तव्य के प्रति जाग्रत करना चाहती हैं, परन्तु मनुष्य उनके प्रति कब ध्यान देता है। वह तो नित्यप्रति संघर्ष में रत रहने में ही जीवन की सार्थकता समझता है। बस अविश्वास की आँधियाँ उड़ाता हुआ, प्रतिहिंसा तथा प्रतिकार की बिजलियाँ कौंधाता हुआ विनाश की दौड़ में तीव्र गति से आगे निकल जाना चाहता है। वह चिन्ताओं को अपने हृदय में पालता जाता है। एक क्षण के लिए भी वह अनादि शक्ति पर भरोसा नहीं करता वरन् स्वतः नियामक, रचयिता एवं विधायक बन जाना चाहता है। सुन्दरदास ने 'विश्वास' प्रकरण में मानव की इसी मनोवृति की तीव्र आलोचना की है।

सुन्दरदास जी के मत से मानव को निश्चित होकर ब्रह्म पर विश्वास स्थापित कर लेना चाहिए कारण कि जिस ब्रह्म ने मुख दिया है वही पालन पोषण की चिन्ता भी करेगा। इन अकांड तांडवों से कोई लाभ नहीं है, कारण कि जिस ब्रह्म ने पेट दिया है वह पेट को भरने के लिए पदार्थ भी प्रदान करेगा। मनुष्य भूख-भूख करता रहता है पर भूख

को वही मिटाने वाला है जो भूख को बढ़ाता है।[1] मानव ने पशुओं की सी मनोवृत्ति को अंगीकार कर लिया है। जिस प्रकार तृषार्त पशु जल के पास पहुँचने के लिए बंधन को तोड़ डालने के हेतु अधीरता से यत्न करता है, उसी प्रकार मन्दमति मानव सभी प्रकार से धैर्य को त्याग कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दशों दिशाओं में भ्रमता फिरता है।[2] मनुष्य को यह विश्वास रखना चाहिए कि जिस दिव्य शक्ति ने मानव को पेट एवं क्षुधा प्रदान की है वही उसको पूर्ण करने वाला भी है वह दयालु है और उसी की सहायता से जीवन के सभी ताप दूर होंगे।[3] अतएव उस पर ही अपनी चिन्ताओं का समस्त बोझ रख कर मानव को जिस प्रभु ने मानव की रक्षा माता के गर्भ में किया क्या वही मनुष्य को निराहार रखेगा? मनुष्य में विश्वास का अभाव है पर उस ईश्वर में ममता का अभाव नहीं है।[4] अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ ही के लिए यत्र-तत्र मारा-मारा फिरता

---

[1]होहि निचिंत करै मत चिंत हि चंच दई सोई चिंत करैगौ।
पाव पसारि पर्यौ किन सोवत पेट दियौ सोइ पेट भरैगौ॥
जीव जिते जलके थलके पुनि पाहन मैं पहुचाइ धरैगौ।
भूषहि भूष पुकारत है नर सुन्दर तूं कहा भूष मरैगौ॥

[2]नैकु न धीरज धारत है नर आतुर होई दशौ दिश धावै।
ज्यौं पशु बैंचि तुडावत बंधन जौ लग नीर न आवहि आवै॥
जानत नाहि महामति मूरष जा घरि द्वार धनी पहुँचावै।
सुन्दर आपु कियौ घढि भाजन सो भरिहै मति सोच उपावै॥

[3]भाजन आपु घढ्यौ जिनि तौ भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत है तिनकै गुन कौ ढरिहैं ढरिहैं ढरिहै ढरिहैं जू॥
सुन्दर दास सहाइ सही करिहै, हरिहै करिहै करिहै जू।
आदि हुँ अंत सुमध्य सदा हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू॥

[4]सुन्दर जिनि प्रभु गर्भ मैं बहुत करी प्रतिपाल।
सो पुनि अजहूँ करत है तूं सो धै धनमाल॥
गर्भ थके प्रतिपाल करी जिन होइ रह्यौ तब तूं जड मूकौ।
सुन्दर क्यौं बिललात फिरै अब राषि हृदै बिसवास प्रभू कौ॥
जादिन ते गर्भवास तज्यौ नर आइ अहार लियौ तब ही कौ।
षातहि षात भये इतने दिन जानत नांहि न भूंख कही कौ॥
दौरत धावत पेट दिखावत तू सठ कीट सदा अंन ही कौ।
सुन्दर क्यों बिसवास न राखत सो प्रभु विश्व भरै कबही कौ॥

है। उसे नहीं ज्ञात है कि जो कुछ उसका भाग है वह स्वतः उसके पास पहुँच जायगा। मानव चाहे पराक्रम करता हुआ पर्वत के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाय और चाहे तो मरुस्थल में फिरता रहे पर उसे प्राप्त उतना ही होगा जो कुछ उसका भाग है। वह अन्य का भाग कदापि नहीं छीन सकता है। इसीलिए यह सब सोचकर उसे अपने भाग पर ही सन्तोष करना चाहिए। उसका वह भाग निश्चय ही बिना प्रयास के उसके पास पहुँच जायगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[1] मनुष्य व्यर्थ ही इस अल्प जीवन के लिए भाँति-भाँति के उद्यम करता है और बड़े-बड़े भवनों का निर्माण करता है। यह सम्पत्ति, माल, ऐश्वर्य कुछ भी तो उसके साथ नहीं जायगा। उसे सन्तोष और तृप्ति का पाठ सीखना चाहिए और अपनी चादर के अनुसार ही पैर पसारना चाहिए।[2]

मनुष्य में धैर्य बिलकुल नहीं है। दिन समाप्त नहीं होता है कि आगामी कल (भविष्य) की चिन्ता उसे घेर लेती है। प्रातः होते ही वह भूख-भूख करने लगता है। विश्व का पालन-पोषण करनेवाले ब्रह्म विश्वम्भर पर उसे लेशमात्र भी विश्वास नहीं है। इसी कारण एक विश्वास के अभाव में वह अनेक कष्टों को सहन करता फिरता है।[3]

---

[1]काहे कौं बघूरा भयौ फिरत अज्ञानी नर
तेरै तौ रिजक तेरै घर बैठे आइ है।
भावै तूं सुमेर जाहि भावै जाहि मारू देश
जितनौक भाग लिष्यौ तितनौंई पाइ है॥
कूप मांझ भरि भावै सागर कै तीर भीर
जितनौक भांड नीर तितनौ समाइ है।
ताही तै संतोष करि सुन्दर विश्वास धरि
जिन तौ रच्यो है घर सोई अभराई है॥

[2]काहे कौ करत नर उद्यम अनेक भाँति
जीवनौ है थोरौ तातै कल्पना निवारिये।
साढ़े तीन हाथ देह छिनक मैं छूटि जाय
ताके लिये ऊंचे ऊँचे मन्दिर सँवारिये॥
माल हूं मुलक भये तृपति न क्यौं ही होइ
आगै ही कौं प्रसरत इन्द्री क्यौं न मारिये।
सुन्दर कहत तोहि बावरे समझि देषि
जितनीक सोरि पाँव तितने पसारिये॥

[3]तेरै तो अधीरज तूं आगिली ही चिंत करै
आजु तौ भर्यौ है पेट काल्हि कैसी होइ है।

वह बिश्वम्भर जगन्नियन्ता परमात्मा सबकी आवश्यकतानुसार देता है। कीट, पतंग, अजगर, मच्छली, कच्छपों के न तो खेत है न सम्पत्ति फिर भी उनका पेट वही ब्रह्म विश्वम्भर भरता ही है। पेट के कारण मानव दिन-रात भ्रमता फिरता है, यही भ्रम और अविश्वास उसके प्रधान शत्रु हैं।

देषिधौं सकल विश्व भरत भरनहार
चूँच के समान चूँनि सबही कौं देत है।
कीट पशु पंछि अजगर मच्छ कच्छ पुनि
उनके न सौदा कोऊ न तौ कछु पेत है।
पेट ही के काज रात दिवस भ्रमत सठ
मैं तौ जान्यौ नीके करि तूं तौ कोऊ प्रेत है।
मनुष्य शरीर पाइ करत है हाइ हाइ
सुन्दर कहत नर तेरे सिर रेत है॥

२. सुन्दर प्रभु जी निकट हैं पल पल पोषैं प्रान।
ताकौं सठ जानत नहीं उद्यम ठानैं आंन॥
सुन्दर पशु पंछी जितै चूँन सबनि कौं देत।
उनकौं सौदा कौन सो कहौ कौन से षेत॥
सुन्दर अजगर परि रहै उद्यम करै न कोइ।
ताकौ प्रभुजी देत हैं तूँ क्यौं आतुर होइ॥
सुन्दर मच्छ समुद्र मैं सौ जोजन विसतार।
ताहू कौ भूलै नहीं प्रभु पहुँचावन हार॥

सुन्दरदास के इस विचार से साम्य रखनेवाले दो कवियों की उक्तियाँ हमारे समक्ष हैं। मलूकदास ने विश्वास के इस भाव का प्रचार करने के लिए कहा है।

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यौं कहैं कि सबके दाता राम॥

भूषौ ही पुकारै अरु दिन उठि- षातो जाइ
अति ही अज्ञानी जाकी मति गई षोइ है॥
ताकौं नहि जानै शठ जाकौ नाम विश्वम्भर
जहाँ तहाँ प्रकट सबनि देत सोइ है।
सुन्दर कहत तोहि वाकौ तौ भरोसौ नांहि
एक बिसवास बिन याही भाँति रोइ है॥

श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप के उपासक महाकवि सूरदास ने भी सुन्दरदास एवं मलूकदास से साम्य रखनेवाले विश्वास विषयक निम्नलिखित विचार को प्रस्तुत पद में व्यक्त किया है।

अवगति गति जानी न परै।
मन बच कर्म अगाध अगोचर किहि बिधि बुधि सँचरै॥
अति प्रचंड पौरुष बल पाये केहरि भूख मरै।
अनायास बिनु उद्यम् कीन्है अजगर उदर भरै॥
रीतैं भरै भरै पुनि ढारै चाहे फेरि भरै॥
कबहुँक तृन बूड़ै, पानी मैं कबहुँक सिला तरै॥

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म में विश्वास स्थापना का जो उपदेश सुन्दरदास और मलूकदास ने दिया है वही भावना सगुणवादी कवियों में भी लहरे ले रही है। इस विषय पर दोनों कोटि के कवियों में कोई भी सैद्धान्तिक भेद नहीं है। सुन्दरदास तो और भी एक पग आगे जाकर कहते हैं कि "हे संघर्ष में रत मानव एक बार परीक्षा लेकर तो देख। तू एकांत में मुख बन्द कर बैठ रह पर वहाँ भी विश्वम्भर तेरे लिए तेरा भाग पहुँचा देगा।"

सुन्दर जो मुख मूँदि कै बैठि रहै एकंत।
आनि षवावै राम जी पकरि उघारै दंत॥
सुन्दर सिरजनहार कौं क्यौं न गहै बिस्वास।
जीव जंत पोषै सकल कोउ न रहत निरास॥

वह ब्रह्म सबकी आशाओं को पूरा करनेवाला है उस पर विश्वास रख।

सुन्दर चिन्ता मति करै पाँव पसारे सोइ।
पेट कियौ है जिनि प्रभू ताकौ चिन्ता होइ॥
जलचर थलचर ब्योमचर सबकौं देत अहार।
सुँदर चिंता जिनि करै निसि दिन बारम्बार॥
सुन्दर धीरज धारि तूँ गहि प्रभु कौ विश्वास।
रिजक बनायौं राम जी आवैं तेरे पास॥
सुन्दर तेरे पेट की चिन्ता तोकौं कौन।
विस्वभरन भगवंत है पकरि बैठि तू मौन॥

'विश्वास' प्रकरण के अन्तर्गत कवि ने बारम्बार कहा है कि 'सुन्दर प्रभु ज़ी निकट है पल-पल पोषै प्रान', 'सुन्दर जो मुख मूँदि कै बैठि रहै एकंत'। 'आनि खवावे राम जी पकरि उघारे दंत', 'सुन्दर अजिगर परि रहै उद्यम करै न कोइ', 'सुन्दर जाकी सृष्टि यह ताके टोटा कौन', 'सुन्दर जाकौ जो रच्यो सोई पहुँचे आइ चंच सवारी जिनि प्रभू चून देइगो आनि',

'यौं जानै नहिं बावरौ पहुँचावै प्रभु सोइ' 'सुन्दर तेरे पेट की तोकौं चिन्ता कौन', 'बिस्वभरन भगवंत है पकरि बैठि तू मौन', 'सुन्दर चिन्ता मति करै पाँव पसारे सोई', 'जलचर थलचर व्योमचर सबकौं देत अहार' 'काहे कौ परिश्रम करै ज़िनि भटकै चहुँ ओर'। इन समस्त उद्धरणों में कवि ने एक ही बात पर जोर दिया है कि मनुष्य को चिन्ता छोड़कर ईश्वर पर निर्भर रहना चाहिए। इस प्रकार के उद्धरणों को देखकर सन्देह होने लगता है कि क्या कवि ने आलस्य का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। बहुत से आलोचकों का यही अभिमत है। परन्तु तथ्य इस सामान्य धारणा से विरुद्ध है। इन पंक्तियों में कवि ने पूर्ण विश्वास स्थापित करने का उपदेश दिया है। सन्देह और भ्रम को त्याग कर ब्रह्म पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने के हेतु ही कवि ने इस विचार को बारम्बार दोहराया है।

———

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी पुस्तकें

१. कबीर (प्रथम संस्करण)	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२. कबीर का रहस्यवाद (चतुर्थ संस्करण)	डा० राम कुमार वर्मा
३. कबीर ग्रन्थावली	डा० श्यामसुन्दर दास
४. कबीर वचनावली	अयोध्या सिंह उपाध्याय
५. कबीर साहिब की शब्दावली भाग १-४	बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
६. गरुण पुराण	
७. गरीबदास जी की बानी	बेलवेडियर प्रेस
८. गुलाल साहब की बानी	” ”
९. गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता	गोस्वामी हरि राय जी
१०. गोरख बानी	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
११. चरनदास की बानी, भाग १, २	बेलवेडियर प्रेस
१२. चिन्तामणि	रामचन्द्र शुक्ल
१३. जायसी ग्रन्थावली	” ”
१४. तुलसी ग्रन्थावली, १, ३	” ”
१५. तुलसीदास	डा० श्याम सुन्दरदास तथा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
१६. तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त
१७. तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग १	बेलवेडियर प्रेस
१८. दयाबाई की बानी	” ”
१९. दादू दयाल की वानी, भाग १, २	” ”
२०. दरिया साहिब (बिहार) का दरिया सागर	” ”
२१. दरिया साहिब मारवाड़ की बानी	” ”
२२. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ संकलन	
२३. दूलनदास जी की बानी	बेलवेडियर प्रेस
२४. धरनीदास की बानी	” ”

२५. नवरस	गुलाब राय एम० ए०
२६. पलटू साहिब, भाग १, ३	बेलवेडियर प्रेस
२७. पाहुण दोह	सम्पादित प्रो० हीरालाल जी
२८. बुल्ला साहिब का शब्द सागर	बेलवेडियर प्रेस
२९. भक्तमाल	नाभादास
३०. भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास	शिव शंकर मिश्र.
३१. भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय
३२. भीखा साहिब की बानी	बेलवेडियर प्रेस
३३. भूषण ग्रन्थावली	साहित्य सम्मेलन
३४. मलूकदास जी की बानी	बेलवेडियर प्रेस
३५. महात्माओं की बानी	प्रकाशक बाबा राम बरन दास
३६. मीराबाई की शब्दावली	बेलवेडियर प्रेस
३७. मुगल राज्य का क्षय और उसके कारण	प्रो० इन्द्र वाचस्पति
३८. मूलगोसाईं चरित	वेणी माधव दास
३९. यारी साहिब की रत्नावली	बेलवेडियर प्रेस
४०. वाङ्मय विमर्श	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४१. संत कबीर	डा० रामकुमार वर्मा
४२, संतबानी संग्रह भाग १	बेलवेडियर प्रेस
४३. संतबानी संग्रह भाग २	” ”
४४. संत साहित्य	भुवनेश्वर प्रसाद 'माधव'
४५. सहजोबाई का सहज प्रकाश	बेलवेडियर प्रेस
४६. हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

संस्कृत पुस्तकें

१. घेरंड संहिता	अनुवादक, श्रीशचन्द्र वसु
२. भक्ति सूत्र	नारद
३. नारद भक्ति सूत्र	
४. मनुस्मृति	
५. माठर श्रुति	
६. योग दर्शन	पातंजलि
७. शिव संहिता	अनुवादक, श्रीशचन्द्र वसु
८. शुक्ल यजुर्वेद	

९. हठयोग प्रदीपिका
१०. ऋग्वेद
११. अथर्ववेद

बंगला पुस्तकें

१. दादू — क्षिति मोहन सेन
२. शिल्प, साहित्य और समाज — विनय घोष

उर्दू पुस्तकें

१. अकबर नामा — अबुल फ़ज़ल
२. तज़किरात-उल-मुल्क — रफीउद्दीन शीराज़ी
३. तुज़ुक-ए जहाँगीरी — जहाँगीर
४. मुन्तखिब-उल-तवारीख़ बदायूनी — बदायूनी
५. मुन्तखिब-उल-लुबाब — ख़ाफ़ी खाँ

पत्र-पत्रिकाएँ

१. कल्याण
२. नया साहित्य
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
४. प्रभा
५. प्रताप साप्ताहिक
६. भारत साप्ताहिक
७. माधुरी
८. मानस मणि
९. विशाल भारत
१०. विश्व भारती
११. विश्वमित्र मासिक
१२. विश्व वाणी
१३. वीणा
१४. सन्त जयपुर
१५. सन्देश आगरा
१६. सम्मेलन पत्रिका
१७. समाज
१८. सरस्वती
१९. साहित्य सन्देश
२०. सुधा
२१. हंस

विशेषांक

१. कल्याण सन्तांक, योगांक आदि
२. प्रताप साम्प्रदायिक सद्भावनांक, अप्रैल, सन् १९४७
३. सन्देश साम्प्रदायिक एकता अंक, १९४७
४. सन्मार्ग सद्भावना विशेषांक, फरवरी, सन् १९४७
५. वर्तमान रजत जयंती विशेषांक, अक्तूबर, सन् १९४७

अंग्रेजी पुस्तकें

1. Akbar—The Great Moughal — A. V. Smith
2. Akbar and the Jesuits : Jarric — Translated by Payne
3. Aurangzeb and his Times — Zahiruddin Faruqi
4. The Commercial Policy of Moughal Emperors — Dr. D. Pant
5. Conversion and Reconversion to Hinduism during the Muslim Rule — Sri Ram Sharma
6. Cosmic Consciousness
7. Encyclopedia of Religion and Ethics Vol. VIII — Ed. James Hastings
8. The Essays and Lectures chiefly on the Religion of the Hindus — H. H. Wilson, collected and edited by Reinhold Rost
9. The fall of Moughal Empire — Sidney J. Owan
10. Hindu Mysticism — S. M. Das Gupta
11. Hindu Mysticism of Upnishad — Mahendra Nath Sircar
12. History of Aurangzeb, Vol. I-V — Sir Jadunath Sarkar
13. History of Shahjahan — Dr. Banarsi Prased
14. India at the death of Akbar — W. H. Moreland
15. Jahangir
16. Jahangir's India Translated by — W. H. Moreland
17. Kabir and the Kabir Panth — Westcot
18. Literature and the people — Ralph Fox
19. Medieval Mysticism — K. M. Sen
20. Mysticism in East and West — Otto

21. Mysticism of Time in Rigveda	Mohan Singh
22. Mysticism	Briton
23. Mysticism	Evelyn Underhill
24. Nirgun School of Hindi Poetry	Dr. Pitambar Dutt Barthwal
25. An Outline of Religious Literature in India	Farquhar
26. The Oxford History of India	V. A. Smith
27. Proceedings of Indian Historical Commission	
28. The Religious Policy of Moughal Emperors	Sri Ram Sharma
29. The Report of Search for Hindi Manuscripts (Nagri Pracharani Sabha–1904–1919)	
30. A Short History of Muslim Rule in India	Dr. Ishwari Prasad
31. Tribes and Castes, Vol. III.	W. Crookes, B. A. Bengal Civil Service
32. Vaishnavism, Saivaism and Minor Religious Systems of India	Bhandarkar
33. The Verses from Veda	K. Jnani

अंग्रेजी पत्रिकायें

1. Modern Review
2. Indian Review
3. Hindustan Review
4. The Sufi
5. Indian Thought
6. Vedic Magazine

अप्रकाशित ग्रन्थों की सूची

१. ज्ञान बोध	मलूकदास
२. परिच्चयी	मथुरादास
३. शब्द संग्रह	मलूकदास
४. पारसीक प्रकाश	श्रीकृष्णदास
५. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट	

नामानुक्रमणिका

पुस्तक नामानुक्रमणिका

योग शब्दावली अनुक्रमणिका